अर्हम्

लेखक

खामग्राम—निवासी

श्रीमान्-यतिवर्य-श्रीबालचन्द्रजी महाराज

॥ जगत्कर्तृत्व-मीमांसा ॥

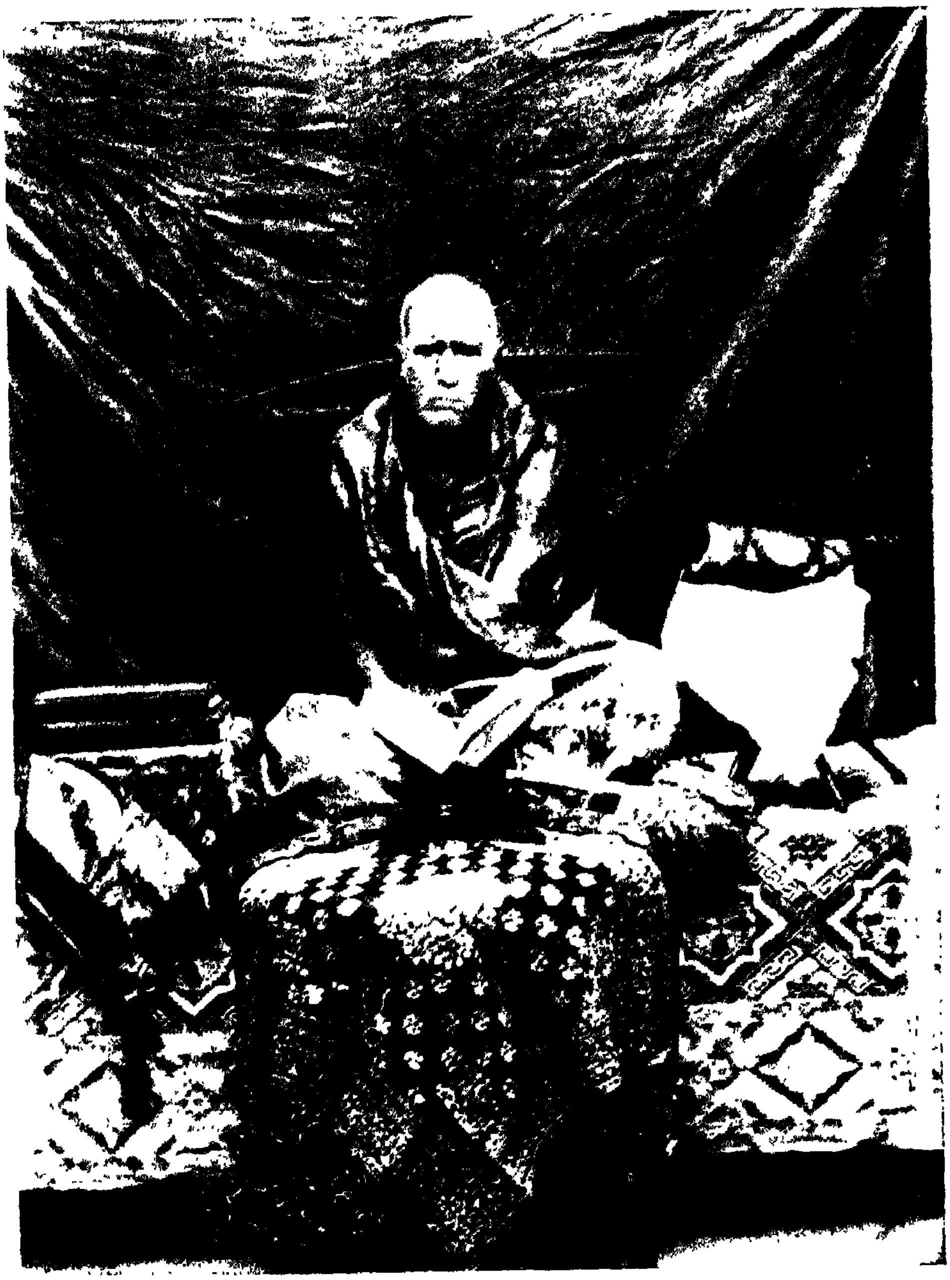
प्रकाशक

वडनगर-निवासी

श्रावक मूलचन्द, वाडीलाल आकोला (वराड)

Printed by Gauri Shanker Lal at Chandraprabha Press, Benares.
Published by Shrawak Moolchand, Wadi Lal of Akola.

वीर सं. २४३५] मूल्य आठ आना [प्रथम वार १०००



साक्षरवर्य
श्रीमान् केवलचंद्रजी गणि-महाराज.
(सुराणा-पेमराजजी वर्धावालेकी तर्फसें भेट.)

चित्रशाळा प्रेस, पुणें.

पूज्यवर्य गणिजी श्रीमान् केवलचन्द्रजी महाराज का संक्षिप्त

जीवन चरित्र।

परोपकारी, उदार चरित महान् पुरुषोंकी जीवनी पढ़ने से मनुष्य को जैसा मनुष्य कर्त्तव्यका ज्ञान प्राप्त होता है, वैसा ज्ञान अन्य किसी भी साधन द्वारा नहीं होसकता। जैसा जैसा मनुष्य उत्तम पुरुषोंके चरित्र पढ़ते चला जाता है तैसा तैसा उसके मनमें उच्च श्रेणी के विचार बंधते चले जाते हैं। और अन्त में ऐसी कर्तृत्व शक्ति प्राप्त होजाता है कि जिसकी प्रशंसा सुज्ञ लोक किये विना नहीं रह सकते। जीवनी लिखने का शौक भारत में हजार पंधरासौ वर्षों के प्रथम बहुतथा ऐसा प्रबंध चिंतामणि आदि ऐतिहासिक ग्रंथों पर से मालूम होता है किन्तु जबसे मुगलों की राज्य सत्ता भारत में हुई तबसे इस बात का शौक नष्ट प्रायसा होगया. भारतके प्राचीन इतिहासमें जो जो त्रुटियां विदित होरही हैं इसका कारण भी मुगलोंकी राज्य सत्ता ही को मानना चाहिये। जबसे पाश्चिमात्य शिक्षाका प्रभाव भारत में पड़ा तबसे यह शौक फिर बढ़ने लगा। प्रस्तुत यहां तक बढ़ा हुआ है कि अनेक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक वर्तमान पत्रों द्वारा और पुस्तकों द्वारा अनेक सज्जनोंके जीवन चरित्र प्रकाशित होते चले जारहे हैं यह पाश्चिमात्य लोगोंके सहवास का ही फल मानना चाहिये।

आज मैं मेरे परमोपकारी पूज्यपाद गुरुवर्य श्रीमन्महाराज श्री-केवलचन्द्रजी गणिजीका संक्षिप्त में ही जीवन चरित्र लिखनेका विचार किया है, इस लिये यहां पर केवल आवश्यकीय बातों का ही उल्लेख किया जायगा. यदि समय मिला तो दूसरी बार विस्तार पूर्वक लिखने की चेष्टा करूंगा.

गणिश्री केवलचन्द्रजी महाराज का जन्म विक्रम संवत् १८८५ के भाद्र पद कृष्ण १० दशमी गुरुवार के रोज शहर ग्वालियर में गौड वंशीय ब्राह्मण कुल में हुआ. आपकी मातु श्री का नाम सुशीला और

पिताजी का नाम शिवानंदजी था। गणिजी के पिता ग्वालियर में श्रीमान मेघराजजी सुराणे के यहां नोकरी करते थे। हमारे चरित्र नायक जब नव वर्ष उमर के हुवे उस समय श्वेतांबर जैनाचार्य श्रीमद् ताराचंन्द्र सूरिजी महाराज यतिगणके साथ अनेक देशोंमें विचरते हुवे सं० १८९३ में ग्वालियर पधारे उस समय वहांके श्रावकोंने नगर प्रवेशका बड़ा भारी उत्सव किया था, उनके व्याख्यान हमेशा होते थे. एक दिन मेघराजजी सुराणेने आचार्यजी से बीनती की, कि मेरे घरको आपकी पधारामणी करने की मेरी इच्छा है सो आप अवश्य पधार कर मेरा घर पावन कीजिये। श्री जी ने यह बात स्वीकार कर दूसरे ही दिन सुराणेजी के घरको पधारे. सुराणेजी ने आचार्य श्री जी की नव अंग की केसरादिसे पूजन की और कई प्रकार से भक्ति की, उस समय हमारे चरित्र नायक श्री जी के समीप जाकर बैठगये. आप के माता पिता प्रभृतिने इनको वहां से उठाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु आचार्य श्री से दूर होना आपने बिलकुल नहीं स्वीकार किया. यह आश्चर्य जनक दृश्य देखकर आपके माता पिताने और मेघराजजी सुराणे ने आचार्यजी से यह बीनती की कि, इस बालककी भक्ति प्रीति आप पर अधिक मालूम होरही है इससे हम लोगों का अन्त:करण यही कह रहा है कि इस बालकको आपकी सेवा में अर्पण कर देना इस पर सेश्री जी ने उत्तम जीव समझ कर हमारे चरित्र नायकको अपने साथ उपाश्रयको ले आये.*

वि० सं० १९०३ में आचार्यजी के समीपसे आपने दीक्षा ग्रहण की. दीक्षा का नाम आजार्यजी ने आपका 'केवलचन्द्र' मुनि रक्खा.

---

* **नोट**—इन दिनोंमें खरतर गच्छीय श्रीपूज्याचार्य श्री जिन सौभाग्य सूरिजी ग्वालियरको पधारे हुवे थे दोनोंही आचार्य सहर्ष परस्पर मिले और आनंदपूर्वक दार्शनीक विषय पर परामर्श किया गया. बहुधा खरतर और तपगच्छके श्रीपूज्य "हमबड़े" इस अभिमानके वश अन्य गच्छीय आचार्योंसे रुबरुमें नहि मिलाप किया करते थे किन्तु यह बात श्री सौभाग्यसूरीजीमें नहीं थी. वह इस बातको खूब जानते थे कि एक पद धारी आचार्योंके साथ नफरत करना सर्वथा अनुचित है और एक मेकका परस्पर गौरव करना यह शिष्टाचार का परिपालन है. प्रस्तुतके आचार्य और यति अभिमान और कुआचरणके वश जो पुरानी प्रतिष्ठा खो बैठे हैं उनको उचित है कि, आचार्य द्वयका अनुकरण करें, यदि अभी भी इस ओर लक्ष नही दिया जायगा तो रही सही प्रतिष्ठा भी गमा बैठेंगे. आचार्य और यतियोंको उचित है कि ३६ और २७ गुणोंकी तर्फ ध्यान दें।

इस समय आपकी कोई अठारह वर्षकी वय थी, किन्तु इतनी छोटी वय में भी आपने जैनदर्शनके मुख्य २ सिद्धांतोंका उत्तम प्रकारसे ज्ञान संपादन कर लिया था. इसके सिवाय व्याकरण, काव्य, कोश, न्याय आदि शास्त्रोंका अध्ययन करते थे. ज्योतिष. वैद्यक, छन्द शास्त्र शास्त्रीजीके समीपसे देखा करते थे. आचार्य श्रीजीके साथ ग्रामानुग्राम विचरने में यद्यपि शास्त्राध्ययनमें क्षति पहुंचती थी तथापि शास्त्री साथ में रहनेसे विशेष हानी पहुचनेका संभव नहीं था. आचार्यजीने कोई ग्यारा वर्ष पर्यन्त आपको विद्याध्ययन करवाया और तदनंतर प्रधानपदपर नियतकर दिये गये. आचार्यजी का विचार आप को बहुत कुछ अभ्यास करवाने का था परन्तु गच्छका भार चलानेको सुयोग्य प्रधान हाथ नीचे न होनेके कारण यह कार्य आपके सुपरत करना पडा. और जहांतक आचार्य श्री विद्यमान रहे तहांतक प्रधानपद पर आपही रहे । वि. सं. १९१५ माघ शुक्ल अष्टमीके रोज आचार्यजीका देहान्त पोहोकरण ग्राममें हुआ उस समय आचार्यजी महाराजके चारों शिष्य (१ सूर्यमलजी. २ मुलतानचन्द्रजी. ३ केवलचन्द्रजी. और ४ कर्पूरचन्द्रजी.) समीप थे. सूर्यमलजी महाराज भोले भाले और बडेही सरल मनके थे व आचार्यजी की सेवा इन्होंने भक्ति पूर्वक खूब की थी इससे आचार्यजीने अन्त समय ऐसा फरमाया कि " मेरा बडा शिष्य सूर्यमल सरल और गुरू भक्त है. इससे मेरे पीछे इसको किसी भी बातकी तकलीफ नहो इस लिये मेरा विद्वान–शिष्य–केवलचंदको आज मैं इसके नामपर कर देता हूं" आपने भी गुरू भक्तिके वश और जबसे आप आचार्यजीके शिष्य हुवे थे तबसे सब प्रकारका लालन पालन, वगैरा सूर्यमलजीनेही किया इससे आपने भी इस बातका स्वीकार कर लिया. किन्तु वास्तवमें आप शिष्य आचार्य श्रीकेही कहला सकते हैं और यह बात युक्तियुक्त भी है. आचार्य श्रीका स्वर्गारोहण क्रिया सब जैन शास्त्रानुसारही हुई. आचार्य श्रीके परलोक गमनके थोडेही दिन पीछे आपने प्रथम पदका त्याग कर दिया.

वि. सं. १९१६ वैशाख शुक्ल अक्षयतृतियाको बीकानेरके चतुर्विध संघने मिलकर श्री ताराचन्द्र सूरिजीके पट्टपर लघु शिष्य कर्पूरचं-

द्रजीको स्थापित कर दिये. और केसरीसिंहसूरि ऐसा आचार्य पदवीका नाम दे दिया. उस समय आपने इनको आचार्य करनेमें अपनी सम्मति बिलकुलही नही दी किन्तु निषेध किया था क्योंकि आचार्य होनेके लायक आपके बड़े गुरू भाई श्री मुलतानचन्द्रजी थे यदि मुलतानचन्द्रजीको आचार्य कर देते तो गच्छकी शोचनीय दशा नही होती. परन्तु कई कुटिल, विघ्नसंतोषी यतिश्रावकोंने स्वार्थ साधनके लिये अनुचित कार्य करनेको नही डरे, और प्रस्तुत भी हमारे गच्छमें यति नामको कलंक लाने वाले कई अधम यति ऐसे बैठे हुये हैं कि उनके बैठे गच्छकी उन्नतिकी आशा रखना आकाश पुष्पवत है, अस्तु. अयोग्य कार्य बना देख आपका विचार परदेश गमन करनेका हुआ किन्तु श्री केसरीसिंहजीने आपको जाने नही दिया, इन दिनोंमे आपके उपदेशसे एक कार्य ऐसा हुआ कि जिसकी प्रशंसा किये बिना सारे जैन समाजसे नही रहा जा सका, और वह यह हुआ कि श्रीयुत धर्मचन्दजी सुराणेकी धर्म पत्निने शत्रुंजयादि तीर्थोंकी यात्रा करने को संघ निकालनेका निश्चय किया. सं. १९१७ के मार्गशीर्ष वदीमें बीकानेरसे संघ रवाना हुआ इस संघमे गाड़ी ५००, ऊंठ ४००, घोड़े १०० और मनुष्य संख्या करीब ५००० की थी यति साधु साधवी करिब सो ठाणा श्रीके साथमें थे, संघ रक्षार्थ बीकानेर महाराजकी ओरसे कई घोड़ेसवार भी दिये गये थे. दर्शन पूजनके लिये एक देरासर साथ चलता था. देरासरकी रेख देख आपही करते थे. संघ नागोर फलोधी (पार्श्वनाथ) कापरड़ा, पाली, वरकाणा, नाडोल, नाडोलाई, राणपुर, मुच्छाला महावीर, इत्यादि पंचतीर्थी, सिरोही, आबूराज, पालणपुर, संखेश्वर, राधनपुर, वडनगर, वीसनगर, पाटण, (हेमचन्द्राचार्य) सिद्धपुर, आदि अनेक तीर्थोंकी यात्रा करता हुआ संघ शत्रुंजयकी तराटी शहर पालिताणेमें पहुंचा और सहर्ष सिद्धगिरि की यात्रा की अंदाज एक मास पर्यंत संघ पालिताणेमें रहा. तदनंतर शत्रुंजय निकटकी पंचतीर्थी—और गोगा—नवखण्डा पार्श्वनाथजी की यात्रा करके गिरनार पर्वतकी तराटी शहर जुनागढ़ को संघ पहुंचा- और रेवताचल (गिरनार) पर्वत उपर चढकर श्री अरिष्टनेमी भग.

वानकी यात्रा की, वहांसे अहमदाबाद होकर संघ बीकानेरको लौट आया. इस यात्रामें सुमार आठ मास लगे थे. ऐसा गौरवशाली संघ बीकानेरसे आज पर्यन्त कभी किसीने नहीं निकाला. यह श्रीमान केवलचन्द्रजी महाराजके ही उपदेशका फल मानना चाहिये.

सं० १९१८ का चातुर्मास आपका बीकानेरमें ही हुआ. तदनंतर विहार करके शहर इन्दोर पधारे, और सं० १९१९ का चौमासा इन्दोरहीमें हुआ. इन्दोर महाराज श्रीमान् होलकर सरकार श्री तकुजीराव बडेही गुणज्ञ और साधु संतके प्रेमी थे, इस से प्रेम पूर्वक हमारे चरित्र नायक से कईवार मिले. इन्दोर सरकारने आपसे कईवार कहा गांव जहांगिर अथवा द्रव्यादि जिस बातकी आपको इच्छा हो वह आपके लिये तैयार है किन्तु आपकी ओरसे उत्तर यही मिलतारहा कि बदौलत देव गुरु धर्मके प्रतापसे सब कुछ है. मनुष्यमें यह गुण (निर्लोभता) आना सहज नहीं है. इन्दोरसे रवाना होकर आप बऱ्हानपुर पधारे उससमय पीरचंदजी कोठारीने ज्ञान ध्यान के लिये ठहरनेकी बीनति की इस से आप एक महीने तक बऱ्हानपुर ठहरे वहांसे रवाना होकर मलकापुर, खामगांव, बालापुर होते हुवे शिरपुर अन्तरिक्ष पार्श्वनाथजी की यात्रा कर मुंबई पुरीको पधारे सं० १९२० का चौमासा आपका बंबई मे हुआ. गणेसदास कृष्णाजीके दुकान के मुनीम श्रावक श्री केवलचंद्रजी सुराणेने बहुत भक्ति की. चातुर्मास समाप्त होने पर आप पुना पधारे और सं० १९२१ का चातुर्मास आपका पुनेमे हुआ. पुनेसे आप खामगांव पधारे यहांका जलवायू अच्छा मालूम होनेसे नव चातुर्मास आपने खामगांव मेही किये. यह स्थान निरुपद्रवि और एकांत होनेके कारण इन दिनोंमें आपने वर्द्धमान आदि जैन विद्याओंका आराधन किया. आपके सत्यशीलादिगुणोंसे बराड प्रांतके स्वपरधर्म्मी सब कोई दर्शनोंके अभिलाषी थे. और प्रस्तुत भी आपका नाम प्रसिद्ध है.

सं० १९३० में आपको आचार्य श्री केसरी सिंहसूरिजीका पोष्ट द्वारा एक पत्र मिला उसमे यह समाचार थे कि "आप सरीखे

विद्वान भ्राता मेरेको छोड़ दूर रहनेसे मै बड़ाही दुःखी हूं" इत्यादि करुणा जनक समाचार पढ़ आपने शहर बीकानेर जाना निश्चय किया. रेलवे द्वारा खण्डवा, जबलपुर, प्रयाग दिल्ली और खुशकी रास्ता भीयाणी. बिसाउ, रामगढ़, चूरु आदि शहरोंमें होते हुवे बीकानेर पधारे. उन्ही दिनोंमें आचार्य गच्छीय उपाश्रयमें श्री हेमचंद्र सूरिजीके सभापतित्व वाचकत्व में एक सभा भरीथी. आपने इस सभामें अपने मंतव्यका पूर्ण समर्थन किया, यह अपूर्व शक्ति देख सभासद और पंडित चकित होगये. आपका इस सभामें पूर्ण विजय हुआ.

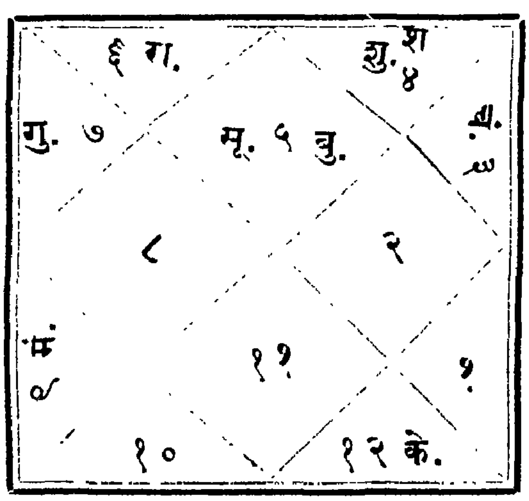
सं० १९३१से १९४८तक अठरा चौमासे आपके बीकानेरमेंही हुवे. सं १९३६ में लेखककी मातुश्रीने अपने पुत्रको आप गणिजी महाराजके अर्पण कर दिया. किन्तु लघु वय होनेसे लालन पालन करनेके लिये मातोश्रीने अपने समीप रक्खा और सम्वत् १९४० में पीछा सोंप दिया. सं० १९४८ के पोषमें श्रावक भूलचंद गंभीरमलजीने पाचोरा (बनोटी) मे रेल्वे खर्च के लिये रू० १०० का मनिआर्डर भेजकर बीननीकी कि आप यहांपर पधारकर मेरा घर पावन करें, आपने बीनती मान्य की और रेल्वे द्वारा शिष्यों सहित रवाना होकर वहां पधारे. कई दिन तक वहां ठहरकर खानदेश बराड़में विचरते हुए खामगांव आये. बहुत वर्षोंसे पीछा खामगाम आना हुआ इससे सब लोगोंने संवत् १९४९ का चातुर्मास का उत्सव बड़ी धूमधामसे किया. सं० १९५० के आषाढ़ शुक्ल दशमीको आपके हाथसे लेखककी दीक्षा हुई पचास और एकावन का चातुर्मास आपका खामगाम मेंही हुआ और बावनका चातुर्मास आकोलेमें हुआ इसी वर्षमे आप शिष्यपरिवार सहित शत्रुंजय गिरनार आदि गुजरातके जैन तीर्थ करनेको पधारे और यात्रा करके पीछे ही खामगांवको लोट आये तत: पश्चात (त्रेपन से लेकर छासठ तक १४ चातुर्मास) आजतक खामगांव मेंही हुवे हैं यद्यपि शेषकालमें आप विचारते भी थे किन्तु चातुर्मासके दिनोंमे पीछे लोटकर खामगांव आजाना हो जाता है. छप्पन की सालमे केसरीयानाथजी और मकसीजीकी यात्रा की ५९की साल में दो महीनोके लिये बीकानेर पधारेथे. ६०की सालमेसम्मेद शिखरादि पूर्वकी

यात्राकी. आपके उपदेशसे जबलपुर के श्रावकोंने श्वेतांबरजैन पाठशाला स्थापित की और एक महीने तक आपको रक्खा. सं० १९६३ में आपने अपने लघु शिष्यको शहर धुलियामें दीक्षा दी. दीक्षा महोत्सव का कुल खर्च श्रीमान श्रावक योगीलालजी गुलाबचंदजी खिवसराने किया. इन दिनों में त्रि. न्या. श्रीमान् शांति विजयजी मुनि महाराज भी शहर धुलियेमें थे दीक्षा की कुल विधी मुनि श्री के आज्ञानुसारही की गई. पाठक ? मुनिश्री लेखक के विद्यागुरु हैं इस लिये आपने अनुग्रह कर दीक्षा महोत्सव में सम्मिलित हुवे. दीक्षाका उत्सव प्रशंसनीय हुआ शहर धुलियेके कुल श्रावक--इस उत्सव में सामिलथे. उक्त उत्सव के थोडेही दिनों के पश्चात्--वेदनीय कर्मोदय से चरित्रनायक उपाश्रयकी सिढ़ीयोंमें उतरते हुवे पग चुक जानेसे गिर पड़े, इससे आपके डावे पगको बहुत लगी जिससे हड्डी न स्थान छोड़ देनेसे पग सुज गया और बहुत तकलीफ होने लगी. चलना फिरना बंध हो गया. अनेक डाक्टरों और वैद्योंके इलाज करनेपर वेदना बेशक आराम हो गई किन्तु हड्डी फिर पिछी स्थानपर नहीं आसकी. चलना फिरना जो बंध हो गया था वह दुरस्त न हो सका. "वृद्धवयके कारण लोहू कम जोर हो जानेसे पग शक्ति नहीं पकड़ता इससे यह ऐसीही हड्डी रहेगी" बड़े बड़े विद्वान डाक्टरोंका यह अभिप्राय होनेसे उपाय करना बंध कर दिया. तीन मास के पश्चात् धूलिये से रेल्वेद्वारा आपको खांमगांव ले आये. तत्पश्चात् चलना—फिरना बंध हो जानेके कारण शेष कालमें विचरना बंधकर दिया. गत वर्षके चातुर्मासमें अर्थात् सं० १९६५मे अपने शिष्य के समीप आकोले पधारे आपके प्रभावसे आकोले में कई बातें अच्छी हुई. इसी वर्ष में आकोलेके श्रावकोंने एक जैन पाठशाला स्थापितकी. थोडेदिन पश्चात् आप पीछे खामगांव पधार गये प्रस्तुत आपका विचार खांमगांवमे ही रहनेका है इस समय आपकी ८१ वर्ष की वय है. नेत्रोंका तेज जैसा का वैसा बना हुवा है. दांत सब कायम हैं. आपको शास्त्र लिखनेका प्रथमसेंही बहुत शौक है. आजभी करीब तीनसौ श्लोक एक दिन में लिख सकते हैं. अक्षर आपके मोतियोंके दानोंके समान सुन्दर

है. लिखने का इतना शौक होते भी आपने आजतक एक अक्षर भी मूल्य नहीं बेचा गुरु वर्य श्री केवलचंद्रजी गणि महाराजके करकमलके लिखे हुवे अनेक ग्रंथ हमारे पास मौजूद हैं. आपको केवल शास्त्र लिखनेकाही नहीं किन्तु शास्त्रावलोकन करनेका भी बड़ा शौक है. आप जन्म सेही सत्य वक्ता, दयावान, शांत और योग निष्ठ हैं. यूं तो आपने प्राय: सभी संस्कृत ग्रंथ देखेहैं परंतु योग शास्त्रोंको देखनेका अथवा योगाभ्यास का बहुत शौक होनेसे आत्म ध्यानमें हमेशाही तल्लीन रहते हैं जिन २ महाशयोंने आपके दर्शन किये है वे इस बातको निसन्देह सत्य समझ सकते है पाठक! यह लेख विचारसे अधिक बढ़ गया है इससे यहां पर श्री मन्महाराज श्रीकेवलचंद्रजी गणिजीकी जन्मकुन्डली देकर इसको पूर्ण करता हूं।

विक्रम संवत् १८८५ भाद्रपद कृष्णाद शर्मी गुरौ आर्द्रानिक्षत्रघटी ५६ पल ४३ उपरांत पुनर्वसु. इष्टघटी ५८ पल ४३ सिंह लग्न वहमाने जन्म. राशी मिथुन.

गणिश्री केवलचंद्रजीकी जन्म कुण्डली.



यह जन्म कुण्डली ज्योतिर्मार्तण्ड रा० कृष्ण सदाशिव बापट शास्त्रीने नष्ट जातकसे की है।

गुरु भक्ति परायण.
मुमुक्षु—बालचंद्र यति.
आकोला (बराड) जैन श्वेतांबर मंदिर.

भूमिका।

प्यारे पाठक-वृन्द !

इस अपार संसार के संबन्ध में कई मनुष्यों का यह मन्तव्य है कि-इस संसार का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है और कई इस बात को नहीं मानते। सृष्टि ईश्वरकृत है या अनादि ? इस प्रश्न के खण्डन मण्डन में कई संस्कृत ग्रंथ भरे पड़े हैं। इधर ईश्वरवादी अपनी ओर से यह हठ पकड़कर बैठे हैं कि विना किये कोई पदार्थ ही नहीं बनता, अतएव सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है और इधर जैन दर्शन संसार को अनादि और अकर्तृजन्य स्पष्टरूप से सिद्ध कर के बतला रहा है। यह परस्पर विरुद्ध कोटी है। अब इन दोनों में से किसका कहना सत्य है इस ओर पक्षपातरहित होकर विचार किया जाय तो अवश्यही यह कहना होगा कि आर्हतदर्शन का कहना सत्य है। क्यों कि जगत् को ईश्वररचित मानने से अनेक दोषापत्ति आती है और अनादि अकर्तृजन्य मानने से एक भी दोष नहीं आता, और यह बात इस ग्रन्थ में भली भाँति दिखाई गई है।

सृष्टि के उत्पत्ति के संबंध में कोई ईश्वरवादी कहता है कि:-जगत् का निमित्त और उपादान कारण केवल ब्रह्म ही है, तो दूसरा कहता है कि ईश्वर निमित्तकारण है किन्तु उपादान कारण प्रकृति है, तो तीसरा कहता है कि दृश्यादृश्य सभी पदार्थ ईश्वररचित है, तो अन्य कहता है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति यह तीन अनादि और अकर्तृजन्य हैं। कई तो जीव को सादि सान्त मानते हैं, और कई सादि अनन्त पकड़ कर बैठे हैं, इसी तरह कई अनादि सान्त, तो कई अनादि अनन्त, इत्यादि ईश्वरवादियों में जगत्कर्तृत्व के विषय में परस्पर बहुत सा मतभेद है। किन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृति पदार्थ को अनादि और अकर्तृजन्य मानने से संसार स्वतः अनादि और अकर्तृजन्य सिद्ध हो चुका। संसार को अनादि मानकर फिर उसका कर्त्ता मानना और कर्ता मानकर फिर संसार को अनादि कहना यह प्रत्यक्ष ही में विरुद्ध दिखाई देता

है। जैन दर्शन का कहना युक्ति और प्रमाण से युक्त होने से सत्य ठहरता है और ईश्वरवादियों को भी इधर उधर घूम घुमाकर अर्थात् जगत्का कर्त्ता ईश्वर को मानकर भी अन्त में तो यह कहना ही पड़ता है कि सृष्टि अनादि है। पाठक ! बिचार करें, ईश्वरवादियों को जैन दर्शन का कहना स्वीकार करना पड़ा या नहीं ? और जो ईश्वर-वादियों का यह कहना है कि—"बिना किये कोई पदार्थ नहीं बनता इसलिये संसार का रचयिता मानना अवश्य है, किन्तु इसके उत्तर में जब यह पूछा जाता है कि-तब तो ईश्वर का भी कर्त्ता कोई होगा ? तो फिर कुछ भी योग्य उत्तर नहीं दे सकते, तात्पर्य युक्ति और प्रमाणों से जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता तथापि हमारे ईश्वरवादी मित्र पक्षपात के वश जो इस बात का हठ और कदाग्रह नहीं छोड़ते यह बड़ेही शोक की बात है।

ईश्वरवादी महाशयों का यह भी कहना है कि "सब पदार्थों का बनानेवाला मैं ईश्वर हूँ" ऐसा हमारे धर्मग्रन्थों में ईश्वर ने कहा है और हमारे धर्मग्रन्थ ईश्वरप्रणीत होने से श्रद्धा करने योग्य हैं, ऐसा सभी ईश्वरवादियों का मत है। जैसे कि इसाई महाशय ईशू खिष्ट मार्ग को ही सच्चा बतला रहे हैं और कह रहे हैं कि बाइबल ईश्वरीय पवित्र ग्रन्थ है, इससे इसमें कही हुई ही बातें सत्य हैं और सब झूठ है, हमारे बाइ-बल में लिखा है कि सबको बनानेवाला एक ईश्वर है। इधर मुस-ल्मान (यवन) मित्र कह रहे हैं कि अल्लाह ताला ने कुरान शरीफ में जो फ़रमाया है वही सच्चा है और सब शैतानी मामला है याने झूठ है हमारा कुरान शरीफ आस्मानी किताब है याने अल्लाह ताला ने नबी-महम्मद साहब के लिये आस्मान से भेजी है और उस-में अल्लाह ताला ने फ़रमाया है कि 'आम दुनिया को पैदा करने वाला मैं हूँ' मेरे मजहब की किताब के सामने इन्सानों की बनाई हुई दूसरी किताबें उस दरजे को नहीं पहुँच सकती। इसी तरह हमारे आर्यदेशीय वैदिक मित्र भी कह रहे हैं कि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। ईश्वर वैदिक ऋषियों द्वारा वेदों का संसार में प्रकाश करता है इससे वेदवाक्य ईश्वरवाक्य हैं और वेदविरुद्ध जितने धर्म हैं वे सब अनीश्वर-प्रणीत हैं। इधर शाक्त अर्थात् वाममार्गी कह रहे हैं कि यह सब शक्ति की माया है अर्थात् सब संसार शक्ति

का रचा हुआ है इससे शक्ति का नाम जगज्जननी है और वह शक्ति जन्मकाले जननी, भोगकाले भार्या और अन्तकाले कालिका है इत्यादि ईश्वरवादियों में अनेक मत मतान्तर होते भी 'जगत् का कर्ता कोई भी है' इस विषय में सभी की एक राय है। कई ईश्वरवादी तो मनुष्योत्पत्ति संबन्ध में यहांतक असंभव बात मानकर बैठे हैं कि सृष्टि के आदि में धाता अमैथुनी सृष्टि रचता है, अर्थात् पयार्य से विचार किया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि ईश्वर आकाश में से खड़े खड़े युवक मनुष्य, मृत्यु लोक में उतार देता है! देखिये! यह उनकी बुद्धि का वैभव। किन्तु इस बारे में सत्यासत्य का विचारकरना विचारशील और सत्यग्राही सज्जन मनुष्यों का काम है, पक्षपाती जन इसका अन्त नहीं ला सकते! क्यों कि प्रथम तो वे अन्य दर्शनों के धर्म ग्रंथ देखते ही नहीं, यदि दैव योग से देखने का मौका मिल भी जाय तो अविचार बुद्धि से नास्तिक ग्रन्थ कहकर अपनी टांग ऊँची रख लेते हैं किन्तु वास्तव में नास्तिक वही है कि जो एकपक्षीय धर्मग्रंथ देखकर दूसरों को नास्तिक कहने का साहस करता हो। हमारी समझ से तो अनेक शास्त्रों का अवलोकन करनेवाला, सत्यासत्य का विचार करनेवाला, और तत्त्वज्ञ मनुष्य प्रायः आस्तिक ही हो सकता है। एकपक्षीय धर्म ग्रंथ देखकर जिनको 'सर्वविद्' का अभिमान आ जाता है उनको उचित है कि:—"अनेकशास्त्राणि विलोकितानि" इस वाक्य का अध्यन करें। अनेक दर्शनों के और अनेक विषयों के ग्रन्थों का अवलोकन करनेही से मनुष्य योग्यता को प्राप्त कर सकता है और उसीको विद्वानों की श्रेणि में स्थान मिल सकता है, इसलिये पक्षाभिमान को त्यागकर अनेक ग्रंथों का अवलोकन करनाही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। किन्तु जिनके विचार चिरकाल से अर्थात् पीढ़ियों से स्थिर हो रहे हैं और संस्कार भी निरन्तर वैसेही मिल रहे हैं; कि बहुना, वे अपने मन्तव्य के विरुद्ध एक वर्ण (अक्षर) भी श्रवण करना पाप समझ रहे हैं। ऐसे अविचारी, अन्य दर्शनों के ग्रन्थों को कैसे पढ़ सकते हैं? तो विचारकरना तो दूरही रहा किन्तु ऐसे हठी लोग अविचार बुद्धि से देखे भाले विनाही नास्तिक ग्रन्थ कह दिया करते हैं, परन्तु इस बात में वे लोक बड़ी भारी भूल

करते हैं। हा ! यदि किसी भी ग्रन्थ को अच्छी तरह समग्र पढ़कर पश्चात् निष्पक्षपात बुद्धि से समालोचना की जाय, तो भी श्रेय है परन्तु विना पढ़े अथवा विना विचार किये किसी भी विषयपर अपना अभिप्राय देदेना यह बुद्धिमानों का काम नहीं है। पढ़ और बिचारकर के जो किसी ग्रन्थ की समालोचना की जाय और उसमें कोई विद्वान् भूल भी बतलावे तो कोई हर्ज की बात नहीं है, क्योंकि "गच्छतः स्खलनं न दोषाय" इस न्याय से निर्दोषीही कहा जा सकता है। परन्तु इतनी बात हम अवश्य कह सकते हैं कि–चाहे किसी भी ग्रंथ को पढ़कर और उस सम्बन्ध में बिचार करने के बाद आलोचना की जाय तो विशेषतया भूल होने का संभव नहीं रह सकता।

इस निबंध में वेद और ब्राह्मणों की ऋचाओं (मंत्रो) के द्वारा भी यह बतला दिया गया है कि सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु साथ में यह कह देना भी अनावश्यक न होगा कि उन मन्त्रों के अर्थबदलने में अथवा अप्रामाणिक ठहराने में हठी और दुराग्रही कमी नहीं करेंगे ! किन्तु चाहे हठी दुराग्रही न मानें तथापि विचारशील मनुष्य इस ग्रन्थ से कुछ लाभ उठावेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत भारत वर्ष में आर्य (हिन्दू) लोगों में से वेद वेदाङ्ग (श्रुति-स्मृति, ब्राह्मण उपनिषद् पुराण इत्यादि) शास्त्रों को प्रमाण मानने वालों की प्रायः गणना वैदिक धर्म में ही हो सकती है और वेद के नेता वैदिक ब्राह्मण हैं। यद्यपि कई वैदिक विद्वान सत्यग्राही और निष्पक्षपाती भी हैं और उन्होंने जैनदर्शन के संबंध में अपने विचार प्रकट भी किये हैं किन्तु बहुधा वैदिक, हठी पक्षपाती और जैन दर्शन के विरोधी हुआ करते हैं, यदि कोई सत्यग्राही वैदिक साक्षर अन्य दर्शनों के धर्मग्रंथ देखकर कुछ प्रशंसा करे अथवा वेदों के संबंध में अपने कुछ स्वतन्त्र विचार दिखावे तो उसपर अन्य वैदिक कटाक्ष किये विना कभी नहीं रह सकते। इतनाही नहीं, किन्तु

---

१ इस निबन्ध में जहां पर वैदिक ऐसा लिखा हो वहां पर सर्वत्र उक्त ग्रंथों को मानने वालों के संबंध में समझ लेना चाहिये। क्योंकि वेदों का आश्रय लेकर चलने वाले जितने मत हैं उनको वैदिक कहना कोई गैर नहीं है।

यहांतक आन्दोलन मचा देते हैं कि 'यह पण्डित नास्तिक बन गया' इत्यादि सब कुछ कहते हैं। हमको स्मरण है कि काशीपुरी के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्रीराममिश्रशास्त्री जी ने जिस समय अपनी वक्तृता में जैन दर्शन के संबंध में अपने उच्च विचार प्रकट किये थे (उस व्याख्यान का सारांश इस निबंध में दे भी दिया है) उस समय काशी के कई वैदिक, शास्त्री जी पर नाराज हुए थे और कइयों ने शास्त्री जी से यह भी कहा था कि आप सरीखे विद्वान् ने जैन दर्शन को उच्च श्रेणी का दर्शन कहा, यदि यह बात सत्य भी हो तो आप को प्रशंसा नहीं करनी चाहिये परन्तु शास्त्री जी सत्य वक्ता होने से उन को यह उत्तर दिया कि जो मुझे सत्य मालूम हुआ वही मैंने कहा है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि शास्त्री जी के परलोक वास से जैन समाज को बड़ी हानि उठानी पड़ी है।

जिस समय लो. तिलक महोदय ने जैन दर्शन के संबंध में अपने उच्च विचार प्रकट किये थे (उसका सारांश इस ग्रंथ में दे भी दिया है) उस समय महाराष्ट्रदेशीय एक दो ब्राह्मण तिलक पर भी कटाक्ष किये विना नहीं रह सके। हाल में थोड़े ही दिनों की बात है कि इलाहाबाद (प्रयाग) की सरस्वती नाम की मासिक पत्रिका में वेद विख्यात जी की ओर से 'वेद' शीर्षक, एक लेख निकला था, उसमें आपने वेदों के संबन्ध में तटस्थरीत्या अपने विचार प्रकट किये थे (उक्त लेख का बहुत कुछ सारांश इस निबंध में दे भी दिया है) किन्तु उक्त लेख प्रकाशित होते ही कई वैदिक महाशय वेदविख्यात जी पर टूट पड़े, और वर्त्तमान समाचार पत्रों द्वारा मनमाने शब्दों में टीका करने लग गये। पाठकगण! ईश्वरवादी कैसे पक्षपाती होते हैं यह आप उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट समझ सकते हैं।

यह निबंध मैंने किसी के भी मनः कलुषित करने को अथवा किसी की निन्दा करने को नहीं लिखा है किन्तु जगत् किसी का रचा हुआ है या अनादि? और इस बारे में जैन दर्शन का क्या अभिप्राय है यह संस्कृत को न जाननेवाले हिन्दी भाषा के प्रेमियों को दिखाने के हेतु से लिखा है और आशा भी है कि हिन्दी पढ़नेवाले अवश्य इससे कुछ लाभ उठावेंगे।

प्रस्तुत में कई जैनी कहलाकर भी अन्य धर्मियों के गाढ सह

वास से यहा तक नहीं जानते हैं कि जैन दर्शन का क्या सिद्धान्त है? केवल इतना जानते हैं कि हम जैनी हैं और कई यह भी जानते हैं कि हम तीर्थंकर वीतराग के उपासक हैं। इसके सिवा जैन धर्म के तत्त्वों को अथवा वैज्ञानिक जैन साहित्य को जानने वाले बहुत ही कम हैं। इससे प्रचलित भाषाओं में जैनधर्म के शुद्ध तत्त्वों को बतलानेवाले ग्रंथ जितने अधिक विद्वान् द्वारा लिखे जायँ और छपकर प्रकाशित हों उतना अधिक श्रेय है और इसी हेतु से मैंने भी यह ग्रंथ लिखा है।

इस ग्रंथ में वेद, ब्राह्मण, स्मृति, उपनिषद् और पुराण आदि ग्रंथों के और और भी अनेक ग्रंथों के प्रमाण प्रसंगानुसार दिये गये हैं और श्री शंकराचार्य स्वामी के ब्रह्माद्वैत के बारे में भी परामर्श किया गया है इसलिये इस ग्रंथ को निष्पक्षपात बुद्धि से पढ़नेवाले अन्य दर्शनी भी लाभ उठा सकते हैं।

इस विषय पर एक निबन्ध लिखने का मेरा विचार बहुत दिनों से था परन्तु शारीरक और मानसिक आपत्तियों के कारण कई दिन तक यह कार्य नहीं कर सका। किन्तु गत वर्ष में सब प्रकार की शांति मिलने से यह कार्य बनने का मौका मिला यद्यपि जैसा चाहिये वैसा तो नहीं बना है क्योंकि यह पारमार्थिक विषय है और दूसरा कारण यह भी है कि किसी एक विषय पर जब तक अनेक विद्वानों की लेखनी न चले तब तक वह विषय पूर्णांग रूप से स्पष्ट नहीं हो सकता यह स्वाभाविक नियम है और इस विषय पर जैसी चाहिये वैसी लेखनी विद्वानों ने नहीं चलाई ऐसा मालूम होता है इससे संस्कृत ग्रंथों के पूर्ण विचार प्रचलित भाषा में नहीं आये इससे इसमें कितनी बातों की त्रुटियां रह गई भी होंगी किन्तु अब भी कोई जैन विद्वान्, यति, मुनि इस विषयपर एक उत्तम ग्रंथ लिखे तो बहुत ही अच्छी बात है। किसी विद्वान् को मेरी भूल चूक हुई मालूम हो तो मुझे अवश्य सूचना करै यदि वह सूचना सत्य मालूम होगी तो उपकार माना जायगा और द्वितीयावृत्ति में अवश्य सुधार दिया जायगा।

काशी की यशोविजयजी जैन पाठशाला और ग्रन्थमाला के उत्पादक, शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीमान् विजयधर्मसूरी जी महाराज के मुख्य शिष्य मुनिमहाराज श्रीमान् इन्द्रविजयजी ने इस

ग्रन्थ में मुझे अनेक प्रकार की सहायता दी है इससे मैं आप का ऋणी हूँ, आप आर्ष जैनग्रन्थों के संशोधन में सतत प्रयत्न कर रहे हैं और आपकी कृपा से यशोविजय जी जैन ग्रन्थमाला के दश बारह ग्रन्थ ,पाठशाला की ओरसे छपकर प्रकाशित भी हो चुके हैं और कई ग्रन्थों का कार्य शुरू है इससे आप समग्र जैन समाज के कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं !

पाठक महाशय ! अब यह लेख बढ़ गया है इससे मेरे उपकारी ज्ञानदाता गुरुवर्य श्रीमान् केवलचंद्र जी गणी महाराज के स्मरण पूर्वक यह लेख यहां ही पूर्ण करता हूँ।

ग्रन्थकर्त्ता

वन्दे वीरम् ।

जगत्कर्तृत्वमीमांसा

कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ॥
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ १ ॥

(श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यः)

इस संसार में प्रचलित अनेक मत मतान्तर हमारे दृष्टिगत होते हैं और सबही धर्मावलम्बी प्रायः यही सिद्ध करने में तत्पर होते हैं कि "प्राचीन धर्म हमारा ही है और हमारा ही धर्म सनातन से चला आता है तथा हमारे धर्म के अतिरिक्त अन्य मतमतान्तरों के तत्त्व युक्तिविकल हैं अर्थात् अन्य मतों की स्थापना हम से बहुत ही पीछे हुई है अतएव हमारे धर्म की स्पर्धा अन्य कोई भी धर्म नहीं कर सक्ता" ऐसा अभिमान अनेक विद्वानों के हृदय में भरा हुआ दिखाई देता है यदि वे निष्पक्षपात बुद्धि से अपने मन में विचार करेंगे तो पूर्वोक्त व्यर्थ हठ उनके हृदय में नहीं ठहर सकेगा।

जिस मनुष्य ने पूर्वपक्ष देखा हो और उत्तरपक्ष न देखा हो अथवा उत्तरपक्ष देखा हो और पूर्वपक्ष न देखा हो तो वह मनुष्य सर्वपक्षसम्पन्न नहीं कहा जा सक्ता और सच्छास्त्रवेत्ताओं की सभा में आदरणीय नहीं हो सक्ता; इस समय प्रायः दुर्विदग्ध मनुष्य विशेष दिखलाई पड़ते हैं और वे अपनी दुर्विदग्धता दिखाते हुए हठात्

---

१ जगत् का कर्ता कोई है, वह एक, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य है ऐसी दुराग्रहरूपी विडम्बनाएँ उन्हीं को होती हैं जिनका प्रभु ! तू अनुशासक नहीं है।

नवीन मत अथवा **कपोलकल्पित** मतों को प्रकट करके अनेक **मुग्धजनों** को अपने मायाजाल में फसाकर रसातल के भागी बना देते हैं फिर उक्त मुग्धों को उनके जाल से मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

हमको अन्यमतावलम्बियों से वादानुवाद (धर्मचर्चा) करने पर यही प्रतीत हुआ कि अपने हठ का त्याग करना किसी को अच्छा मालूम नहीं होता। बड़े ही खेद की बात है कि जब विद्वानगण **सत्य** का परित्यागकर केवल हठपूर्वक अपने मन्तव्य ही को सिद्ध करना चाहते हैं तो उक्त विद्वानों की गणना किस वर्ग में हो सक्ती है यह पाठक स्वयं विचार लें।

सत्य ग्रहण व असत्य का परित्याग करो! इस प्रकार सब ही धर्मावलम्वी कहते हैं और **सभा समाजों** में अपने लम्बे २ व्याख्यानों को सुनाकर अपने मन की आह (ज्वाला) निकालते हैं किन्तु सत्य किस **चिड़िया** का नाम है इसका निर्णय किए विना ही निरर्थक प्रलाप करना ठीक नहीं, जब तक मनुष्य पक्षपात का चश्मा दूर नहीं करेगा तब तक वह सम्यक्द्रष्टा नहीं कहा जा सक्ता।

वाणी और अर्थ का सम्वन्ध अत्यन्त महत्व का है बहुधा विद्वान् लोग भी अपने विचारों को असंबद्धता और अस्पष्टता करके शब्दाडंबर द्वारा आच्छादन करने का प्रयत्न किया करते हैं और जैसी कल्पना मन में उत्पन्न हुई मुखद्वारा व लेखिनीद्वारा प्रकाशित हुए शब्द भी वैसे ही निकलते हैं चाहे **संदिग्ध** हों अथवा **असंदिग्ध**। सामान्य नियम ऐसा है कि जो विचार मनोगत होते हैं वही शब्दों में भी आ जाते हैं अपने मनोगत विचार व मुखद्वारा निर्गत होनेवाले उद्गार इन दोनों के बीच में नित्य सम्बन्ध हो या अनित्य हो परन्तु यह बात सत्य है कि जो विचार आधे या अस्पष्ट होते हैं उनके **द्योतक** शब्द भी वैसे ही होते हैं इसके अतिरिक्त यह भी सत्य अनुमान है कि जिसके भाषण में अर्थात् वाग्विलास में संदिग्धता होती है उसके विचारों में भी अवश्य **संदिग्धता** होती है अनेक वार ऐसा बनाव बनता है कि एक वा दो शब्द या वाक्य किसी ने एक स्थल पर पढ़े किंवा प्रसंग

वश सुने, वे किसी कारण उसके शीघ्र ही मन में भर जाते हैं किन्तु उनके तात्पर्यार्थ के पूर्ण ज्ञान न होने से उन शब्दों का रूढ़ अर्थ किस विषय पर है और आनुषङ्गिक अर्थ किस पर है अर्थात् कौनसा अर्थ किस स्थान पर उचित है यह न समझकर केवल आनुषङ्गिक अर्थ पर ध्यान देने से उसकी बुद्धि में अवश्य ही भ्रम हो जाता है और भ्रम के होने से विचारों में भी दोष आने का संभव है और उक्त दोष के कारण न तो विचारों की संदिग्धता दूर होती है और न वे शुद्ध विचारों को प्रकट कर सक्ते हैं। जो महाशय स्वतः पूर्णतया नहीं समझ सक्ते तो वे दूसरों को किस प्रकार समझा सक्ते हैं, कदापि नहीं, कदापि नहीं ! कतिपय महाशय भस्मावच्छन्न वक्तृता (व्याख्यान) देकर या लेख लिखकर अपनी वाक्चातुरी से अल्पज्ञ लोगों के सामने विद्वान् बनने का दावा करते हैं परन्तु पूर्ण सत्यशोधक विद्वानों के सामने उनकी वाक्चातुरी नहीं चल सक्ती क्योंकि जो विद्वान् होते हैं वे जान जाते हैं कि यह कैसे व्याख्याता वा लेखक हैं; किसी शास्त्रकार का कथन है कि "नास्तिकोऽपि वरं शत्रुर्भस्माछन्नो न जैमिनिः" तात्पर्य यह कि जो लोग असंदिग्ध व स्पष्ट भाषणादि कर सक्ते हैं वे सम्यक्रीत्या समझा सक्ते हैं किन्तु जिनके समझने में ही भूल हो वे बोलने में अथवा लिखने में भूल करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

जगत का कर्त्ता ईश्वर है अर्थात् सृष्टि ईश्वर की रची हुई है इस बात को स्वीकार करने वाले वेदमतानुयायी, नैयायिक, वैशेषिक, शाक्त, शैव, वैष्णव, मुसलमान व ईसाई आदि मतवालों की वाक्-विडंबना बड़ी ही आश्चर्य-जनक है उक्त मतवालों ने संदिग्ध शब्दों में जगन्नियन्ता ईश्वर के सिद्ध करने का पूर्णतया साहस किया है किन्तु उनके विचार युक्तिसंगत कदापि नहीं हो सक्ते। देखिए उनके वेदों में भी सृष्टिरचना के लिए एक मत नहीं है निम्न लिखित मंत्रों से आप को विदित हो जायगा कि इनके शास्त्रों में कितना पूर्वापर विरोध है।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥
ब्रह्मणस्पतिरेतासं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ॥
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ॥
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ ४ ॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ॥
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥५॥

ऋग्वेदसंहिता मं० १० । सू० ७२

भावार्थ-ब्रह्मणस्पति कर्मार के अनुसार देवताओं के जन्म को करता हुआ, देवताओं के पूर्व युग में असत् से सत् हुआ और सत् से दिशा और तदनन्तर उत्तानपद हुआ और उससे पृथ्वी, पुनः उस पृथ्वी से दिशा (आशा) हुई और अदिति से दक्ष हुआ और दक्ष से अदिति हुई है। हे दक्ष! तेरी दुहिता अदिति का जन्म हुआ तदनंतर स्तुत्य (स्तुति करने के योग्य) व अमर ऐसे देवों का जन्म हुआ

देखिए आगे के मंत्रों में कैसा वर्णन है:-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥ २ ॥

---

१ इस अर्थ को हमने अपनी ओर से न करके सायणभाष्यानुसार ही किया है ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋग्वेदसंहिता १० । १९१

भावार्थ--तप से सत्य और सत्य से अनन्तर रात्रि हुई तदनन्तर समुद्र व पश्चात् उसके संवत्सर, अहोरात्र यथाक्रम उत्पन्न होते भए ; धाता ने सूर्य चंद्रमा को यथापूर्व कल्पना किए और आकाश, पृथ्वी, अंतरिक्ष आदि की कल्पना की; अर्थात् रचे ।

पूर्वोक्त मंत्र ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी हैं । अब तैत्तिरीयब्राह्मण में किस प्रकार का लेख है सो देखिए:–

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् ।
तेन प्रजापतिरश्राम्यत् । कथमिदं स्यादिति ॥
सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत ।
अस्ति वैतत् । यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति ॥
स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् ।
स पृथिवीमध आर्च्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत ॥
तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत । यदप्रथयत् ।
तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥ १ ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण अष्ट० १ । अ० १ । अ० ३

भावार्थ--प्रथम जल था उसके ऊपर पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि वर्णन है उक्त वर्णन के अनुसार (किन्तु कुछ अन्तर वाला) वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में है; देखिए–

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तस्मिन्प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्तां

विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत् तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥

तैत्तिरीयसंहिता अष्ट० ७ । १ । ५

उक्त मंत्र में जल के पीछे वायु और तदनन्तर पृथ्वी का उत्पन्न होना इत्यादि क्रम भेद लिखा है अब उपनिषदों में सृष्टिक्रम जो दिया है उसका भी थोड़ा सा अवलोकन कर लीजिए—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।

तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनु० १

भावार्थ—उस आत्मा से आकाश और उस से वायु, तदनन्तर अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधी, अन्न, पुरुष इस क्रम से एक से एक उत्पन्न हुए ऐसे ही अन्य बहुत से ग्रंथों में सृष्टिक्रम अनेक रीति से लिखा है परन्तु उक्त सर्व मतों के विरुद्ध व उनसे विचित्र वर्णन तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थल पर लिखा है उसको भी देख लीजिए—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमा वरीवः कुहकस्य शर्मन्। अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्। न मृत्युरमृतं तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं। तस्माद्धान्यं न परः किंचनास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं। सलिलं सर्व्वमा इदं। तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत। तमसस्तन्महिना जायतैकं। कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि। मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् । हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा । तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषां । अधस्विदासी३ दुपरि स्विदासी३त् । रेतोधा आसन् महिमान आसन् । स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण का० २ । प्र० ८ । अ० ९

उक्त वाक्यों में पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के प्रथम सत्, असत्, आकाश, जल, मृत्यु, अमृत, रात्रि, दिन, सूर्य, चन्द्र इत्यादि कुछ भी नहीं थे केवल ब्रह्म मात्र ही था उसकी सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई और फिर सब जगत उत्पन्न हुआ इत्यादि वर्णन कर के पुनः आगे निम्न लिखित वर्णन है–

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय । अथा को वेद यत आ बभूव । इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव । यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद । किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण का० २ । प्र० ८ । अ० ९

उक्त मंत्र वाजसनेयसंहिता के अध्याय १७ का ३२वां है एवं ऋग्वेदसंहिता के अ० १० । १२९वां है । भावार्थ इस मंत्र का यह है कि यह विविध सृष्टि किस से व किसलिए उत्पन्न हुई यह वास्तव में कौन जानता है ? वा कौन कहने को समर्थ है ? देवता भी पीछे से हुए फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई इस बात को कौन जानता है ? जिससे द्यावा, पृथ्वी हुई वह वृक्ष कौन सा व वह किस बन में था यह कौन जानता है ? इन सभों का अध्यक्ष परमाकाश में है वही

जानता है किंवा वह भी नहीं जानता यह किसे मालूम ! जगदुत्पत्ति का कारण जानने वाला कोई भी नहीं, और उत्पत्ति क्रम भी प्रत्यक्ष किसी को मालूम नहीं, ऐसा अभिप्राय पूर्वोक्त मंत्र में है।

ऋग्वेद में एक जगह पर जो मंत्र लिखा है उस का भी अवलोकन करलीजिए:-

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् । और—रथ्यममृताधितस्थुः ॥

ऋग्वेदसंहिता १-३५-६

भावार्थ-"द्युलोक तीन, तिनमें से—दो सविता के उदरमें और एक यम के भुवन में है। चंद्र तारादि—अमर उसके ऊपर बैठे हुए हैं" ऐसा कह कर आगे उसी ऋचा में ऋषि कह रहा है कि-

इह ब्रवीतु य उ ताच्चिकेतत् ।

भावार्थ—यह सब जिसने जान लिया हो ऐसा कोई हो तो उसे यहां पर आके कहने दो, सारांश यह कि प्रत्यक्ष जाननेवाला (जगदुत्पत्ति का) कोई भी नहीं है ऐसा इस ऋचा में ऋषि का मत है आप लोग इन वेद मंत्रों से भली भाँति जान लिये होंगे कि वेदों में सृष्टिक्रम में पूर्वापर कितना विरोध है और कई ऋषियों का मत तो ऐसा भी दिखाई दे रहा है कि सृष्टि किसी की भी रची हुई नहीं है फिर वेदमतानुयायी किस साहस पर सृष्टि ईश्वरकृत मानते हैं यह मालूम नहीं होता, जो लोग वेदों को अनादि व अपौरुषेय मानते हैं उन्हीं वेदों में ऐसा पूर्वापर विरोध भरा हुआ है फिर बतलाइये ? कौन वेदों की बात पर विश्वास रक्खेगा ? एक स्थान पर तो कहदिया कि असत् से सत् हुआ और सत से दिशा हुई इत्यादि व दूसरे स्थल पर कहदिया कि तप से सत्य इत्यादि फिर एक जगह पर कह दिया कि प्रथम जल था उस के ऊपर पृथ्वी हुई—और फिर अन्य स्थल पर लिख दिया कि जल के पीछे वायु व तदनंतर पृथ्वी फिर एक जगह ऐसा भी लिख दिया कि उस आत्मा से आकाश व उस से वायु तदनंतर अग्नि, जल.

पृथ्वी इत्यादि, और फिर दूसरों की तर्कताप से बचने के लिए ऐसा भी लिख दिया कि प्रत्यक्ष में सृष्टि की उत्पत्ति जाननेवाला व कहने-वाला कोई भी नहीं है और सृष्टि किसकी रची हुई है यह भी किसे मालूम ? देखिए जिनको संशय शत्रु ने पग पग पर घेरा है उनके विचारों को कौन स्वीकार करेगा !

सृष्टि के कर्ता को मानने वालों का कहना है कि-चराचर जगत् का निर्माण और संहार अर्थात् उत्पत्ति और विनाश, ईश्वर स्वतः अपनी अचिन्त्य शक्ति के माहात्म्य से करता है, यदि केवल सृष्टि रचा ही करे तो असंख्य प्राणिगण त्रिभुवन में भी न ठहर सकें अर्थात् कहीं स्थानही न मिले इसलिये साथ ही साथ संहार भी करना पड़ता है। पृथ्वी, पर्वत, सुधाकर, दिनकर, महासा-गरादि जो जो वस्तु हैं वे संपूर्ण किसी बुद्धिमान् की रचित अवश्य हैं। जैसे घट, पटः—कुम्भकार, सूत्रकार के रचे हुए हैं वैसे पृथ्वी पर्वतादिक के लिये भी रचयिता होना आवश्यक है। ऐसा विभु, नित्य, एक, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, परमेश्वर के विना अन्य दूसरा कोई भी नहीं है, इस संसार में प्राणिमात्र जो चलनादि व्यवसाय करते हैं वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से करते हैं, ऐसा, सृष्टि ईश्वरकृत मानने वालों का कहना है, इस बात को **जैनधर्म** अस्वीकार करता है, और **बौद्ध** व प्राचीन **सांख्य** जो इस बात को अस्वीकार करते हैं तो प्रायः इन्होंने जैनधर्म का अनुकरण किया हो ऐसा **हमारा** मत है क्योंकि जैनधर्म बहुत **प्राचीन** है और इस धर्म के तत्त्व विश्वास करने योग्य हैं, यह कहना हमारा पक्षपात या हठ से नहीं, किन्तु **सत्यता**पूर्वक है और सत्यदर्शी जनों को भी स्वीकार करना ही होगा कि प्राचीन से प्राचीन जो संसार में धर्म है तो **जैनधर्म** ही है जिसकी आद्य व्यवस्था किसी भी **इतिहासकार** ने युक्तियुक्त वर्णन नहीं की यदि एक आधे ने द्वेषबुद्धि से कहीं लिख भी दिया हो तो इससे प्राचीनता नष्ट नहीं हो सक्ती। कई विद्वानों की ऐसी भी समझ है कि **बौद्ध** व **वैदिक** मत बहुत प्राचीन है। परंतु **जैनधर्म** इनसे भी प्राचीन धर्म है क्योंकि बौद्ध-शास्त्रों में और **वैदिकशास्त्रों में** जैनधर्म विषयक **खण्डन-मण्डनादि**

दृष्टिगत होते हैं देखिए बौद्ध पीठिका में लिखा है कि "**निग्गन्थनाथ पुत्र और अग्गी वैशायन गोत्र का सुधर्मा अपने पक्के शत्रु हैं**" इधर **वेदव्यास** जी के रचित व्यास सूत्र में "**नैकस्मिन्नसंभवात्**" (वेदा० सू० २।२।३३) इस सूत्र पर **शङ्कराचार्य** का रचित भाष्य है, उसमें उन्होंने जैनों की **स्याद्वाद-सप्तभङ्गी** का खण्डन करने का साहस किया है। इत्यादि प्रमाणों से कह सक्ते हैं कि **बौद्ध** से और **वैदिक** धर्म से **जैनधर्म** प्राचीन है यदि उस समय जैन धर्म नहीं होता तो बौद्धों के शास्त्रों में और वैदिक शास्त्रों में खण्डन मण्डन कहां से हो सक्ता? अतः इस विषय में पूर्वोक्त प्रमाण पर्य्याप्त है और जैनों का जो यह कहना है कि **सृष्टि किसी की भी रचित नहीं है** यही बात बहुत ठीक मालूम होती है!

सृष्टि को ईश्वररचित मानने से अनेक **दोष** आते हैं और अनादि मानने से एक भी दोष नहीं आता इस बात को इस ग्रन्थ में अच्छे प्रकार से दिखाया जायगा, पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ें।

जगत्कर्ता माननेवालों का कथन है कि "**सृष्टि ईश्वर ने निर्माण की है** वह विदेह ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वेद उसी परमात्मा के रचे हुए हैं" इसके प्रत्युत्तर में विदित हो कि विदेह **ईश्वर देह के विना** सृष्टि कैसे रच सका? अर्थात् कारण विना कार्य नहीं होता, फिर बतलाना होगा कि उस विदेह ईश्वर को सृष्टि रचने से क्या प्रयोजन था? विदेह ईश्वर के लिये जगत् के रचना करने में **प्रवृत्ति** अनुचित व असंभव है, यदि कहा जाय कि ऐश्वरीय **माया** से जगत उत्पन्न हुआ है तो वह माया ईश्वर से **भिन्न है या अभिन्न**? और वह जगन्नियन्ता प्रभु भी **स्वतन्त्र है या परतन्त्र**? यदि स्वतन्त्र कहोगे तो जगत् माया से उत्पन्न हुआ है यह कहना झूठा होगा, और परतन्त्र कहोगे तो **विभु सर्वशक्तिमान्-पना** कहां रहा, वह तो परतन्त्र ठहरा? यदि यह कहोगे कि ईश्वर ने **कौतुक** में आके खेल किया है तो इस से आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर राजकुमारवत् रागवान् सिद्ध होता है और जहां राग है

वहां द्वेष भी है इससे आपका ईश्वर; रागी, द्वेषी कहा जायगा और राग, द्वेष होना ईश्वर के लिए दूषण है अतएव उस ईश्वर को कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सक्ता, यदि कहोगे कि **कृपा से** सृष्टि निर्माण की है तो संपूर्ण जीव जन्तुओं को सुखी बनाना था ? संसार में दुःख, दुर्गति, दरिद्रता; सूकर, मार्जारादिक दुष्ट योनि, जन्म, मरण, जरा, क्लेश इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित असंख्यात प्राणिगण दिखाई देते हैं बतलाइये ! आप के **कृपालु ईश्वर** ने जीवों को दुःखी क्यों रचा ? इससे आप के जगत्कर्ता ईश्वर को कृपालु कहना नितान्त असत्य है यदि आप ऐसा कहोगे कि जिस जीव के जैसे शुभाशुभ कर्म थे तदनुसार वे रचे गये तो इस कथन से आप के जगन्नियन्ता की स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी क्योंकि जैसे हम तुम **कर्माधीन कार्य करते हैं** तैसे ईश्वर भी कर्मवस हुआ। तो अब कहिये ईश्वर ने कर्म विना स्वतः क्या रचा ? यदि जैसा कर्म जिसका था तैसा उसने रच दिया कहोगे तो आप लोगों का जो यह कहना है कि "**संपूर्ण कार्य ईश्वराधीन ही होते हैं**" इस जगह पर **कर्माधीन होते हैं यह कहना होगा**। तात्पर्य यह है कि ईश्वराधीन कुछ भी नहीं है और ईश्वर को भी कर्माधीनही मानना पड़ेगा। और सुख दुःखादि तथा जगत् की विचित्रता कर्मजन्य है तो फिर आप के विश्वकर्मा शिखंडी ने क्या विश्व की रचना की ! यदि आप कहोगे कि उसकी रचना समझ में नहीं आ सक्ती है तो क्या आपने विनाही समझे **विश्वकर्त्ता** मान लिया ? और जो आप के शास्त्रों में सृष्टि निर्माण के लिये जितना लिखा गया है वह विना समझे ही लिखा गया है ? **वेदों मे सृष्टिरचना** का क्रम जो है वह हम प्रथम लिख ही चुके हैं और उन मंत्रों से सिद्ध होता है कि **वेद ईश्वरप्रणीत नहीं हैं** और न वेदों में सृष्टि के लिये एक मत है, धन्य है आप की मान्यता को !

यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान लिया जाय कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर है तो प्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर देहधारी है या अदेहधारी ? यदि कहा जाय कि देहधारी है, तो देहधारी के पुण्य पाप भी होना संभव है क्योंकि पुण्य पाप विना शरीर (पुद्गल) नहीं बनता, यदि

कहा जाय कि ईश्वर देहरहित है तो शारीरक अवयव (हाथ-पाव-मुख-नासिका-करण-नेत्रादि) विना किसी प्रकार की भी रचना बन नहीं सक्ती। जो लोग कहते हैं कि **"जैसे कुम्भकार ने घट बनाया तद्वत् ईश्वर ने भी सृष्टि की रचना की है"** यह उदाहरण ईश्वर की अदेहित्व नष्ट करने वाला है क्योंकि कुम्भकार तो अपने हस्त पादादि अवयव द्वारा कुम्भादिक पात्र की रचना करता है और ईश्वर तो हस्त पादादि अवयवों से रहित है अतएव आप के ईश्वर ने किन अवयवों के द्वारा सृष्टि निर्माण की है। **कुम्भकार** का दृष्टान्त तो आपका यहां निरर्थक है क्योंकि देहधारी का दृष्टान्त अदेहधारी पर नहीं लग सक्ता, यदि आप कहोगे कि ईश्वर देह धारण भी कर सक्ता है तो निराकार–नित्य–निरंजन–निर्लेपादि उपमा देना अयुक्त है और देहधारी होने से ईश्वर तुह्मारे हमारे सदृश मनुष्य होना चाहिए और सब को नेत्रों से दिखाई देना चाहिए।

जिन ईश्वरवादी जनों के हृदय में ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो कि जगत्-कर्ता ईश्वर ही है उनसे हम प्रश्न करते हैं कि यदि सृष्टि का निर्माणकर्ता ईश्वर है तो **उपादान कारण** कौन रहा? यदि कहेंगे कि **ऐश्वरीय शक्ति** है तो वह शक्ति ईश्वर से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि अभिन्न है तो बतलाना उचित है कि जड़ है या चेतन? यदि जड़ है तो बतलाइये वह नित्य है या अनित्य? यदि भिन्न और नित्य है तो सब से प्रथम, एक नित्य पदार्थ ईश्वर ही है, यह कथन नितान्त असत्य हुआ, यदि कहोगे कि वह शक्ति अनित्य है तो उसका उपादान कारण कौन है? और यह नियम है कि नित्य से अनित्य वस्तु का उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है, यदि शक्ति ईश्वर से अभिन्न है तो ईश्वर और शक्ति यह पृथक् पृथक् नाम से मानना ही वृथा ठहरा और संपूर्ण पदार्थ ईश्वर रूप ही हैं ऊंच–नीच–राजा–रंक–नरक–स्वर्ग–अधर्म–धर्म सब को ईश्वर ही कहना कोई दोष नहीं और इससे तो आप के ईश्वर ने सृष्टि क्या रची किन्तु **अपना स्वरूप ही बिगाड़ लिया,** धन्य हैं महाशय! आप का ईश्वर हो तो ऐसा ही हो!

बड़ा आश्चर्य है कि सृष्टि को ईश्वररचित स्वीकार करनेवाले अपने हृदय में यह नहीं विचार करते कि जब ईश्वर ने सृष्टि रची उस समय उपादान

कारण रूप पदार्थ क्या था ? अर्थात् सामग्री कहां से लाए कि जिस से सृष्टि निर्माण की जैसे कुम्भकार (कुँभार) घट की रचना मृत्तिका, जल, चक्रादि पदार्थ की सहायता विना नहीं कर सक्ता, तद्वत् जगन्नियन्ता ईश्वर को सृष्टिनिर्माण करते समय सामग्री अवश्य चाहिये; यदि कोई कहे कि **सामग्री तो अनादि से है** तो यह सिद्ध हो चुका कि सामग्री ईश्वर रचित नहीं है तो महाशय ! आपके ईश्वर ने क्या रचना की ? और यह कथन भी नितान्त असत्य हो चुका कि "सब से प्रथम ईश्वर ही था, और ईश्वर ने ही संपूर्ण पदार्थों की रचना की है" क्योंकि सामग्री ईश्वरकृत न होने से संपूर्ण पदार्थ ईश्वर के रचे सिद्ध नहीं हो सक्के, फिर ईश्वर ने क्या रचना की ।

कितने कहते हैं कि ईश्वर निराकार होकर भी सृष्टि रचना करने की सामर्थ्य न रक्खे तो वह सर्वशक्तिमान् किस रीति से हो सक्ता है ? इसके प्रत्युत्तर में यह कहना चाहिये कि सर्वशक्तिमान् वह कदापि नहीं कहा जा सक्ता, क्योंकि वह स्वतः अपना स्वरूप विगाड़ चराचर में विद्यमान होकर सर्वशक्तिमान् बनना चाहे तो नहीं बन सक्ता। सृष्टि रचना करने से ईश्वर में **रागद्वेष रूप दोष प्राप्त होते हैं** और जिसमें राग द्वेष रूप दोष है उसको सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त है ।

अरूपी ईश्वर से रूपी पदार्थों की उत्पत्ति मानना प्रमाण से वाधित है, क्योंकि आप का अरूपी सर्वशक्तिमान् ईश्वर संसार की रचना करते समय सामग्री कहां से और किन हाथों से लाया ? यदि क्षण भर जीव का कर्त्ता ईश्वर को मान भी लें तो यह विरोध आता है कि कार्य अपने उपादान कारण से भिन्न नहीं हो सक्ता, यदि जीवों का उपादान कारण ईश्वर ही है तो वतलाना होगा कि जीव-ईश्वर की ऐक्यता में अंतर क्यों मानते हो ? और ऐश्वरीय इच्छा से जीव प्रतिकूल क्यों दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् ईश्वर ने जो जो आज्ञाएं दी हैं उन आज्ञाओं से विपरीत क्यों चलते हैं ? अनेक मनुष्य प्रसंगवस ऐसा उद्गार निकाला करते हैं कि "**अमुक मनुष्य को दुर्बुद्धि उत्पन्न होने का**

कारण केवल ईश्वरीय इच्छाही है" हम पूँछते हैं कि ईश्वरीय इच्छा ईश्वर की आज्ञा से प्रतिकूल भी हो जाती है ? अर्थात् ईश्वर जीवों को दुर्बुद्धि भी देता है ? इससे तो ईश्वर ने जीवों को दुर्बुद्धि दे के जान बूझ कर नरक को भेजने का प्रयत्न किया, धन्य है आप के **सृष्टि कर्ता दयालु ईश्वर को !** दयालु हो तो ऐसा ही हो ।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से बध कराना व उस घातकी मनुष्य को राज्यद्वारा प्राणनाशक कठोर दंड दिलाना यह कार्य ईश्वर के लिए कितनी बहादुरी का है ! धन्य है आप के ईश्वर को व ईश्वरीय इच्छा को ! यदि कहा जाय कि एक कार्य तो ईश्वर ने किया और दूसरा कार्य जीव ने किया यह ठीक नहीं है क्योंकि जीव ईश्वरीय इच्छा के सिवाय कुछ करही नहीं सक्ता तो फिर जीव ने कैसे किया और यह दिखाना अनुचित नहीं होगा कि सर्वशक्तिमान जगन्नियन्ता ईश्वर को किस युक्ति से मानते हैं ! एक स्थल पर तो सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा से कर्म किया और दूसरे स्थल पर जीव ने स्वकर्मानुसार किया यह भी खूब पूर्वापर विरुद्ध वचन है !

एक स्थान पर लिखा है कि परमेश्वर ने अपने आप में विचार किया कि मैं सकल संपूर्ण पदार्थों को उत्पन्न करूं; इस विचार के पूर्ण करने को तपस्या की, तदनन्तर सकल पदार्थों के मूल कारण को उत्पन्न किया और उनको अपना आत्मा दिया इस प्रकार से संपूर्ण पदार्थ उत्पन्न हुए। अब यह परामर्श करने का स्थान है कि निराकार ईश्वर ने किस शरीर से तपस्या की और अपना आत्मा कैसे दिया ? सकल पदार्थों के मूल कारण को किस सामग्री से बनाया ! तपस्या किसके प्रीत्यर्थ की ? क्योंकि तपस्या का फल कोई देनेवाला होगा, तभी तो ईश्वर को तपस्या करनी पड़ी होगी ! जैसे हम तुम किसी भी देवता के आराधन के लिये तपस्या करते हैं तो वह देवता उस तपस्या का फल देता है तद्वत् ईश्वरने तपस्या की तो उसका फ़ल देनेवाला भी कोई होना ही चाहिए। और यहाँ पर यह भी शङ्का उत्पन्न होती है कि प्रथम अकेला निराकार ईश्वर ही था और सकल पदार्थ तो ईश्वर ने पीछे से रचे फिर ईश्वर ने किस स्थान

पर बैठ के तपस्या की होगी और उसका फल किस द्वारा प्राप्त हुआ होगा ? जो लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् जगत् का कर्ता हर्ता मानकर भी कोर्ट कचेहरियों में पुलिस कानष्टेबलों के हाथों के धक्के खाते फिरते हैं उस समय उनका सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपने रचे जीवों की रक्षा करने में क्या असमर्थ है ? क्या उस समय ईश्वर का सर्वशक्ति-मान्‌पना नष्ट हो जाता है ? उत्पन्न करने की शक्ति रखना व पा-लन करने में अशक्त हो जाना क्या यह बात सर्वशक्तिमान् जगन्नि-यन्ता ईश्वर को उचित है । सत्यग्राही जन तो तब आपका सर्वशक्ति-मान् ईश्वर स्वीकार करेंगे कि जब ईश्वरवादियों के लिए प्रत्यक्ष में सर्व जीवों के सन्मुख (जो नहीं मानते उनके भी सामने) आकर कहे कि हे मेरे उत्पन्न किए हुए प्राणिगणों ! मैं तुह्मारे लिए उपस्थित हूं, और जो मेरे को सर्वशक्तिमान् जगत् कर्ता ईश्वर नहीं मानते उनके लिए मैं उपस्थित नहीं हूं । परंतु ऐसा तो दृष्टिगत नहीं होता जो लोग जगन्नि-यन्ता ईश्वर स्वीकार करते अथवा नहीं करते हैं उन दोनों के लिए सांसारिक संपूर्ण बातें एक समान दृष्टिगत होती हैं फिर आपके जगत्‌कर्ता ईश्वर को सर्वशक्तिमान् हम किस न्याय से कहैं। कितने कहते हैं कि ईश्वर अखण्ड ब्रह्माण्ड में व्यापक है ।

"जले विष्णुः स्थले विष्णुराकाशे विष्णुमालिनी ।
विष्णुमालाकुले लोके नास्ति किंचिदवैष्णवम्" ॥

भावार्थ—जल में विष्णु, स्थल में विष्णु, आकाश में विष्णु, जो कुछ है वह विष्णु ही की पङ्क्ति माला अर्थात् सर्व लोक विष्णु ही की माला (पङ्क्ति) करके भरा हुआ है अतएव ऐसी कोई भी वस्तु संसार में नहीं है कि जो विष्णु का रूप नहीं है ।

ईश्वर को ऐसा संपूर्ण घट पटादि पदार्थों में व्यापक स्वीकार कर-ने से ईश्वर की अखण्डता नष्ट हो जायगी और ईश्वर खंड खंड हो जायगा व ईश्वर को सर्वव्यापी मानने से अनेक दोष आते हैं जीवों में व्यापक होने से निर्लेपता नष्ट होकर कर्मरूपी मैल ईश्वर को लगना

उचित है व जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख का भी भागी होना होगा, निरावरणता नष्ट होकर सावरणता प्राप्त होगी इत्यादि अनेक दोष प्राप्त होने का संभव है, ऐसा कौन मूढ़ है कि जो उत्तम पद को त्याग अधम पद प्राप्त करने की इच्छा करेगा ! ईश्वर संपूर्ण सुखमय होकर उसको संसार के दुःखों में आकर फसने की क्या बुद्धि हुई ! क्योंकि जीव स्वतः परम पद अर्थात् ईश्वरपदाभिलाषी होकर ज्ञान भक्ति आदि करता रहता है और सांसारिक बन्धन से मुक्त होना चाहता है, परंतु आपके वचन तो बडे ही आश्चर्यजनक हैं, धन्य है ! आप के कर्ता हर्ता ईश्वर को कि जो स्वतः **सांसारिक दुःखो में भाग लेने को विभक्त होता है !**

कितनेक कहते हैं कि यह **संसार ईश्वरीय विभूति है** अर्थात् जीव ईश्वर का अंश है इस वाक्य से यह ध्वानित होता है कि जीव और ईश्वर में अंशांशी भाव संबन्ध है। यदि क्षण भर के लिए कदाचित् ऐसा ही मान लिया जाय तो जीव ईश्वर के सदृश होना चाहिए ! क्योंकि अशांशी में भेद नहीं हो सक्ता। सारांश यह कि ईश्वर के तुल्य जीव को भी निर्मल होना चाहिए ? यदि जीवों को निर्मल स्वीकार करेंगे तो कर्म रूप मल लगाने का क्या प्रयोजन हुआ ? ईश्वर जीव को अपना अंश जानते भी कर्म रूप मल लगाता है यह कितना आश्चर्य है और जीव ईश्वर का अंश होने से नरकगामी ईश्वर भी हुआ। सुखी हो वह भी ईश्वर और दुःखी हो वह भी ईश्वर, संसार परिभ्रमण करै वह भी ईश्वर, इससे तो सिवाय ईश्वर के कोई भी स्थल शून्य नहीं ठहरा। यदि ऐसा है तो **वैर, विरोध, कलह, सुख, दुःख, दीन, दरिद्री, पापी, हत्यारा** इत्यादि **सब ईश्वरही ठहरा,** कर्ता भी वही और भोक्ता भी वही। **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्रादि** में ईश्वर व्यापक है तो फिर ब्राह्मण को उत्तम और चाण्डालादिक को नीच मानने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि ईश्वर तो सर्व जीवों में व्यापक है। आश्चर्य है कि अपने अंश को घात करनेवाला ईश्वर आपही है ! यह विचारने का स्थान है कि स्वतः अपने अंशो को घात करने से घातकी ठहरा, और घातक रूप कलंक युक्त स्वतः ही है तो दूसरों के कलंक दूर करने की सामर्थ्य

कहां से आई, स्वतः दरिद्री होकर अन्य को धनाढ्य किस प्रकार कर सक्ता है ? कभी नहीं कर सक्ता। तद्वत् आपका ईश्वर भी अन्य का कलङ्क दूर नहीं कर सक्ता। ऐसे कलङ्की और अन्यायियों को ईश्वर कहना भी अयुक्त है। अविनाशी को विनाशी, निराकार को साकार, निर्दोषी को दोषी इत्यादि संपूर्ण दोष जगत्कर्त्ता ईश्वर के मानने में प्राप्त होते हैं।

कितने लोगों की यह समझ है कि **सृष्टि का कर्त्ता कोई होना ही चाहिए** क्योंकि संसार की अद्भुत रचना दिखलाई पड़ती है इसका स्वाभाविक होना असम्भव है और कर्मादि जड़ पदार्थों से जगदुत्पत्ति होना संभव नहीं है अतएव जगत् ईश्वरकृत कृत्य होना संभावित है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहना चाहिये कि यदि आपके कथन से क्षण भर ऐसा मान भी लेवें तो ईश्वर प्राणियों का **कारण** हुआ और सब पदार्थ ईश्वर के **कार्य हुए** अतएव ईश्वर **पिता** और सब पदार्थ **पुत्ररूप** मानना पड़ेंगे यदि ईश्वर को पिता मानें तो सब पदार्थों पर ईश्वररूप पिता का **प्रेम होना** उचित है और सब संसार के प्राणियों को सुखी रखना पिता का धर्म है परन्तु संसार में तो अनेक **दुःखी** भी दिखाई पड़ते हैं, कितनेही पापी, कितनेही पुण्यवान, कितनेही धर्मी अधर्मी, मनुष्य हैं यह किस प्रकार हो सक्ता है ? क्या यह बात पिता के योग्य है कि पुत्रों को दुःख दे ? यहां पर यदि कोई यह कहे कि **लायक** पुत्रों को सुख देता है और **नालायकों** को दुःखी करता है तो इसके प्रत्युत्तर में कहना चाहिये कि लायक नालायक होने की बुद्धि का दाता भी तो आप ईश्वर को ही मानते हैं फिर एक को लायक बुद्धि देना और दूसरे को नालायक बुद्धि देना यह ईश्वर के लिए कितना अनुचित है ? ईश्वर प्रवर्तक होकर कई जीवों को कुबुद्धि देकर नरक का भागी बना देता है और कई जीवों को सुबुद्धि देकर स्वर्ग का भागी बना देता है इसमें दुर्गति में जानेवाले जीवों ने ईश्वर की क्या **हानि** की थी और सुगति में जानेवालों से ईश्वर को क्या **लाभ** हुआ ? यदि इसका उत्तर देने को असमर्थ होते भी अपना हठ नहीं त्याग सक्के तो धन्यवाद है आपको ! आपके ईश्वर हों तो ऐसेही हों।

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के स्वीकार करनेवाले सज्जन यह नहीं परामर्श करते कि ईश्वर को संसार की रचना करते समय ऐसी क्यों दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई कि संसार की रचना के करने के साथ ही अनेक मत मतान्तर भी रच दिए, क्या उसने यह नहीं जाना था कि अनेक मत मतान्तर रचने से मुझे कोई अच्छा कहेगा और कोई बुरा। अनेक मनुष्य शिव-विष्णु की पूजा अर्चा करते हैं और अनेक यवनादि मनुष्य उन्हीं शिव-विष्णु की निन्दा करते हैं। संसार में अनेक शाक्त और अनेक शैव तथा अनेक कौलिक मत धारी हैं, कोई गाणपत और कोई वैदिक हैं इस प्रकार अनेक मत मतान्तर रचकर संसार में निरर्थक परस्पर कलह, कदाग्रह बढ़ाकर ईश्वर ने क्या लाभ उठाया ? क्या सृष्टि रचयिता इस बात से अज्ञ था ? कि अनेक मत मतान्तर रचने से कोई मेरे को धिक्कार देंगे और कोई अच्छा भी कहेंगे। अतः सिद्ध हुआ कि जगत् ईश्वर का रचा हुआ नहीं है किन्तु अनादि है।

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर स्वीकार करनेवाले यह भी कहते हैं कि बुद्धि ईश्वरदत्त है इस पर हम पूछते हैं कि एक गौ की पूजा करता और दूसरा अर्थात् यवनादिक गाय का बध करता है यह दोनों को बुद्धि ईश्वर ने दी या दूसरे ने ? बतलाइए जब बुद्धि का प्रेरक ईश्वर है तो एक को सुबुद्धि देना और दूसरे को नष्टबुद्धि देना क्या ईश्वर के लिए न्याय है ? इसलिये उपर्युक्त आपका कहना भी अयुक्त है।

जो लोग यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि का अधिपति ईश्वर ही है और जगत् उसका ऐश्वर्य है इसीसे ईश्वर को ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, जो ऐश्वर्यवान हो वही ईश्वर कहा जा सक्ता है, इसके प्रत्युत्तर में विदित होकि जगत् का आधिपत्य लेने से ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? जगत्रूप ऐश्वर्य ईश्वर को किस लिए चाहिए था ? क्या जगदुत्पत्तिरूप ऐश्वर्य को जगन्नियन्ता ईश्वर ने भूतपूर्व कभी प्राप्त नहीं किया था ? जगदुत्पत्ति के प्रथम ईश्वर के समीप ऐश्वर्य नहीं था ?

प्राप्त होने के प्रथम अनीश्वर था ? क्या सृष्टि रचने से ही ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ? जो ईश्वर को ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है वह किसी का दिया हुआ है या स्वतः उत्पन्न हो गया ? यदि ऐश्वर्य किसी का भी दिया हुआ मान लिया जाय तो देनेवाला कौन ? यदि स्वतः उत्पन्न होना मानोंगे तो किस रीत्यनुसार और किस स्थान पर प्राप्त हुआ ? यदि जगन्नियन्ता स्वीकार करनेवाले ऐसा कहें कि द्रव्य से मनुष्य धनाढ्य कहलाता है और प्रजा से राजा कहलाता है तद्वत् जगत्‌रूप ऐश्वर्य से ईश्वर कहलाता है इसके उत्तर में आप स्वतः विचार करें कि जब जगत् के ऐश्वर्य से ईश्वर कहलाता है तो सृष्टि के प्रलय हो जाने पर ऐश्वर्य नष्ट भी होजाना चाहिए ? जैसे धनाढ्य का धन चले जाने से धनाढ्यता नष्ट हो जाती है अर्थात् फिर वह धनाढ्य के स्थान पर दीन दरिद्री कहलाता है तद्वत् ईश्वर को भी **अनीश्वर** स्वीकार करना होगा ? और साथ ही साथ यह भी कहना होगा कि **कभी ईश्वर हैं और कभी अनीश्वर है**, अतः सिद्ध हुआ कि जगन्नियन्ता ईश्वर जगत् का **अधिपति नहीं है** ।

कितने लोगों का कहना है कि सृष्टि की उत्पत्ति के प्रथम ईश्वर ने ऐसा **सङ्कल्प** किया कि मैं अपनी सामर्थ्य प्रकट करूँ—

"एकोऽहं बहु स्याम"

भावार्थ—मैं एक से अनेक बनूं । ईश्वर को सृष्टि रचना करने का यही प्रयोजन था इसलिये सृष्टि निर्माण की, यदि ऐसा है तो स्मरण रहे जहाँ **संकल्प** है तहाँ **बिकल्प** भी है, अतः आपका **ईश्वर संकल्प विकल्प सहित** ठहरा ? संकल्प विकल्पमय सिद्ध होने से उसको सर्वथा **ईश्वर नहीं कह सक्ते** । जो ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य प्रकट की वह किसको बतलाने को की ? और **"मैं अपनी सामर्थ्य प्रकट करूं"** ऐसी इच्छा जीवबुद्धि को होना उचित है अतः आपका ईश्वर जीवबुद्धि ठहरा, और जीवबुद्धि होने से उसको **सर्वज्ञ कहना अयुक्त है**, क्योंकि ईश्वर होकर सामर्थ्य प्रकट करना न करना इत्यादि कार्य तो देहधारी

को होना चाहिए ! किन्तु आप तो अदेहधारी मानते हैं। जिसको संशय शत्रु ने घेरा है और संकल्प विकल्प करता है उसको जो मनुष्य सर्वज्ञ कहता है वह केवल हठबाद के सिवाय कुछ नहीं करता ! ईश्वर को सामर्थ्य दिखाकर किसी के पास से इनाम प्राप्त करना था ! यदि कहोगे कि नहीं; तो वृथाही आपके परमेश्वर ने इतना परिश्रम क्यों किया ? एकसे अनेक रूप होने में ईश्वर को क्या लाभ हुआ ? क्या **सांसारिक जीवों से प्रशंसापत्र** (Certificate) प्राप्त करना था ? और जो यह कहना है कि सामर्थ्य प्रकट करने के लिये जगदुत्पति की है तो यह कथन भी नितान्त असत्य है क्योंकि किसको बतलाने के लिये सामर्थ्य प्रकट किया और किसको बतलाने को सृष्टि उत्पन्न की ! क्या उस समय कोई दूसरा ईश्वर का मित्रादि विद्यमान था ! जिसको बतलाने के वास्ते इतना भारी खेद उठाना पड़ा, आपलोगों का मन्तव्य तो यह है कि संपूर्ण पदार्थ ईश्वर के रचे हुए हैं, फिर सामर्थ्य बतलाने के लिए सृष्टि निर्माण की यह कथन आप का पूर्वापर विरोध से भरा है या नहीं ? ईश्वर को सामर्थ्य बतलाने की इच्छा कभी नहीं होना चाहिए अतएव यह भी आप का हेतु ठीक नहीं है।

कई महाशयों का यह भी अभिप्राय है कि **ईश्वर का जगत् रूप शृंगार है,** यह उसने अपना रूप विस्तार किया है, संसार रूप अपना मुख देख अपने ही मन में आप आनंदित होता है। इसका प्रत्युत्तर यह है कि इस कथन से तो ईश्वरवादी जी ! आप के ईश्वर ने अपना स्वयं ही स्वरूप विगाड़ लिया, क्योंकि **मार्जार, बराह, अज, महिषादि,** नाना प्रकार के रूप जितने हैं सभी उसीके रूप जानने चाहिए ?

कितने कहते हैं कि–

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१॥

भावार्थ–एक ही भूतात्मा अर्थात् ईश्वर, प्राणीमात्र में पृथक् पृथक्व्यवस्थित होता है, जैसे जलभरे पात्रों में चंद्र के प्रतिबिम्ब

पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ते हैं तद्वत् ईश्वर भी घट घट व्यापी है। तात्पर्य-ईश्वर बिम्ब है और जीव प्रतिबिम्ब है। परंतु यह कहना भी अज्ञता से भरा है क्योंकि बिम्ब के सदृश प्रतिबिम्ब होता है, जैसे द्वितीया का चंद्रमा धनुषाकार छोटा होता है तो जल में भी उसका वैसाही धनुषाकार छोटा ही प्रतिबिम्ब दीखता है और पूर्णिमा का चंद्र स्थाली के आकार गोल होता है तो जल में भी प्रतिबिम्ब वैसाही गोल दृष्टिगत होता है, अथवा कांच के भवन (आदर्श भवन) में जो कोई मनुष्य प्रवेश करे उसका जैसा बिम्ब होगा वैसाही प्रतिबिम्ब चारो ओर नजर आवेगा तद्वत् ईश्वर का प्रतिबिम्ब संसार को स्वीकार करने से स्पष्ट विरोध आता है, क्योंकि कोई सुखी कोई दु:खी, और कोई पापी कोई धर्मी इत्यादि नाना प्रकार की विचित्रता संसार में दिखलाई पड़ती है, अतएव संसार को ईश्वर का प्रतिबिम्ब किस हेतु से माना जाय क्योंकि यह स्वाभाविक नियम है कि बिम्ब की सादृश्य प्रतिबिम्ब में होना ही चाहिए जैसे ईश्वर को अविनाशी मानते हो तद्वत् संसार को भी अविनाशी स्वीकार करना योग्य होगा। जैसा ईश्वर कर्मरहित है तैसे जीवों को भी कर्मरहित होना चाहिए ? तो ऐसा तो दिखाई नहीं देता इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर का प्रतिबिम्ब जगत् नहीं है। ईश्वर सुखमय है और संसार दु:खमय है, देखिये ? यह प्रत्यक्ष विरोध आता है इस से आपका कहना असत्य हुआ।

कई महाशयों का यह अभिप्राय है कि चराचर में आत्मा (ईश्वर) एकही है और पुद्गल भिन्न भिन्न हैं।

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१॥

भावार्थ—जिसके सब जगह पर हाथ, पग, आंख, शिर, और मुख है और सब स्थान पर जिसके कान हैं सब और संपूर्ण पदार्थों में व्यापक हो के रहता है सब और संपूर्ण वृत्तियों (व्यवहारों) का स्थान हो के ठहरा हुआ है। तात्पर्य-गरुड से आदि लेकर कीटिका पर्यन्त सब और संपूर्ण पदार्थों में

आत्मा एकही है । यदि ऐसा हो तो एक व्यक्ति के पाप करनेपर सारे संसार को लगना चाहिए ? और एक जीव मुक्त हो जाने से संपूर्ण संसार का मोक्ष हो जाना चाहिए ! एक प्राणि के बंधनयुक्त होने से सारे संसार को बंधयुक्त होना चाहिए ? भिन्न भिन्न, जीवों का अनुष्ठान (क्रिया) भी निष्फल होना चाहिए । परंतु यह बात तो दिखाई नहीं देती और पापी धर्मी, देव, नरक, ऊँच, नीच, चाण्डाल, ब्राह्मण, राजा, प्रजा, चोर, साहूकार, पिता, पुत्र, माता, स्त्री, पुरुष, भाई, बहिन इत्यादि भिन्न भिन्न कैसे दिखाई पड़ते हैं अतः सिद्ध हुआ कि सब संसार में **आत्मा एक नहीं किन्तु अनेक है ।**

कितने कहते हैं कि जितने कार्याकार्य होते हैं वे सब **ईश्वरीय इच्छा** से होते हैं—

"ममेच्छा कापि नास्ति ईश्वरेच्छा प्रवर्त्तते"

यदि ईश्वरीय इच्छा से ही कार्याकार्य का होना मान लिया जाय तो विष खाने से मृत्यु, और धान्य भक्षण करने से क्षुधा की शान्ति, जल से तृषा की निवृत्ति, अग्नि से शीतहरण, ताप से खेदोत्पत्ति, वर्षा से धान्योत्पत्ति, द्वेष से वैरोत्पत्ति, नम्रता से स्नेहोत्पत्ति, चोरी से ताडन, पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग इत्यादि **कारण और कार्य** निरर्थक हो जायँगे, और जितने पदार्थ हैं वह सब अपने गुण दोषों से रहित मानना होगा, क्योंकि ऐश्वरीय इच्छा से ही संपूर्ण कार्याकार्य मान लिए जायँ तो राग करनेवाला स्नेही और द्वेष करनेवाला शत्रु यह कहना अनुचित होगा, क्योंकि राग द्वेष भी ईश्वरीय इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं । संपूर्ण कार्य करने का मूल कारण एक ईश्वरीय इच्छा होने से पाप पुण्य का करनेवाला, और भोगनेवाला ईश्वर ही ठहरा ? यदि ऐसा है तो किसी को पापी, किसी को धर्मी कहने से क्या प्रयोजन है ? और आपका शुद्ध, जगन्नियन्ता ईश्वर कार्य के साथ में अकार्य भी जब करता है तो डाकू लुटेरे आदि की उपमा उसको देना भी अनुचित न होगा, और उसके उत्पन्न किए हुए जीव अकार्य करने में प्रवृत्त हों तो उस में

आश्चर्य ही क्या ! धन्य है आपके ईश्वर को और आपको ! परंतु याद रखिये ईश्वर कभी अकार्य सुकार्य नहीं करता वह निरन्तर निर्दोष है अतएव सिद्ध हुआ कि **कार्याकार्य होते हैं वे ईश्वर की इच्छा से नहीं** किन्तु **शुभाशुभ कर्मों से** होते हैं।

कितने सज्जन यह सिद्ध करना चाहते हैं कि **सृष्टि के आदि में जीव के शरीर और सांचे को बनाना ईश्वराधीन है** पश्चात् पुत्रादि सन्तति उत्पत्ति करना **जीव का कर्तव्य है** देखिए ! क्या जगत्कर्ता स्वीकार करनेवाले सज्जन ! इतने में ही थक गए !! और फिर ऐसा भी कहते हैं कि नाना प्रकार के कर्म जीव किया करते हैं उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है अतः ईश्वर की प्रेरणा विना जीवों से कर्म नहीं हो सक्के। **देखिए !** यह कथन कितना पूर्वापर विरोध से भरा हुआ है एक स्थान पर कहना कि सृष्टि के आदि में जीव के शरीर का सांचा बनाना ईश्वराधीन है और दूसरे स्थल पर कहना कि नाना प्रकार का जीव कर्म करता है उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है और दूसरे के **तर्क-ताप से बचने के लिये** किसी स्थल पर यह भी कह देते हैं कि **जीव जैसा करता है वैसा पाता है** देखिए ! ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवालों के आप्त वाक्य में कैसा न्याय भरा है ? यदि नाना प्रकार के जीव कर्म करते हैं उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है तो कर्मों का कर्ता भी ईश्वरही ठहरेगा क्योंकि क्रिया का प्रेरक ही कर्ता हो सक्ता है और जो कर्ता हो वही भोक्ता होना चाहिए, कर्ता के सिवाय भोक्ता अन्य नहीं ठहर सक्ता, और कर्ता भोक्ता ईश्वर को मानने से पाप पुण्य भी ईश्वर ही को लगना उचित है, जैसे किसी एक मनुष्य ने यष्टिका (लकड़ी) से किसी एक पुरुष को मारा, उसका पाप लकड़ी को कभी नहीं लग सक्ता, बल्कि मारनेवाले को ही लगा यह कहना होगा; तद्वत् जीव के किए हुए पाप पुण्य का प्रेरक ईश्वर होने से पाप पुण्य का भागी ईश्वर को ही मानना होगा, क्योंकि कर्म का कर्ता जीव तो यष्टिका के तुल्य है **"कर्ता भोक्ता महेश्वरः"** इस बात से सिद्ध हुआ कि जीव कुछ करता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं जब कर्ता भोक्ता जीव नहीं है

तो स्व स्व धर्मानुसार जो जो मनुष्य स्नान, सन्ध्या, मद्य मांस परित्याग, तप, जप, नियम, ध्यान, दान इत्यादि अनेक प्रकार के अनुष्ठान, पाप निवारण के लिए करने का कष्ट क्यों उठाते हैं और प्रायश्चित्तादि भी लेना वृथा ही होगा ? और सज्जन दुर्जन भी किसी को कहने की आवश्यकता नहीं है ? और कर्ता भोक्ता ईश्वर को कहने से हर्ष, शोक भी जीव को नहीं किन्तु ईश्वर ही को होता समझना चाहिए ! और जो यह कहावत है कि **"जैसा करेगा वैसा पावेगा"** यह सत्य नहीं है क्योंकि जब कर्ता भोक्ता ईश्वर है तो जीव क्योंकर पावेगा क्योंकि क्रिया का प्रेरक ईश्वर है। अनेक मनुष्यों के वृन्द हाथ जोड़ के भक्तिपूर्वक ईश्वर की प्रार्थना करते हैं कि **"हे प्रभु ! हमारे पाप आप निवारण करो !"** ऐसी प्रार्थना के स्थान पर ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि **"हे परमेश्वर तुम ही कर्ता और तुमही भोक्ता हो तुम्हारे किए पाप तुमही भोगो और तुमही अपने दूर करलो"** और कर्ता भोक्ता ईश्वर के होने से प्राणिगण को प्रार्थना करने की भी आवश्यकता नहीं है। जगत् का कर्ता स्वीकार करने वालों के आप्त ग्रन्थों में कहा है कि पाप दूर करने के लिये ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिये और कर्ता भोक्ता इश्वर को कहकर एक प्रकार से मनुष्यों को भ्रमजाल में फसाने का साहस करना है, अतएव सिद्ध हुआ कि कर्ता भोक्ता ईश्वर नहीं किन्तु जीवही है।

जगत् कर्ता ईश्वर स्वीकार करने वालों का कहना है कि–

"सर्वज्ञ ईश्वरः"

वेदादि शास्त्रों में जगतकर्ता ईश्वर को सर्वज्ञ माना है, यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर सर्वज्ञ है तो अपने प्रतिपक्षी रावण, वक्रदन्त, शिशुपालादि राक्षसों को क्यों उत्पन्न किया, यदि कहा जाय कि राक्षसयोनि **ईश्वर की अज्ञता में** उत्पन्न हुई है तो इस वाक्य से आप का जगन्नियन्ता ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता किन्तु **असर्वज्ञ** हुआ, जो संपूर्ण पदार्थों को निरन्तर और संपूर्ण रीत्या जानताही रहे उसी को सर्वज्ञ कहना उचित है परंतु आपके ईश्वर ने तो राक्षसयोनि अज्ञता में उत्पन्न की इससे आप

के ईश्वर में अज्ञता का दूषण आया था नहीं? यदि ऐसा कहेंगे कि ईश्वर ने रावणादि राक्षसों को जान बूझ कर उत्पन्न किया था तो इस पर इस प्रश्न का उद्भव होता है कि राक्षसयोनि के उत्पन्न करते समय क्या ईश्वरने यह नहीं जाना था कि जो राक्षसलोग उत्पन्न होंगे वे मेरे प्यारे देवताओं को दु:खी करेंगे, और फिर देवतालोग मेरा स्मरण करेंगे और मुझे उनकी भक्ति के बश होकर राक्षसों को संग्राम [युद्ध] करके मारना पड़ेगा तथा देवताओं की रक्षा करनी होगी? अब विचारिये कि ईश्वर को राक्षसयोनि उत्पन्न करने से लाभ के स्थान पर हानि भोगनी पड़ी या नहीं? इससे तो राक्षसयोनि को नहीं उत्पन्न करते तो श्रेय था, क्योंकि ईश्वर को अवतार धारण करने का और युद्ध में अतुल बल देखाने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। दूसरी बात यह है कि प्रथम उत्पन्न किया और फिर उनसे युद्ध करके उन्हें मार डाला इससे ईश्वर को क्या लाभ हुआ?

महदाश्चर्य है कि विचारा जगतकर्त्ता ईश्वर उत्पन्न करने का और मारडालने का निरर्थक परिश्रम रात दिन करताही रहता है। उपर्युक्त बातों को विचार करने से विदित होता है कि जगन्नियन्ता ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है किन्तु असर्वज्ञ है।

"ये ये हताश्चक्रधरेण दैत्या-
त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन ॥
ते ते गता विष्णुपुरीं नरेन्द्राः!
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः" ॥

श्लो. २३ पाण्डवगीता.

भावार्थ— चक्रधारी त्रैलोक्यनाथ जनार्दन ने जिन जिन दैत्यों को मारा वे सब विष्णुपुरी [मोक्षपुरी] को गए अतएव ईश्वर का क्रोध भी वर के तुल्य है।

देखिए! ईश्वर ने जितनों को मारा उतने सब मुक्त होगए! तो अपने प्यारे देवताओं और भक्तजनों से भी शीघ्र राक्षसों को विष्णुपुरी देता है। जगत्कर्ता कैसा न्यायशील है इस बात का यह एक नमूना है कि

जो प्रतिपक्षी होकर ईश्वर से युद्ध करते हैं वे शीघ्र मुक्तिपद को चले जाते हैं और जो जीव ईश्वर की भक्ति करनेवाले हैं, अर्थात् भक्तजन हैं उनको मोक्ष देने में ईश्वर विलम्ब करता है अत: इस मन्तव्य को स्वीकार करने वाले सज्जनों को उचित है कि **ईश्वर से भक्ति के बदले शत्रुता करें** कि जिससे शीघ्र मुक्ति हो जाय और जो जो इस मन्तव्य को स्वीकार करनेवाले मित्र भक्ति करते होंगे वे बड़ीही भूल करते हैं, यदि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करना हो तो ईश्वर से प्रतिपक्षी होने का प्रयत्न करें, कदाचित् इसीलिए राक्षसों ने यह सरल मार्ग स्वीकार किया होगा? और जो कहते हैं कि हमारे ईश्वर ने हमको आज्ञा दी है कि **"मेरी भक्ति करो"।** इसपर यह कहा जा सकता है कि सायत तुमको ईश्वर ने वञ्चित करके शीघ्र मुक्त न होने का उपाय बतलाया हो! यदि बुद्धिमान हो तो अपने ईश्वर का कथन कदापि स्वीकार नहीं करना जिससे तुम शीघ्र मुक्त होजाओ। देखिए! सृष्टिकर्ता स्वीकार करनेवालों ने मोक्षप्राप्ति का कैसा उत्तम उपाय शोचा है।

जगत्कर्ता स्वीकार करनेवालों का कहना है कि ईश्वर जब संहार करता है उस समय (ईश्वर) स्वत: पहिले प्रागवट वृक्ष के पत्ते पर जाके **सो जाता** है और जब सृष्टि रचने का विचार होता है तब जागता है। हम पूछते हैं कि जब सृष्टि का प्रलय हुआ उस समय प्रागवट किस स्थान पर जा ठहरा था? प्रागवट सृष्टि में है कि बाहर! यदि सृष्टि के बाहर प्रागवट मानोगे तो यह सिद्ध हुआ कि **सृष्टि के बाहर भी कई पदार्थ** हैं, यदि सृष्टिही में मानते हो तो सृष्टिप्रलय के साथ प्रागवट का प्रलय क्यों नहीं हुआ और प्रलय के समय किस स्थान पर जा ठहरता है? और आप लोगों का यह जो फरमाना है कि पृथ्वी जलमयी हो जाती है फिर उसके ऊपर केवल प्रागवट ही दृष्टिगत होता है यदि ऐसा है तो यह स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी, जल, वट, महाप्रलय के अनन्तर भी रहते हैं, यदि ऐसा आप मंजूर करेंगे तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि ईश्वर ने संहार किन २ पदार्थों का किया? और महाप्रलय किस न्याय से हुआ।

अतः सिद्ध हुआ कि संपूर्ण पदार्थ शाश्वत हैं, क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करने के प्रथम पृथ्वी, जल, प्राग्वट जीव और परमाणु कायम थे तो फिर आपके ईश्वर ने क्या सृष्टि रची। जगत्‌कर्ता तो जब सिद्ध हो कि बिना किसी पदार्थों की सत्ता से स्वतः ईश्वर का सब पदार्थ उत्पन्न करना सद्धेतुद्वारा सिद्ध कर दिया जाय। परन्तु असत्य बात कहां तक सत्य हो। और जो यह कहना है कि महाप्रलय में सो जाता है तो क्या ईश्वर को निद्रा भी आया करती है? क्या ईश्वर सोता जागता भी है? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, आहार, विहारादि दशा देहधारियों को होती है, और आपलोग तो ईश्वर को अदेही मानते हैं इससे आपका मन्तव्य निरर्थक हुआ क्योंकि अदेही का जागना और सोना नहीं बन सक्ता और बिना शरीर के प्राग्वट पर जाना आना सोना भी नहीं हो सक्ता, इसलिए अदेही ईश्वर के लिए यह एक दूषण है और इससे ईश्वर सृष्टि का कर्ता, हर्ता है यह कहना भी असत्य हुआ।

कितनेक लोग कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, और शिव यह त्रिमूर्ति सर्वज्ञ है और संसार में जो कुछ पदार्थ है सो यही है, परंतु हमारी समझ से तो वे सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि शिव ने अज्ञान से पार्वतीपुत्र गणेश का शिरच्छेदन किया। यदि सर्वज्ञ होते तो क्या यह नहीं जान सकते थे कि यह मेरी प्राणवल्लभा पार्वती से उत्पन्न हुआ मेरा पुत्र है? इत्यादि अनेक दृष्टान्त शैव मत के शास्त्रों में मिलते हैं उनके देखने से हम शिव को सर्वज्ञ नहीं कह सक्के।

इधर जब रावण ने सीता का हरण किया उस समय रामचन्द्रजी विष्णु के अवतार और साक्षात् परमेश्वर सर्वज्ञ होकर भी वन के वृक्षों से पूछते फिरे कि—

"भो वृक्षाः पर्वताग्रे बहुकुसुमयुता वायुना धूयमानाः,
सा सीता केन नीता मम हृदयप्रिया कोमला कापि दृष्टा,,

मेरी सीता, किसीने देखी? मेरी सीता, किसीने देखी? ऐसा जब पूँछते फिरते थे उस समय उनकी सर्वज्ञता कहाँ जाती रही थी? कि वे वृक्षादिकों से पूछने लगे?।

और ब्रह्माजी की ओर देखा जाय तो विदित होता है कि जिस समय ब्रह्मा के समीप से राक्षस वेदों को चोरा ले गए उस समय ब्रह्मा की सर्वज्ञता कहाँ गई थी ? यदि ब्रह्मा सर्वज्ञ होते तो वेदों की चोरी कैसे होने देते ? उक्त बातों की ओर निरीक्षण करने से यही प्रतीत होता है कि **ब्रह्मा-विष्णु-शिव सर्वज्ञ नहीं** हो सकते किन्तु उन्हें असर्वज्ञ ही कहना होगा।

कितने महाशय यह फरमाते हैं कि "**ईश्वर ने जल में अपना वीर्य छोड़ा**" उसका अंडा हुआ, उस अंडे के फिर दो विभाग हुए, एक विभाग का नाम **पृथिवी** और दूसरे का नाम **स्वर्ग पड़ा**" देखिये! जगत्कर्त्ता माननेवालों की लीला, कि जब ईश्वर के वीर्य से पृथिवी आदि पदार्थ उत्पन्न हुए तब तो ईश्वर के शरीर भी होना उचित है क्योंकि विना शरीर के वीर्य नहीं हो सक्ता और जो ईश्वर का शरीर सिद्ध हो जाय तो ईश्वर को अदेह निराकार कहना झूठा हुआ यह कितना पूर्वापर विरुद्ध है। जगत्कर्ता ईश्वर मानने वालों में भी **एक मत नहीं है,** कोई ईश्वरवादी कहता है कि हमारा ईश्वर अवतार धारण करता है और अन्य कहता है कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता किन्तु विना शरीर ही सब कार्य कर सकता है। इन बातों को कहाँ तक लिखें यदि ईश्वरवादियों के मन्तव्य का परस्पर विरोध लिखने बैठें तो एक बड़ा ग्रन्थ हो जाय इसीलिए उनकी तर्कों का ही किंचित् परामर्श करना युक्त समझा गया है।

कोई ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर ही जगत् में व्याप्त होकर **क्रीडा** कर रहा है। और कितनेक कहते हैं कि मनुष्यों को जब उद्धार होने का मार्ग नहीं मिला इसलिये वे रोदन करने लगे तब करुणानिधान विश्वपिता उनका रोदन सुनकर **एक ऋषि के हृदय में प्रकट हुए** और वह ऋषि ईश्वरीय शक्ति में बलवान् होकर खड़ा हुआ और विश्ववासियों को कहने लगा, हे विश्ववासीजनों ! श्रवण करो ! मैंने उस अनादि पुरातन परमपुरुष को जाना है। आदित्य के समान तो उसका वर्ण है, और अज्ञानी लोग उसका स्पर्श नहीं कर सक्के। उसके जानने से तुम

लोग मृत्यु के हाथ से छूट जाओगे, इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। धन्य है ईश्वरवादियों की तर्कों को! कोई २ ईश्वरवादियों ने ऐसा विचार किया कि यदि हम कहेंगे कि हमारे शास्त्र ईश्वर के रचे हुए हैं तो लोग इस बात को तोड़ देंगे कि "अदेह ईश्वर ने किस मुख से शास्त्र रचे?" इस लिये यह कहना चाहिये कि ईश्वर ने ऋषियों के आत्मा में वेदों का प्रकाश किया। ईश्वरवादी यह खूब उत्तम पाठ पढ़े हैं? ईश्वर ऋषियों[1] के आत्मा में प्रकाश करे अर्थात् भूत प्रेत की तरह प्रकाश करे किंवा बोले यह ईश्वरवादियों के घर का ही न्याय है इस बात को पाठक! सोचें।

कितने लोग ब्रह्मा, विष्णु, और शिव को ईश्वरीय अवतार मानते हैं, और यह भी कहा करते हैं कि यही साक्षात् ईश्वर हैं क्योंकि ब्रह्मा जीवों की उत्पत्ति करता है, विष्णु पालन-पोषण करता है और शिव संहार करता है इसलिये संसार त्रिगुणात्मक [त्रिगुण-मय] है। अब प्रथम तो इन देवताओं के बारे में इनके ही मत के परम विद्वान् महर्षि भर्तृहरि क्या फरमा रहे हैं उसे सुनिये:—

"शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते! कुसुमायुधाय"॥१॥

भावार्थ—जिस कामदेव ने शंभु, विष्णु, ब्रह्मा को स्त्रियों का दास बना दिया है ऐसे अगोचर चरित्र वाले कामदेव को नमस्कार हो अर्थात् मैं (भर्तृहरि) नमस्कार करता हूँ।

---

१ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः-सामलक्षणम्॥ मनु० इस श्लोक का कितनेक यह अर्थ करते हैं कि परमात्मा ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि, वायु, सूर्य, अंगिरा, इन चार ऋषियों के आत्मा में प्रकाश किया और उक्त ऋषियों के द्वारा वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये। परन्तु यह अर्थ इस श्लोक में से नहीं निकलता।

महाशय ! आप के जगत्कर्ता हर्ता त्रिगुणात्मक अवतारों के संबन्ध में भर्तृहरि जी का अभिप्राय तो आप को उक्तश्लोक से विदित हुआ होगा। आश्चर्य है कि जगत् के कर्ता हर्ता होकर भी जब कामदेव के वशीभूत होगए, तो जो कामी क्रोधी होगा वह दोषरहित कैसे हो सकता है ?

दैत्यों की छाती पर पग रख कर रौद्र रूप से सशस्त्र खड़े हैं ऐसे देवों को शान्त, दान्त, समाधिस्थ कौन कह सकता है ! यदि तटस्थ होकर देखा जाय तो उक्त देव सर्वज्ञ किंवा राग द्वेष रहित नहीं कहे जासकते । और सृष्टि के कर्ता हर्ता भी उनका मानना सर्वथा अनुचित होगा । पक्षपाती जन चाहे बेशक ! मान लें क्योंकि मानना अपने २ मन पर निर्भर है । परंतु न्यायशील मनुष्य तो न्याययुक्तही बात को स्वीकार करेगा । प्रस्तुत भारतवर्ष में अनेक धर्म दिखाई देते हैं । कोई लोगों की यह समझ है कि, वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म प्राचीन है और दूसरे सब धर्म इन दोनों से पीछे स्थापित हुए हैं और जैन धर्म बौद्धों की शाखा किंवा बौद्धों के समान होने से बौद्ध के समकालीन माना जाय तो कुछ हर्ज नहीं। इस बात में हमारी समझ से ऐसे ज्ञान रखनेवालों की पूरी भूल है क्योंकि जैनधर्म इन दोनों (वैदिक बौद्ध) धर्मों से भी बहुत प्राचीन है यह बात हम सप्रमाण प्रथम लिख आये हैं इसलिये यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है । जैनधर्म को बौद्धों की शाखा किंवा बौद्धों के समान समकालीन मानना अज्ञता का सूचक है। हाँ, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि द्वैतवादी, वेदान्ती, सांख्य,[१] पातंजल, जैमिनीय, काणाद, गौतमीय, रामानुज, वल्लभ, माध्व, गुरु नानक, कबीर. आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, स्वामीनारायण इत्यादि मतों की गणना विशेष करके वैदिक मत में ही हो सकती है और उक्त पंथों को वेदों की शाखारूप किंवा वैदिक धर्म के पीछे के कहने से कोई हर्ज नहीं । यद्यपि उक्त पंथों का मन्तव्य वेदों से कुछ कुछ नहीं भी मिलता और ग्रंथ भी प्रत्येक पंथ वालों ने

---

१ प्राचीन सांख्य आदि कोई २ दर्शन वाले ईश्वर को नहीं भी मानते हैं

अपने अपने अलग २ बना लिये हैं, तथापि अंत में वेद, उपनिषद, श्रुति, स्मृति इत्यादि ग्रंथों के ही शरण जाते हैं इसलिये उक्त पंथों को वेदानुयायी धर्म कहा जाय तो कुछ क्षति नहीं है। क्योंकि वैदिकों ने सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माना है और उक्त पंथ वालों ने भी सृष्टि का कर्ता ईश्वर कोही माना है परंतु सृष्टि रचना के संबंध में थोड़ा बहुत परस्पर मत भेद सभी में है। वेदों में ही जब सृष्टि रचना का एक मत नहीं है (और यह बात हम प्रथम सप्रमाण लिख भी आये हैं) तो वेदों के अनुयायी मतों में सृष्टि निर्माण का परस्पर मत भेद हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उक्त पंथों में परस्पर कितनी ही बातों का जो मत भेद है, उस ओर हम इस समय विचार करना नहीं चाहते, बल्कि हम इस जगह इस बात की विशेष जरूरत ही नहीं समझते क्योंकि यहां पर तो हम केवल जगत्कर्ता के संबन्ध में, अथवा जगत् कर्ता मानने वाले दर्शनों के संबन्ध में उचित शब्दों से ही विचार करना योग्य समझते हैं। दूसरों पर झूठा आक्षेप करना अपनी लेखनी को कलङ्कित करना है, अपशब्द लिखने से लेखक कभी बहादुर नहीं कहा जासकता, और न हम यह पद्धति पसंद करते हैं। परंतु जब जिस बात की समालोचना की जाती है तो उस बात में (अर्थात् प्रतिपक्षी शास्त्रों में) जो जो शब्द अथवा वाक्य आयें वे यदि कारण वश हमे लेने पड़ें तो इस बात में हम सर्वथा दोषी नहीं ठहराये जासकते, क्योंकि हम अपनी ओर से लिखें तो दोषी बनें। यदि प्रतिपक्षियों के वाक्य न लेवें तो आलोचना में त्रुटि मालूम हो इसलिए यदि ऐसी सम्हाल करने पर भी पाठकों को कहीं अनुचित मालूम हो तो क्षमा करें।

जिनको सृष्टि ईश्वर रचित मानने का हठ है उनके लिये सर्वशक्तिमान् ईश्वर के संबन्ध में, और ईश्वरीय अवतारों के संबन्ध में, थोड़ा लिखना उचित समझा गया है:—

"वेदैः पुराणैः स्मृतिभिश्च येषां,
मनांसि नित्यं परिगर्वितानि।
पृच्छामि संदेहपदानि तेषां,

समीपतः शास्त्रविरोधभाञ्जि" ॥१॥

भावार्थ—वेद, पुराण, और स्मृतियों के कथनों से जिनका मन गर्वित हुआ हो उनसे ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं कि जो विचार करने के योग्य हैं।

"ब्रह्माऽपि पुत्रीमवसम्वदात्मा,
वृद्धोऽपि किं स्वां चकमे न मोहात्;
पीनस्तनीभिः सह गोपिकाभिः
लक्ष्मीपतिः सोऽपि चिरं चिखेल" ॥२॥

भावार्थ—देखिए! "ब्रह्माजी ने विकारवश होकर अपनी पुत्री की ओर कुदृष्टि से देखा"। यहां विचार करने का स्थान है कि ब्रह्माजी ऐसे सृष्टिकर्ता महर्षि को अथवा ईश्वरीय अवतार को ऐसा अयोग्य कर्तव्य करना क्या उचित था? कितने लोग इस बात को छिपाने के लिये ऐसा भी कहते हैं कि प्रजापति नाम सूर्य और सूर्य की पुत्री उषा है। वेदों में जिस जिस स्थान पर ऐसा लिखा है उस स्थान पर ऐसा समझना चाहिए कि सूर्य उषा के पीछे चलता है। हमारी ओर से वे चाहे जैसा अर्थ क्यों न करें इसमें हमारी यत्किंचित् भी क्षति नहीं है परन्तु उक्त श्लोक से क्या भावार्थ ध्वनित होता है यह पाठक समझ लें! इधर विष्णु अथवा विष्णुअवतार षोडशकलापरिपूर्ण श्रीकृष्णजी की लीलाओं की ओर देखा जाय तो गीतगोविन्दादि काव्यों में और भागवतादि पुराण ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि गोकुल ग्राम की गोपियों के अधरामृत से और उनके उतुङ्ग स्तनकलशों को आलिङ्गन करने की क्रीडा से कृष्णजी का मन हर्षित होता था। इधर शिवजी के वृत्तान्त की ओर अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि:—

"स नीलकण्ठस्त्रिपुरस्य दाहं,
कोपाद्वितेने गगनस्थितस्य;

पूषाऽन्धकादींश्च मृधे जघान,

मुक्तिप्रदः स्यात् कतमस्त्वमीषु" ॥३॥

भावार्थ—नीलकण्ठ [शिवजी] ने क्रोध में आकर, जो राक्षसों के आकाश में तीन नगर (त्रिपुर) थे उन्हें जला दिया (भस्म कर दिया) और पूषान्धकादि दैत्यों को युद्ध में मार डाला। बतलाइए ! उपर्युक्त गुणवाले आपके त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मुक्ति पद को कैसे दे सकते हैं ? नहीं दे सकते और जगत्कर्ता भी नहीं कहे जा सकते। इसलिये आपलोग ईश्वर को जगत्कर्ता मानकर बड़ी भूल में पड़े हैं। क्योंकि जो काम, क्रोध, लोभ और मोह से युक्त हो वह किस न्याय से ईश्वर कहा-जासकता है ? कभी नहीं। देखिए आपके मत के महार्षि भर्तृहरि ने भी कर्म को प्रधान मान कर समस्त देवताओं को उसके वशीभूत माना है:-

"नमस्यामो देवान्नुनु हतविधेस्तेऽपि वशगाः

विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना,

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति"॥९५॥

भावार्थ—हम इन्द्रादिक देवताओं को नमस्कार करते हैं परन्तु देवता विधि के वश हैं इस से विधि को नमस्कार करना उचित है किन्तु विधाता भी पूर्व कृत कर्म के अनुसारही फल देता है। यदि विधि स्वतन्त्र नहीं है और फल कर्म के आधीन है तो देवता और विधि से हमें क्या प्रयोजन है, इससे मैं कर्म को ही नमस्कार क्यों न करूँ क्यों कि विधाता का भी कर्म पर सामर्थ्य नहीं है ॥

"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,

विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।

रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,

सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे" ९६॥

भावार्थ—जिस कर्म ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रचने में कुम्भकार की तरह लगाया, और विष्णु को दशावतारग्रहण रूप बड़े संकट में डाला और शिव को कपाल हाथ में लेके भिक्षा माँगने में रक्खा, और सूर्य को नित्य आकाश में भ्रमाया, ऐसे कर्म को मेरा नमस्कार है ॥

उपर्युक्त दो श्लोकों में भर्तृहरि क्या कह रहे हैं ख्याल कीजिए ! कर्मों का फल देनेवाला जिसे आप मानते हैं उसको भी कर्म के आगे भर्तृहरि ने निरर्थक बतलाया। आश्चर्य है कि ऐसे परतन्त्र को सर्वशक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहने में लोग कुछ विचार नहीं करते !

फिर भी थोड़ा हाल सुन लीजिए ! :—

"तपस्विशापान्न कथं विनष्टा,
पूर्द्वारिका यादवमण्डिताऽपि ।
हरिर्भ्रमन् काननमध्यदेशे,
बाणप्रहारान्न कथं विनष्टः" ॥१॥

भावार्थ—बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि कृष्णावतार विद्यमान रहते भी द्वारका पुरी तपस्वी के शाप से नष्ट हो गई अर्थात् अग्नि से जल कर भस्म हो गई। जो औरों की आपत्ति दूर करने को तो अवतार धारण करे परन्तु अपनी आपत्ति दूर न कर सके वह कैसा ईश्वर है। अन्त में द्वारका से निकल कर कृष्ण जी वन में गये, और वहाँ पर भी एक वधिक के बाण के लगने से दुःखी होकर जल के प्यासे ही उन्हें देहत्याग करना पड़ा ऐसे अल्पशक्तिमान् मनुष्यों को सर्वशक्तिमान् ईश्वरावतार कहना बड़ी खेद की बात है !

और भी थोड़ा अवतारों का हाल सुन लीजिए ! :—

"चकर्त शीर्षं स्वकरेण मातुः,
निःक्षत्रियां यः पृथिवीं चकार ।

स्नाति स्म तेषां रुधिरैस्त्रिकालं,
सोऽप्युच्यतेऽन्यैर्मधुसूदनांशः" ॥१॥

भावार्थ-परशुराम ने अपनी माताजी (रेणुका) का मस्तक अपने हाथ से छेदन किया, और क्षत्रियों को मारकर पृथिवी निःक्षत्रिया की, और उनके रुधिर से दिन में तीन तीन वार स्नान किया। ऐसे घृणाकारक कृत्य करनेवालों को सर्वशक्तिमान ईश्वरीयावतार कहना बड़ेही दुःख की बात है क्या यह निर्दयता नहीं है ? परन्तु यह बात वैदिकों के स्वभाव ही में दाखिल हो गई है क्योंकि ये लोग हिंसा को उत्तम मानते हैं इसीलिए यागादि में ये बड़ी भारी हिंसा करते हैं। कई वैदिक यागादि में जो इस समय हिंसा नहीं करते हैं, यह जैनधर्म का ही प्रभाव समझना चाहिये और इस बात को वैदिक विद्वान् कबूल भी करते हैं।

अब थोड़ा वैदिक ऋषियों का भी हाल सुन लीजिए :—

"पराशरः कामवशान्न कन्यां,
दिवा निषेवे यमुनाजलस्थः।
व्यासस्तु बन्धोर्दयिताद्वयस्य,
वैधव्यविध्वंसकरो न जज्ञे" ॥१॥

भावार्थ—पराशर ऋषि, यमुना नदी में धीवर की कुमारी कन्या में आसक्त हो गये। क्या पराशर सरीखे नामी ऋषि को यह कार्य करना उचित था ! क्या ऋषियों को ऐसा काम करना अनुचित नहीं है ? और उनके पुत्र **व्यास जी ने अपने भ्राताओं (चित्राङ्गद, चित्रवीर्य) की स्त्रियों का वैधव्य विध्वंस किया,** अब जरा इस ओर ख्याल कीजिए ! क्या इन कामों को आप लोग अयोग्य नहीं कहेंगे ? विद्वान लोग तो ऐसे काम करनेवालों को बेशक बुरा ही कहेंगे !

ऐसेही ईश्वर को जगत्कर्ता—माननेवाले वैदिकलोगों के और भी ऋषियों की कथाओं की तरफ ख्याल कीजिये। इस समय भी कितनेक

वैदिक जो पुनर्लग्न (नियोग) के पक्षपाती हैं वह वेद व्यासजी की ही कृपा का फल मानना चाहिए। और जो जो वैदिक मित्रों ने पुनर्लग्न का निषेध किया है उनको शतशः धन्यवाद देना चाहिए क्यों कि वे लोक कुछ सत्यग्राही बने हैं।

पाठक ! आप लोग सर्व शक्तिमान् जगत्कर्ता ईश्वर को माननेवाले महाशयों के नेताओं की आख्यायिकाओं की ओर विचार करें। हां, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि श्री कृष्णचन्द्रजी, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी अत्यन्त प्रभावशाली राजा हुए और नीतिमान्, श्रद्धावान् तथा आस्तिक थे, परंतु इनको सर्व शक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहना उनके भक्तों की इच्छा पर निर्भर है, ब्रह्मा, विष्णु, शिव को सृष्टि के कर्ता, हर्ता मानना उनके अनुयायी जनों की श्रद्धामात्र है, वैदिक ऋषियों को दयावान् अथवा अहिंसा के पक्षपाती मानना उनके प्रेमियों के मन की बात है, परन्तु युक्ति तथा प्रमाण और आचरणों से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त बातें उनमें नहीं थीं ?

ईशामसीह का यहूद देश में उत्पन्न होना, और शूली पर चढ़ाकर शत्रुओं द्वारा उनका प्राण लेना यह ऐतिहासिक बात है; परंतु ईश्वर का पुत्र कहना और संसार का त्राणकारक मानना अर्थात् संसार की भलाई के लिये शूली पर चढ़ना यह ईशाई लोगों के निश्चय की बात है, परन्तु अन्य मतावलम्बी महाशय इस बात को विना प्रमाण सत्य नहीं मान सकते। इसी तरह मुसल्मान लोगों के पैगम्बर (नवी) महम्मद साहेब का मक्के में उत्पन्न होना और मदीने में परलोक (मृत्यु) होना यह भी एक ऐतिहासिक बात है, परन्तु अल्लाह के द्वारा इनके लिये आसमान से कुरान शरीफ़ की किताब का भेजना और उस किताब में लिखी बातों पर विश्वास लाना यह मुसल्मानों के ऐतकाद की बात है, परंतु सत्यग्राही बुद्धिमान् मनुष्य सत्यासत्य का विचार कर सकते हैं। ईशाई और मुसल्मानी किताबों के बारे में मैं इस जगह विशेष लिखना इसलिए ठीक नहीं समझता कि इसी ग्रन्थ के दूसरे या तीसरे भाग में इन मतों की अवश्य समीक्षा करना है और यह ग्रन्थ किसी एक धर्म को अच्छा और दूसरे को बुरा कहने

के लिये नहीं लिखा गया है, और न किसी को अच्छा बुरा कहने की हमारी इच्छा है किन्तु सृष्टि किसी की बनाई हुई है या अनादि है ? इसी बात के बारे में यहां लिखा जा रहा है । इस प्रथम भाग में विशेष करके हमारे भारत के आर्य (हिन्दू) धर्मों में से जितने जगत् कर्ता ईश्वर को मानते हैं उन्हीं के मन्तव्यों पर विचार किया गया है और दूसरे या तीसरे विभाग में हिन्दुस्तान के बाहर के धर्मों के बारे में विचार किया जायगा।

जिस देव की मूर्ति ही शान्त वस्तुगत्या दिखलाई नहीं देती वह किस युक्ति से सर्व शक्तिमान् कहा जा सकता है ! कितनेक लोग मूर्ति को नहीं भी मानते और ईश्वर को निराकार कहकर भी उसको संसार की रचना करने का दोष देते हैं यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि निराकार से साकार पदार्थों का उत्पन्न होना किसी रीति से भी सिद्ध नहीं हो सकता !

कोई यह भी कहते हैं कि यह शरीर और इस के भीतर जो बोल रहा है यह सब पांच तत्त्वों का खेल है । अर्थात् पृथिवी से हड्डी, जल से रुधिर, अग्नि से जठराग्नि, वायु से श्वास और आकाश से शून्यता (पोलापन) हुआ है। एवं उक्त पांच तत्त्वों से ही सब संसार है अर्थात् पञ्चतत्वमय ही संसार है । हम पूछते हैं कि चैतन्य उत्पन्न करने की शक्ति किस तत्त्व में है ? क्यो कि तत्त्व तो पाचों ही जड हैं फिर जड से चैतन्य की उत्पत्ति किस रीति से होसक्ती है । और यह कहना कि पञ्चभूतों के परस्पर सम्मेलन से जीव की उत्पत्ति है तो यह नितान्त असत्य है क्योंकि जैसे शुष्क वृक्ष में पत्र, पुष्प, फल लगने का संभव नहीं है तद्वत् पञ्चभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है । अतएव यह मन्तव्य वृथा है । कितनों का यह भी कथन है कि पंचभूतों से विश्व उत्पन्न हुआ करता है और जब महाप्रलय होने का काल (समय) आता है तब उस समय सृष्टि पञ्चभूतों में लीन हो जाया करती है और पंचभूत ईश्वर में लीन हो जाते हैं । इस मन्तव्य को स्वीकार करने वाले यह नहीं विचार करते कि पञ्चभूत का ईश्वर मे लीन होना

मानने से आप लोगों का ईश्वर जडमिश्रित होना सिद्ध होता है और जडमिश्रित होने से समल और निर्मल दोनों अवस्था प्राप्त होनी ही चाहिए। दूसरी बात यह है कि जडमिश्रित ईश्वर होने से आपका ईश्वर ज्योतिःस्वरूप निराकार नहीं हो सक्ता। और पांच भूतों से जगदुत्पत्ति मानियेगा तो पांच भूत अनादि शाश्वत पहिले सिद्ध हो चुके हैं, और अनादि सिद्ध होने से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांचों भूतों को अपने अपने धर्मानुसार स्वाभाविक कार्य करते ही रहना चाहिए फिर बतलाइये प्रलय कैसे हुआ! और किस पदार्थ का प्रलय होना आप मानते हैं? यदि इस पर कोई यह कहे कि पञ्चभूत जगत् निर्माण की क्रिया नहीं कर सकते, तो द्रव्यरूप ही नहीं हैं बल्कि कथनमात्र के ही ठहरेंगे? क्योंकि पदार्थ अपना गुण (धर्म) नहीं त्याग कर सकता, यह स्वाभाविक दृढ नियम है। और जो यह मान लिया जायगा कि पांच भूत अनादि और अनंत काल से चले आये हैं इनका रचयिता कोई नहीं है तो फिर संसार भी अनादि और अनन्त काल का सिद्ध हो चुका। और जब विश्व अनादि अनन्त काल का सिद्ध हो चुका तो फिर उसकी उत्पत्ति-करनेवाला अथवा नाशकरनेवाला किसी को मानना भ्रम में पड़ना है। कई लोग ईश्वर, जीव, प्रकृति (स्वभाव-काल-दिशा) इत्यादि को अनादि कहकर फिर भी जगत् का कर्ता ईश्वर (निरञ्जन-निराकार-सर्वज्ञ-नित्य उपमावाले) को कहते हैं, क्या यह पूर्वापर विरोध से भरा वाक्य नहीं है? जब ईश्वर, जीव, प्रकृति अनादि सिद्ध हैं तो रचना ईश्वर ने किन पदार्थों की की? यदि इसके उत्तर में यह कहेंगे कि सूक्ष्म रूप में से स्थूल रूप किया, इसलिये हम ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं, तो सर्व शक्तिमान् कहाँ रहा? क्योंकि सर्व शक्तिमान् तो जब माना जाय कि जब वह नवीन भी कोई पदार्थ उत्पन्न कर सके। नवीन पदार्थ तो उत्पन्न करने की उसमें शक्तिही नहीं है तो वह एक प्रकार की शक्ति से रहित है इससे। उसका सर्व शक्तिमत्त्व धर्म नष्ट हो चुका। जगत्कर्ता मानने में कई दोष आते हैं तथापि हठी और कदाग्रही इस बात को नहीं त्यागते। अस्तु! उनके पूर्वकृत कर्मों की बात है,

परन्तु एक बार सत्यमार्ग को दिखादेना हमारा कर्तव्य है।

जगत्कर्ता-माननेवालों का कहना है कि विना ईश्वर के संसार में सब पदार्थ शून्य है, अर्थात् ईश्वर सर्व **व्यापक** है और ईश्वर के विना दूसरा पदार्थ ही नहीं है, यदि ऐसाही है तो दान-पुण्य करनेवाला भी ईश्वर हुआ और लेनेवाला भी ईश्वर ही हुआ? अतएव लेने देने में कुछ अन्तरही नहीं रहा? ईश्वर ने अपना दान आपही ले लिया! फिर अमुक व्यक्ति ने दिया और अमुक ने लिया, और देनेवाले को बहुत पुण्य हुआ इत्यादि कहनाही असत्य ठहरेगा? इससे तो दान पुण्य करनाही वृथा हुआ। ऐसेही मारनेवाला भी ईश्वर है और मरनेवाला भी ईश्वर है अतः ईश्वर ने ईश्वर को मारा! इसमें किसी का कोई भी शत्रु मित्र न रहा क्योंकि दोनों में व्यापक ईश्वर है। एवं द्रव्य का स्वामी भी ईश्वर है और उस द्रव्य का चोरानेवाला भी ईश्वर है इससे तो अपना द्रव्य आपनेही चोराया! दूसरे को चोर कहने से क्या गरज? क्यों कि जो ईश्वर द्रव्यवाले पुरुष में व्यापक है वही चोर में भी तो व्यापक है। तथा स्वर्ग में भी ईश्वर है और नरक में भी ईश्वर है इससे स्वर्ग के सुखों का भी आनन्द ईश्वर को होना और नरक के रौरव दुःख की वेदना भी उसकोही होना मानना चाहिए! पुण्यवान् स्वर्ग जाता है और पापी नरक जाता है यह कहना भी झूठा होगा। परन्तु स्मरण रहे कि आपका मन्तव्य उपर्युक्त दृष्टान्तों से असत्य हो चुका। घट घट में (पुद्गल पुद्गल में-शरीर-शरीर में) जीव अलग अलग है और उनके कर्म भी पृथक् पृथक् हैं। जो लोग सारे संसार में ईश्वर को व्यापक कहते हैं उनकी पूरी भूल है। इतने पर भी जिनको इस बात की हठ हो उनसे हम पूछते हैं कि यदि एक ईश्वर सर्व व्यापक है तो **चंडाल, राजा,** आदिकों को उच्च, नीच कहने से क्या गरज? एक पुण्य करे तो उसका फल सारे संसार को क्यों नहीं मिलता? एक के नरक भागी होने से सारा संसार ही नरक का भागी क्यों नहीं होता? एक श्रीमान् होने से सारी सृष्टि श्रीमान् क्यों नहीं होती? और एक भिक्षुक होने से सारी सृष्टि भिक्षुक क्यों नहीं हो जाती किन्तु उक्त बातें तो नहीं होतीं, फिर सब पदार्थों में एकही परमात्मा व्यापक हम

किस न्याय से मानें ? इससे सिद्ध हुआ कि एक आत्मा सर्वव्यापक नहीं है।

जो जो सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को कहते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि सृष्टि ईश्वर की रची हुई है तो जितने जगन्नियन्ता ईश्वर की भक्ति करते हैं उन सब को और जो जो ईश्वर को जगत्कर्त्ता स्वीकार करते हैं उनको भी सुखी रखना जगन्नियन्ता को उचित है ! परन्तु जगन्नियन्ता को माननेवाले बहुत से लोग महान् दुःखी भी दिखलाई पड़ते है। जगन्नियन्ता ईश्वर को उचित था कि जो जो लोग जगत्कर्ता को नहीं मानते हैं उनके संमुख आकर स्पष्ट कहते कि सृष्टि का कर्ता हर्ता मैं हूँ ! तुम सृष्टिकर्ता को नहीं मानते इस लिए मैं तुह्मारे समीप आया हूँ ! ऐसा क्यों नहीं किया ? क्या इस काम को करने की उसमें शक्ति नहीं थी ? क्या सर्व शक्तिमान् में हम लोगों को समझाने की सामर्थ्य नहीं है ? क्या वृथा ही सर्व शक्तिमान् कहलाने का दावा रखता है ? क्या सृष्टि उत्पन्न करते समय यह नहीं सोचा था कि ये मेरे को जगत्कर्ता नहीं माननेवाले मेरा खण्डन करेंगे इसलिए इनको न बनाऊँ ? जब संसार का कर्ता कोई हैही नहीं तो उपर्युक्त बातें कहाँ से हों। ईश्वर को जगत्कर्ता मानना ही भ्रम है। इस समय भी सृष्टि को अकर्तृ-जन्य अनादि अनन्त मानने वालों की संख्या कुछ कम नहीं है। जैन, बौद्ध, और प्राचीन सांख्यकार इत्यादि सृष्टि के कर्ता को नहीं मानते, तो इन धर्मावलम्बियों को आपके ईश्वर ने क्यों रचा ? इसका उत्तर दीजिये। जगत् का कर्ता माननेवाले जब अपना पक्ष निर्बल देखते हैं तब यह भी कहने को तैयार हो जाते हैं कि हम ईश्वर से निर्माण किये गये हैं परन्तु जैसा हमारा शुभाशुभ कर्म होगा वैसाही हमको फल ईश्वर द्वारा प्राप्त होगा। देखिए पाठक ! प्रथम तो एक ईश्वर कोही पकड़ कर बैठे थे परन्तु फिर दूसरे की तर्कताप से बचने के लिये कर्म की ओर झुके, कर्मों का फल ईश्वरद्वारा प्राप्त होना मानने में न मालूम ईश्वरवादियों को क्या लाभ होता है ? जब ईश्वर अपनी ओर से कुछ नहीं दे सकता तो फिर कर्ता हर्ता वह किस न्याय से सिद्ध हो सक्ता है। यदि केवल ऐसाही मान लिया जाय कि सुख, दुःख स्वस्वकर्मानुसार प्राप्त

होते हैं और कर्ता भोक्ता ईश्वर नहीं है किन्तु स्वतः जीव ही है और इसमें ईश्वर से कुछ सम्बन्ध नहीं है तो विवाद करने का कारणही नहीं रहता। व्यर्थ ईश्वर को कर्ता, हर्ता, सर्वव्यापक आदि कहकर संसारी दुःखों में विभक्त होने का कलङ्क देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनन्त सुखों को छोड़कर सांसारिक दुःखों में विभक्त क्यों होगा ?

कई लोगों का यह मन्तव्य है कि सृष्टि ईश्वर की रचित होने से सब पदार्थों में ईश्वरीय कला है। यदि यह बात सत्य हो तो विद्वान् और मूर्ख में भेद क्यों माना जाता है ? क्या विद्वानों में ही ईश्वरीय कला है और मूर्खों में नहीं है ? ऐसा हो नहीं सकता। जब सभी में ईश्वरीय कला है तो नाना प्रकार की विचित्र रचना संसार में क्यों है ? मनुष्य, घट पटादि पदार्थ को बना सक्ता है और श्वान, रासभ, शूकर, मार्जार, व्याघ्रादि पशु प्राणी, घट पटादि पदार्थ नहीं बना सकते, यह बात सब कोई जानते हैं। क्या पशुओं में ईश्वरीय कला नहीं है ? आप इन पशुओं को कलाहीन कहेंगे, या कला सहित ? आपका तो यह मन्तव्य है कि सब पदार्थों में ईश्वरीय कला है फिर पशु मूर्खादि अनेक कार्य करने में और विचारशक्ति में हीन क्यों हैं ? यदि यह कहा जाय कि सब में समान कला नहीं है किन्तु न्यूनाधिक है तो आपका ईश्वर अन्यायी ठहरा ! एक को विशेष कला देना और दूसरे को न्यून देना यह पक्षपात हुआ या नहीं ? क्या ईश्वर का भी कोई शत्रु मित्र है ? या उसको किसी की ओर से लाभ या हानि होने का संभव है ? कि जिससे किसीको न्यून और किसीको अधिक कलाएँ देनी पड़ीं ! यदि उसके शत्रु मित्र नहीं हैं तो यह अन्याय हुआ या नहीं ? हमारी समझ से तो पदार्थों में ऐश्वरीय कलाएँ मानना अनुचित है।

कितनेक कहते हैं कि जगन्नियन्ता प्रभु भक्तवत्सल है और स्वेच्छा से अवतार (जन्म) धारण करता है। यदि ईश्वर भक्तवत्सल है तो भक्तजन ज्वर ताप, आधी व्याधी, जन्म जरा मृत्यु वगैरह अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी क्यों दीखते हैं ? यदि भक्तवत्सल हो तो अपने भक्तों को बड़े बड़े कष्ट क्यों पाने देता है ? असंख्यात

भक्त सज्जन; संबन्धी कुटुम्ब परिवार को दुःखी त्यागकर परलोक चले जाते हैं। यदि आपका प्रभु **भक्तवत्सल** होता तो भक्तों को और भक्तों के परिवार को क्यों दुःखी होने देता? क्या भक्तों की आयु अधिक कर देने की शक्ति सर्वशक्तिमान्-भक्तवत्सल ईश्वर में नहीं है? यदि है तो दुःखी क्यों? इससे यही प्रतीत होता है कि आपका ईश्वर भक्त-वत्सल नहीं है। जब जगत् का कर्ताही ईश्वर सिद्ध नहीं होसक्ता तो फिर दूसरी बातें कहाँ से सिद्ध हो सकेंगी।

ईश्वर को जगत् का कर्ता माननेवालों की यह भी समझ है कि सब पदार्थों का **अधिष्ठान** ईश्वर है, और ईश्वरीय इच्छा से सब **कृत्याकृत्य** होते हैं तो घट पट क्यों नहीं होजाता! जैसे घट का कारण मृत्तिका-पिंड है इसलिये मृत्तिकापिंड से घटोत्पत्ति होती है परंतु मृत्तिकापिंड से पटादिक कार्य नहीं होसकते। वैसे ही पट का कारण तन्तु है इससे पटोत्पत्ति होती है परंतु तन्तु से घटादि पदार्थ कभी नहीं बन सकते। यदि आप इसबात को स्वीकार नहीं करेंगे तो **कारण से कार्योत्पत्ति** होना मिथ्या कह देना चाहिए! यदि आपको जगन्नियन्ता ईश्वर पर इतना पक्षपात है तो आपका अधिष्ठान ईश्वर, घट को पट और पट को घट क्यों नहीं करादिया करता? जो लोग ईश्वर को जगत् का कारण **अधिष्ठान** बतलाते हैं वह उनकी भूल है। जगत का कारण ईश्वर किसी युक्ति या प्रमाण से सिद्ध नहीं होसक्ता। अतएव सिद्ध हुआ कि ईश्वर अधिष्ठान नहीं है और ईश्वरीय इच्छा से कृत्याकृत्य मानना युक्ति या प्रमाण से नहीं सिद्ध होता।

सृष्टि को ईश्वररचित माननेवाले यह भी मानते हैं कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, **भुजाओं** से क्षत्रिय, **जंघाओं** से वैश्य और पावों **से शूद्र** उत्पन्न हुए। मुख भुजा जंघाओं से उत्पन्न होने के कारण इन तीनों की द्विज संज्ञा है और शूद्र पावों से उत्पन्न हुआ इस से द्विज नहीं है। अर्थात् शूद्र नीची जाति की संज्ञा है। देखिए! महाशय! यह कैसा पूर्वापर विरुद्ध है! एक जगह कहना कि ईश्वर ने सभी पदार्थ की रचना की है और दूसरी जगह कहना कि ब्रह्माजी ने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

और शूद्र को रचा। यदि तर्कताप से बचने के लिए ऐसा कहें कि ब्रह्मा कहने से ईश्वर ही को यहाँ लेना चाहिये; हम ईश्वर को ब्रह्मा भी कहते हैं तो क्या निराकार ईश्वर के भी हाथ पाँव मुख आदिक होते हैं ? यदि होते हैं तो उसको निराकार कहना मिथ्या है। निराकार का अर्थ आकाररहित होता है किन्तु हाथ पाँववाला कभी निराकार नहीं कहा जासकता। ब्रह्माजी ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को-मुख–भुजा–जंघा और पावों से उत्पन्न किया इस कारण ये उत्तम-मध्यम-जघन्य जाति कही जाती हैं ऐसा वैदिक मानते हैं और इसीसे वैदिक लोग ब्राह्मणों को सर्वोच्च मानते हैं। क्षत्रिय उससे कम और वैश्य उससे कम और शूद्र को सबसे नीचे की पंक्ति में गिना है यहां विचार करने का स्थान है कि कर्ता ने ब्राह्मणादि वर्णों के शरीर के चिन्ह (अवयव) ही अलग अलग क्यों नहीं करदिये ? कि जिससे गुण–कर्म–स्वभाव की परीक्षा करने का भी कोई कारण नहीं रहता। क्या सृष्टिकर्ता को वर्णाश्रमों में शारीरिक चिन्ह करदेने की कठनाई पड़ती थी ? और दूसरी बात यह है कि गुण-कर्म-स्वभाव–से वर्णाश्रमों की व्यवस्था लगाने से बहुत कुछ विवाद उपस्थित होने का स्थान है। जैसा कि एक मनुष्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के हैं और दूसरा शूद्रकुल में उत्पन्न हुआ और गुण कर्म स्वभाव ब्राह्मण के हैं, फिर बतलाइये किसको ब्राह्मण कहना और किसको शूद्र। क्योंकि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए मनुष्य को शूद्र कहेंगे तो उसका विवाहादि सब व्यवहार शूद्रजाति में ही होना चाहिए ? और शूद्रजाति में उत्पन्न हुए मनुष्य को गुण–कर्म–स्वभाव से ब्राह्मण कहेंगे तो उसका विवाह आदि सब व्यवहार ब्राह्मणजाति में ही होना चाहिए ? और यदि ऐसा होना सब मान लें तो वर्णव्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सक्ती। इस बात को कितनेक वैदिक मानते हैं और कितनेक निषेध भी करते हैं। जो लोग ब्रह्माजी के मुख-भुजा-जंघा और पांवों से चारो वर्णों की उत्पत्ति मानते हैं उन्हींको विचार करना चाहिए कि ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न होनेवाले

ब्राह्मण माताद्वारा जन्म लेते हैं यह क्यों? उनकेलिये ब्रह्माजी को अवश्य ऐसा प्रबंध करदेना था कि वे गुह्यस्थानद्वारा जन्म न लेते! यदि मुख-द्वारा जन्म धारण करते तो अवश्य हम मानते कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से है परंतु यह बात तो है नहीं सभी वर्ण माता के उदर में से ही जन्म धारण करते हैं इससे यह स्पष्ट है कि चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुखादि स्थानों से मानना भ्रम है।

कई ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर पृथ्वी का भार उतारने के लिये अवतार लेकर असुर पापी जनों का संहार करता है और देवों की रक्षा करता है। हम पूछते हैं कि ईश्वर ने असुर-पापी जनों को उत्पन्नही किस लिये किया! प्रथम उत्पन्न ही नहीं करता तो पृथ्वी के ऊपर भार होने का कोई कारणही नहीं था और अवतार धारणकर मृत्युलोक में आने का परिश्रम भी नहीं उठाना पड़ता। तथा मत्स्य-कच्छ-वाराह-नृसिंह आदि तिर्यक् योनी में भी जन्म नहीं धारण करना पड़ता। आश्चर्य है कि आपका ईश्वर सुख को छोड़ स्वत: दु:ख में आने का उपाय करता है अर्थात् पशुओं का भी रूप धारण करता है। दूसरी बात यह है कि देवताओं की रक्षा करना और असुर याने राक्षसों का संहार करना इससे आपके ईश्वर में राग द्वेप का होना सिद्ध होता है और राग-द्वेषी को ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि राग-द्वेष ईश्वर के लिए दूषण है और ईश्वर को हमेशा निर्दूपण होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि आपलोग तो यह मानते हैं कि ईश्वरीय विभूति विना संसार में कोई पदार्थही नहीं है इससे तो देव तथा दानव दोनों में भी ईश्वरीयविभूति होनीही चाहिए। तथा राक्षसों में ईश्वरीयविभूति यदि आप मानेंगे तो ईश्वर ने स्वत: अपनी विभूति का नाश (संहार) किया और यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो "ईश्वरीयविभूति विना संसार में कोई पदार्थ नहीं है" यह कहना असत्य हुआ! धन्य है ईश्वरवादी जी आपके तर्कों को।

कोई यह भी कहते हैं कि ईश्वर ने पुतला रचकर स्त्री के उदर में रखदिया। परन्तु हमारी समझ से यह बात तो नितान्त असत्य है क्योंकि

सब जीवों के शरीर की रचना अपने २ पूर्वकर्मानुबन्ध के अनुसार ही होती है। इस बात को जो न माने उससे हम पूछते हैं कि एक श्रीमान्, और दूसरा दीन, एक राजा, और दूसरा रंक, एक रूपवान्, और दूसरा कुरूप, एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी, एक पंडित और दूसरा मूर्ख, ऐसी विचित्र रचना जगत् की क्यों दीख रही है ? क्या किसी ने ईश्वर का भला बुरा किया था ?। इससे सिद्ध हुआ कि जैसा २ जीवों का पूर्वकृत कर्मों का बन्ध होता है वैसा २ रूप-रंग-आकृति-सुख-दुःख-ज्ञान-अज्ञान प्राप्त हुआ करता है। जगत्कर्त्ता मानने वाले निर्दूषण-निराकार परमात्मा को रागी-द्वेषी बनाकर कुम्भकार के समान संसारी जीवों के शरीरों (पुद्गल) को रातदिन अर्थात् बराबर रचने का कलंक (दोष) निरर्थक देते हैं। ईश्वरवादी रागादि के बश मे हठ नहीं त्याग करते, तो उनको उचित है कि इस बात को जरा शोचें कि ईश्वर ने जब जीवों को रचा उस समय निर्मल रचा या मलीन ? यदि निर्मल रचा कहियेगा तो धर्मशास्त्र (श्रुति-स्मृति-कुरान-बाइबिल वगैरह जगत् कर्ता मानने वालों के आप्तग्रन्थ) किसको पवित्र (निर्मल) करने को रचे गये ? क्योंकि पवित्र शास्त्र तो मलीन को पवित्र करता है। जब जीवों को आदि से ही निर्मल रचा फिर मलीन होने का क्या कारण हुआ ?। एवं बुद्धि ईश्वरदत्त मानने से जीवों ने मलीनता स्वतः ली यह भी नहीं कह सकते और ईश्वर ने दी यह भी कहना अयुक्त है क्योंकि ईश्वर क्या जीवों को मलीन होने की दुर्बुद्धि देता है ? यदि कहा जाय कि परमेश्वर ने जीवों को मलीन ही रचा था तो क्या जीवों के पाप किये विना ही पापरूप मलीनता लगा दी ? यदि कहोगे हां, तो ऐसे अन्यायी को कौन बुद्धिमान् ईश्वर कह सक्ता है। यदि कहाजाय, कि ईश्वर स्वेच्छा से सब जीवों को सुख दुःख देता है तो मैं पूछता हूं कि इच्छा ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो ईश्वर की इच्छा ही नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्न होने से ईश्वर से कुछ संबन्ध नहीं है। यदि कहा जाय अभिन्न है अर्थात् ईश्वर में है तो क्षण भर में उत्पन्न होना और क्षण भर में विनाश होना, यह

नित्य परमेश्वर में व्यापक इच्छा का विरोध आता है । इससे कह सक्ते हैं कि उपर्युक्त बात युक्तियुक्त नहीं मालूम होती।

कई ऐसा भी मानते हैं कि- ईश्वर वायु चलाता है, मेघ वर्षाता है, और जो कुछ होता जाता है, वह सब ईश्वर ही करता है उसकी शक्ति अगाध है, इसके उत्तर में हम पूछते हैं कि ईश्वर को ऐसे कार्य करने में क्या कुछ लाभ है ? कि जो इतना अगाध परिश्रम करता रहता है । यदि कहोगे कि लाभ है; तो क्या अभीतक असली स्वरूप में कुछ न्यूनता रहगई है ! कि जो परिश्रम करके मिलाना चाहता है ? । यदि कहोगे कि ईश्वर को कुछ मिलाना नहीं है तो विचार करने का स्थान है कि फिर उसके समान दूसरा अज्ञानी ही कौन है कि जो विनाही कुछ लाभ के इतना निरर्थक श्रम करता रहता है ।

कई कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि इस वास्ते रची है कि इस विचित्र रचना को देख जीव मेरे पर विश्वास लावें। देखिए-महाशय ! यह कैसी तर्क है! । संसारि जीवों को विश्वास कराने की अभिलाषा ईश्वर को क्यों हुई? क्या संसारी जीवों से किसी प्रकार का ईश्वर को व्यापार (रोजगार) करना था ? कि जिससे प्रथमही यह बन्दोबस्त करलिया कि मेरा विश्वास होगा तो मेरी हुंडी-पत्री संसार में चलेगी। क्या आपका जगन्नियन्ता प्रभु इतना लालची है ? जो संसारी जीव आपके ईश्वरपर विश्वास न रक्खें तो क्या इसमें ईश्वर की कुछ हानि है ? यदि कहोगे कि न तो लाभ है और न हानि है तो फिर सृष्टि को विश्वास लाने के लिये संसार रचना करने का परिश्रम उठाने का क्या प्रयोजन हुआ ! अतएव जगत् ईश्वरकृत सिद्ध नहीं होता । आश्चर्य है कि ईश्वरवादी ऐसी ऐसी कमजोर तर्क करते हुए कुछ विचार ही नहीं करते हैं !

जगत् का कर्ता ईश्वर को माननेवाले जैसा मन्तव्य जगत्कर्तृत्व के संबन्ध में रखते हैं वैसाही आश्चर्यजनक मन्तव्य मुक्ति के भी संबन्ध में रखते हैं । संसारी जीवों के लिए अन्तिम साध्य मुक्ति है। जितनी क्रिया जीव धार्मिक बुद्धि से करता है वह संसार से मुक्त होकर आध्यात्मिक

सुख की प्राप्ति के लिए करता है। इससे इस स्थानपर मुक्ति के बारे में भी थोड़ा लिखना अप्रासंगिक और अरोचक न होगा। सृष्टि का कर्ता माननेवाले कई सज्जन तो जैसा ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं वैसा मुक्ति का भी स्थान किसी भी एक जगह निश्चित नहीं मानते। उनका कहना है कि मुक्तात्मा संकल्पमय शरीर होकर ब्रह्म में विचरा करते हैं। क्या मालूम इस मन्तव्य को स्वीकार करनेवालों के ब्रह्म का कौनसा स्थान है! हमारी समझ से तो मुक्ति का स्थान अनियत मानने से मुक्त आत्मा का पवित्र और अपवित्र स्थानों में भी विचरना इन लोगों को मानना चाहिए! क्योंकि स्थानही जब नियत नहीं है तो अपवित्र स्थान में मुक्तात्मा जावे इस में आश्चर्यही क्या है? ऐसी मुक्ति उनका ईश्वर उन्हीं को दे। मुक्तजीव स्थूल शरीर त्यागकर संकल्पमय शरीर से आकाश द्वारा परमेश्वर में विचरते हैं और ब्रह्म में आनन्द, नियत समय तक भोगते हैं कि पुनः महाकल्प के पश्चात् संसार में आते हैं अर्थात् [1]परांत काल तक मुक्ति में रहते हैं फिर मुक्त आत्मा पीछे संसार में लौट आते हैं। वाह! ईश्वरवादीजी!! आपकी मुक्ति भी खूब है! मुक्त आत्मा को पीछे संसार में लौट आने का कारण क्या है? क्या मुक्तात्मा जीव मुक्ति से नाराज होकर स्वतः चले आते हैं या आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर उनको मुक्ति में से धक्का देकर गिरा देता है? यदि स्वतः संसार में आना कहोगे तो यह बतलाना होगा कि आध्यात्मिक सुख को छोड़ सांसारिक दुःखों में क्यों आते हैं? यदि कहोगे कि परमेश्वर उनको आज्ञा देता है तो फरमाइये उनको सुख से दुःख में लाने का क्या कारण हुआ? देखिये यह कैसी विचित्र मुक्ति है! जैसे किसी स्त्री का श्वशुरगृह और मातृगृह। मन की इच्छा हुई जब स्त्री सासर चली जाती है और मन की इच्छा होती है जब पीहर चली आया करती है ऐसी आप लोगों की मुक्ति है।

---

१ तेतालिस लाख, बीस हज्जार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो हज्जार चतुर्युगी का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्र का एक महीना, ऐसे बारह महीने का एक वर्ष ऐसे सौ वर्षों का परान्त काल होता है। ऐसा सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में लिखा है। कहीं ऐसा भी माना गया है कि इकतीस निखर्व, दश खर्ब, चालीस अर्ब वर्षों का एक परान्त काल होता है।

कईलोग मुक्ति पांच प्रकार की मानते हैं-१सालोक्य-२-सामीप्य-३-सायुज्य-४सार्ष्टि-५एकत्व। किन्तु यहभी ठीक नहीं है; अब हम मुक्ति का सच्चा स्वरूप लिखते हैं, पढिए!:-

(स्रग्धरावृत्तम्)

नात्यन्ताभावरूपा, नच जडिममयी, व्योमवद्व्यापिनी नो,
न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेक्ष्यते सर्वविद्भिः।
सद्रूपाऽऽत्मप्रसादा दृगवगमगुणौघा न संसारसारा,
निःसीमाऽत्यक्षसौख्योदयवसतिरनिष्पातिनी मुक्तिरुक्ता १

भावार्थ- बौद्धों की मानी हुई **अत्यन्ताभाव** स्वरूपवाली मुक्ति नहीं है, नैयायिक और वैशेषिकों की मानी हुई **जडस्वरूपवाली** भी मुक्ति नहीं है, आजीवक और आर्यसमाजियों की मानी हुई **आकाश की तरह व्यापक** और अन्य से **व्यावर्तन स्वभाव** को धारण करने वाली भी मुक्ति नहीं है, यवनों की मानी हुई **विषय सुख से व्याप्त** भी मुक्ति नहीं है, किन्तु सर्वज्ञों ने इससे विपरीत अर्थात् **भावस्वरूप वाली** आत्मा की **प्रसन्नतावाली ज्ञान दर्शनादि अनेकगुण समूह वाली** सांसारिक सुखों से रहित और **निःसीम अतीन्द्रिय सुखवाली उदय का** स्थान और फिर जिससे **पतन नहीं** (नित्य) है ऐसी मुक्ति है। मुक्त हुए बाद लोकाग्र भाग में अशरीरी होकर **"जलतुम्बिका न्यायेन"** स्थिर रहना माना है, आत्मा का मुक्तहुए बाद पुनः संसार में लौट आना मानना अयुक्त है। लोकाग्र भाग में आध्यात्मिक सुखों में मग्न रहना मानना युक्त है। **पाठकवर्ग!** विचार करें, कि मुक्ति का स्वरूप कौन सा युक्त है और कौन सा अयुक्त? मुक्ति के संबन्ध में

---

१ विष्णुलोक में जाके रहना। २ ईश्वर के नजदीक जाके बैठना। ३ ईश्वर में युक्त होजाना अथवा ईश्वर से परस्पर मिलजाना। ४ ईश्वर के समान ऐश्वर्यवान् होजाना। ५ ईश्वर के रूप में मिलजाना अथवा एक होजाना।

यहाँ पर इससे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम होती, अवसर मिला तो फिर किसी स्थानपर इस विषय की मीमांसा की जायगी। ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवालों ने सृष्टि की तरह मुक्ति के बारे में जो २ कल्पनाएँ की हैं उसका यह नमूना है :—

कई लोक यह दलील करते हैं कि:—"शंकराचार्य ऐसे विद्वानों का यह मत है कि सब संसार ब्रह्मरूप है और नाना प्रकार का जो प्रपञ्च दिखाई देता है वह सब मायाजन्य है। इसीलिए द्वैत मानना ठीक नहीं, अर्थात् अद्वैत है। जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्मही है। जगत् सत्य अपनेको भास होता है इसका कारण माया है और माया का स्वरूप अनिर्वाच्य है। माया को "सत्" याने, 'है' भी नहीं कह सकते, अथवा "असत्" याने 'नहीं' भी नहीं कह सकते हैं। है ऐसा कहें तो माया परमार्थ दृष्टि से भ्रमात्मक है, नहीं ऐसा कहें तो व्यवहार दृष्टि से माया सत्य है। शंकरस्वामी के मत से जीव और परमात्मा दो नहीं हैं अर्थात् एकही है" इस पर श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यजी महाराज का जो कथन है वह सुनिए :—

"माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धि-
रथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ?।
मायैव चेदर्थसहा च तत् किम्,
माता च वन्ध्या च भवेत् परेषाम्"॥ १॥

भावार्थ-यदि माया सत् रूप है तो दो तत्त्व की सिद्धि हुई—एक ब्रह्म और द्वितीया माया (इससे तो ब्रह्माद्वैतवाद के मूलमेंही कुठार मारना हुआ) यदि असत् रूप है तो आकाशपुष्पवत् अवस्तु रूपहोने से नाना प्रकार के प्रपञ्च को मायाजनित कहना किस रीति से संभव हो सकता है अर्थात् असंभव है। जिसको माता कहना और उसीको वन्ध्या

---

१ अविद्या.

भी कहना, यह किस युक्ति से सिद्ध होसक्ता है ? यदि माताही है तो बन्ध्या कैसे हो सकती है और यदि बन्ध्याही है तो माता कहना अयुक्त है । **ब्रह्माद्वैतवादी जी !** आपके वचनों में यह प्रत्यक्ष विरोध आया या नहीं ? और जब आपके मत से जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्मही है तो फिर माया को व्यवहारदृष्टि से सत् और पारमार्थिक दृष्टि से असत् कहना यह दूसरों की तर्कताप से बचने का उपाय है या नहीं ? किन्तु इस वाग्जाल को, समझनेवाले तुरन्त समझ सकते हैं । जब जीव और ईश्वर दो नहीं हैं तो अविद्या (माया) के भ्रम में जीव क्यों फसते हैं। क्या जीव ईश्वर होकर भी माया से वंचित नहीं रहता ? **शंकरस्वामी मंडनमिश्र की स्त्री से कामचर्चा में हार गये थे** इससे तो वे स्वतः माया के फांस में फसे सिद्ध होते हैं। आपलोग जिस शंकराचार्य को सर्वज्ञ मानते हैं जब वेही माया के फांस में फसे तो उनके रचे शास्त्र अमायिक कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते । अत एव वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद युक्ति विकलही ठहरा। जब जीव और परमात्मा में भेद नहीं है तो फिर व्यवहार दृष्टि से माया सत् और परमार्थ दृष्टि से असत् कहना अयुक्त है । भला कहीं ब्रह्म अर्थात् परमात्मास्वरूप जीव के भी दो दृष्टि होती हैं ? धन्य है आपकी प्रतिभा को!

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली[1] की भूमिका में लिखा है कि– "दर्शनकारों के परस्पर विरोध के मूलभूत भगवान् भाष्यकार भगवत्पाद श्री १०८ शंकराचार्यही हैं । इनसे प्रथम, सांख्य योगादि उत्तम सिद्धान्तों के निराकरण करने में किसी आस्तिक विद्वान् का साहस न हुआ था किन्तु सांख्यसिद्धान्तों के सहित उसके कर्त्ता को अप्रामाणिक ठहराने में तथा गौतम, कणाद को वैनाशिकतुल्य बतलाकर उनके सिद्धान्तों को धूली में मिलाने में एवं धर्ममीमांसा के मूलोच्छेदन में यह प्रथम २ भगवती भगवत्पादही की लेखनी प्रवृत्त हुई है " आगे फिर लिखा है कि—

१ बंबई में क्षेमराज श्रीकृष्णदासजी के वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस में छपी है ।

"बिचारे कपिल को लथेड़ना आरम्भ किया और यहांतक लथेड़ा कि श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्य सर्वज्ञ कपिलदेव वासुदेवांश रूप में जो अवतीर्ण हुए थे वे और ही हैं और यह द्वैतवादी सांख्य शास्त्र का कर्ता कोई अवैदिक कपिल है इत्यादि सभी कुछ कहा।" आगे फिर लिखा है कि— "कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, तथा जैमिनि ये पांचो दर्शनकार तो नानात्मवादी होने से अवैदिकही हैं। शेष रहे व्यासदेव सो इनका भी योगसूत्रों के भाष्य में तो नाना चिदात्मवादही सिद्धान्त है इन को भी चाहे आप वैदिक माने या अवैदिक"। आगे फिर लिखा है कि— "अब हमको यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कपिलादि षट् महर्षि अवैदिक हैं या एक भगवत्पाद श्री १०८ शंकरस्वामीही अवैदिक हैं? परस्पर विरुद्ध लेख है इसलिये दोनों में एक कोटी अवश्य निर्बल होनी चाहिये। 'कौन होनी चाहिये?' इसको विद्वान लोग स्वयं सोचें"। फिर आगे लिखा है कि-"गौतम और कणाद के सिद्धान्त पर जो आपने मिथ्या आक्षेप किया है वह हमको सर्वथा असह्य है।" उसके आगे लिखा है कि—"शंकर स्वामी ने सांख्यादि सर्व दर्शनों से विरुद्ध एक अपनी ढाईपाव जुदाही पकाई है"। इत्यादि बहुत कुछ परामर्श किया है। जिसको देखना हो वह न्याय सिद्धान्त मुक्तावली की भूमिका देखले। कईलोक कहते हैं कि 'शंकर स्वामी ने जैन मत का मूल उखाड़ा और वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की, इस पर हमारा यह उत्तर पर्याप्त है कि उपर्युक्त भूमिका के लेखक ने शंकर स्वामी को 'अवैदिक थे' ऐसा स्पष्ट लिखा है फिर उन्हींको वैदिक हम किस आधार से कह सकते हैं, और जब अपने पूर्वज कपिलादि महर्षियों की निन्दा करते जिनको विचार न हुआ तब वे दूसरों को यदि भला बुरा कहें तो इसमें आश्चर्यही क्या? परन्तु ऐसे कहने से क्या होसकता है। शंकर स्वामी की क्या शक्ति थी कि वे जैन धर्म को मूल से उखाड़ सके हों। जैनदर्शन अविच्छिन्न रूपसे आजतक चला आया है और आजभी जैन दर्शन के अनेक शास्त्र विद्यमान हैं इससे ऐसा कहनेवाले प्रत्यक्ष ही झूठे ठहरते हैं। घर में बैठकर अपने हाथ से अपनी रचित

पुस्तकों में कोई चाहे जैसा क्यों न लिखे क्योंकि लेखनी अपने हाथ की होती है। वेदव्यास जी के और शंकर स्वामी के लेखोंपर चाहे उनके मतानुयायी विश्वास रक्खें, किन्तु अन्य नहीं रख सकते। विचारने का स्थान है कि कई वैदिकों ने भी आपको अवैदिक बतलाया है और अद्वैतवाद पर कटाक्ष किया है। यह बात पाठक उपर्य्युक्त लेख से भली भाँति समझ सकते हैं। **आनन्दगिरि कृत शंकरदिग्विजय और माधवकृत शंकरदिग्विजय** में जैनमत के खण्डन में जो जैन साधुओं के उपकरण और जैन साधुओं से वादानुवाद लिखे हैं वह नितान्त झूठ और कल्पित हैं क्योंकि जैनशास्त्रों में जो बातें नहीं हैं वैसी कल्पित बातें प्रश्नोत्तर रूप में लिखकर जैनधर्म को खण्डन करना समझलिया है परन्तु ऐसा करने से क्या होसकता है? जिसको इस बात के संबन्ध में सत्यासत्य का निर्णय करना हो वह **जैनशास्त्र और शंकर दिग्विजय** यह दोनों को मिलाकर देखे तो मालूम होजायगा। व्यासजी से और शंकर स्वामी से **स्याद्वाद न्याय का खंडन न होसका,** क्योंकि दो चार शब्द या वाक्य अपने रचे पुस्तको में लिख देनेसे खंडन नहीं कहा जा सकता, खंडन उसका नाम है कि जिस युक्ति और प्रमाण से दूसरे की दलीलें तोड़ी जावें? बस इसीसे कह सकते हैं कि स्याद्वाद न्याय का खंडन उनसे न हो सका। खंडन तो दूरही रहा परंतु वे स्याद्वाद न्याय को पूरा पूरा समझभी नहीं सके और कितनी बातों में जो **शंकर स्वामी ने स्याद्वाद न्याय का गुप्त सहारा लिया है** वह स्पष्ट दिखाई देता है देखिए?। अद्वैत[1] मीमांसा में लिखा है कि:— औपनिषद् सिद्धान्तों के व्याख्याता ने विषय भेद से चार वर्ग बनाये हैं (१) ब्रह्म (२) जगदुत्पत्ति (३) आत्मा और (४) मुक्ति (जगदुत्पत्ति के ओर निरीक्षण करने से स्पष्ट विदित होता है कि शंकराचार्य ने कुछ जैन सिद्धान्तों का आधार लिया है और कुछ वेदादि अपर सिद्धान्तों का) 'जगदुत्पत्ति के संबन्ध में पर और अपर विद्या के नाम से दो विभाग

१—यह पुस्तक महादेव राजाराम बोडस एम्. ए. नें केसरी पत्र के एक लेख के आधार से लिखी है और आर्यभूषण प्रेस पूना में १८९३ ई. में छपी है।

शंकर ने माने हैं। अविद्यामूलक संसार अपर विद्या का विषय है। सर्व बाह्य सृष्टि के स्थान पर केवल व्यावहारिक सत्यत्व होने से वह माया के योग से ब्रह्म पर आभास रूप से भासमान होता है तथापि संसार को बीजाङ्कुर न्याय से अनादि[1]ही मानना चाहिये। इसके सिवाय ईश्वर ने सृष्टि निर्माण क्यों की ? इस प्रश्न का योग्य उत्तर लोगों को कभी भी देना आताही नहीं। जगत् उत्पन्न करने में कर्ता का कुछ भी हेतु होना चाहिये परन्तु वैसा हेतु शुद्ध ब्रह्म के स्थान पर कदापि संभवित नहीं होता। वृक्ष सूख गया तो भी बीज रहता ही है और उससे दूसरा वृक्ष उत्पन्न होता है उसी रीति से मनुष्य मरा तो भी उसका कर्म बीज पुनर्जन्म का कारण होता है इस रीत्यनुसार यह उत्पत्ति और नाश की अनादि परंपरा निरन्तर चल रही है।' देखिये महाशय ! आप के शंकर ने इधर उधर फिरफिराकर अन्त में जगत् को अनादिही माना है। यद्यपि शंकर स्वामी ने संसार को अनादि योग्य रीति से जैसा चाहिये वैसा नहीं माना तथापि अन्त में उनको यह तो कहना ही पड़ा कि सृष्टि अनादि है। "शंकराचार्य[2] व ज्ञानेश्वर" नामक महाराष्ट्र भाषा के पुस्तक में लिखा है कि:—"सर्व शास्त्रादि और प्रत्यक्षादि[3] प्रमाण अविद्यात्मक हैं" आगे फिर इसी पुस्तक में पृ. ३२, पं. १९ में लिखा है कि:—"शंकराचार्य ने जो अज्ञान का ग्रहण किया है इसका कारण ऐसा है कि वेदान्त, कर्म उपासना इत्यादि विषयक हैं और इन सभों की व्यवस्था लगाने का काम आचार्य पर आके पड़ा था

१—शंकराचार्य जी ने सृष्टि को जो अनादि कहा है वह तत्त्व उपनिषदों का नहीं है किन्तु जैन सिद्धान्तों का है इससे कह सकते हैं कि शंकर ने जैन सिद्धान्तों का आश्रय लिया है। और जो मनुष्य जिन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर चलता है वह मनुष्य उन सिद्धांतों का क्या खण्डन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता।

२—यह निबंध, रा- रा. बाला शास्त्री हुपरीकर ने लिखा है और विष्णु गोविंद विजापुरकर, एम. ए. सम्पादक ग्रंथमाला ने कोल्हापुर श्री समर्थ प्रसाद छापाखाने में छपवाया है।

३—आदि शब्द से वेदादि शब्दप्रमाण भी अविद्यात्मकही समझना चाहिए।

और इनके भी पूर्व काल से अज्ञान के ग्रहण करने की रीति चली आई थी। यह योगवासिष्ठ पर से और उनके ग्रन्थों पर से समझ सकते हैं। इसलिये पीछे से चला हुआ अज्ञान का ग्रहण करके उन (शंकराचार्य) को भाष्यों को लिखना पड़ा, और उससेही श्रुतियों की व्यवस्था लगी। कर्म, उपासना अज्ञानी को है, ज्ञानी को कुछ नहीं ऐसा स्थल २ पर आचार्य का कथन है। और एक अज्ञान को ग्रहण करने के लिये आभासवाद, ईश्वरवाद, इत्यादि वाद और तत्वमसि आदि वाक्यों की सार्थकता होने लगी, और श्रुति का भार अपने मस्तकपर लेने के कारण श्रुति के व्यवस्था के लिए उन्होंने सर्व पक्ष लिए हैं। अब कितनेक लोग आचार्यपर ऐसा आक्षेप करते हैं कि, झूठा अज्ञान लेकर सब व्यवस्था की सही; परंतु उन्होंने (शंकर ने) इस रीति से जगत् को फसाया है। एक दृष्टि से यह आक्षेप यद्यपि सच्चा मालूम होता है तथापि विचार करने से आचार्य ने जो किया वह ठीक किया है ऐसा मालूम होता है।" देखिए ब्रह्माद्वैतवादीजी ! आपके शंकर तो सब शास्त्रों को और प्रत्यक्षादि शाब्द पर्यन्त प्रमाणों को अविद्यात्मक बतलाते हैं और उनके अनुयायी यह स्वीकार भी करते हैं कि शंकराचार्य ने अज्ञान का ग्रहण किया। भला कहीं अज्ञान के ग्रहण करने वालों को भी कोई ज्ञानी कह सक्ता है ! कभी नहीं। और जो अज्ञान का ग्रहण करके भाष्य लिखने पड़े तभी तो जैनलोग शंकर के कथन को अज्ञानी रचित कहते हैं। और जो आपका यह मानना है कि शंकराचार्य के पूर्व काल से ही अज्ञान ग्रहण करने की रीति चली आई थी तो इससे यह भी सिद्ध हो चुका कि वेद-वेदान्त दर्शन प्रथमसेही अज्ञान को ग्रहण करते चले आये हैं इसीसे सच्चे ज्ञान के ग्रहण करनेवाले जैन आपके अज्ञान के वाक्य नहीं मानते। भला कहीं अज्ञान को ग्रहण करने सेभी सार्थकता हो सकती है ! अज्ञान का ग्रहण करना अज्ञानियों का काम है, न कि ज्ञानियों का। ज्ञानीलोग अज्ञान का ग्रहण करना बुरा समझते हैं इस लिये वे अज्ञान को नहीं ग्रहण कर सकते। शंकर के अनुयायी इस बात को कबूल करते हैं कि:-"उन्होंने इसरीति से जगत् को फसाया है, एक दृष्टि से यह आक्षेप सच्चा मालूम होता है" यदि यह आक्षेप सच्चा

है तो क्या शंकर स्वामी ऐसा मार्ग नहीं सोध सके कि ज्ञान मार्गसेही अपने पन्थ की वृद्धि करते ! इससे यह सिद्ध होता है कि शंकर ने अज्ञान मार्गसेही अपने पन्थ को बढ़ाया है, और यह भी कहसक्ते हैं कि अ-ज्ञानीलोगही शंकर के अज्ञान में फसे होंगे ! यदि वे पूरे ज्ञानी होते तो ऐसा मार्ग कभी न लेते ! जब आप सब शास्त्र अज्ञानात्मकही मानते हैं तो शुद्ध ब्रह्म के लक्षण अज्ञानात्मक शास्त्रों में कहाँसे हो सकते हैं ! कहीं अज्ञान से ज्ञान प्राप्त होसक्ता है ! कदापि नहीं । इससे यह सिद्ध हो चुका कि आप के वेद वेदान्तादि शास्त्रों से सच्चा ब्रह्म का स्वरूप नहीं मिल सक्ता । और जैनों के शास्त्र पूर्ण ज्ञानात्मक हैं इससे सच्चा ब्रह्म का स्वरूप इनसे बराबर मिल सकता है । जैनलोग श्रुति स्मृति आदि वेद-वेदान्त शास्त्रों को न तो प्रमाण मानते थे और न अब मानते हैं । कहीं अज्ञान मार्ग से ज्ञान मार्ग की स्थापना हो सकती है; कभी नहीं। जैन लोगों के प्रश्नों के समाधान करने की शक्ति शंकर में नहीं थी क्यों कि शंकर स्वामी जैन शास्त्रों का रहस्य हीं नहीं जानते थे ऐसा उनके ग्रन्थों से मालूम होता है । मण्डनमिश्र जैन नहीं थे किन्तु द्वैतवादी थे और उनकी स्त्री के साथ कामचर्चा में शंकरस्वामी को निरुत्तर होना पड़ा था । यदि पूर्णज्ञानी होते तो उसी समय उत्तर दे के समाधान कर देते ! जैनों के किसी भी ग्रंथ में शंकराचार्य की स्तुति की हुई हमारे देखने में नहीं आई; यदि कोई बहादुर हो तो बतलावे हम स्वीकार कर सकते हैं । परन्तु हमारी समझ से यह केवल झूठ है । जैन किसी का भी उत्कर्ष देखकर नाराज नहीं होते । परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जैन शंकर के मत को अच्छा समझे हैं, बल्कि जैन श्वेतांबराचार्य श्रीमान् हेमचंद्राचार्यकृत ब्रह्माद्वैतवाद का खंडन दिखाई दे रहा है । आप लोग जगत् का कारण ईश्वर अर्थात् ब्रह्म को मानते हैं यह भी आप की निरी भूल है हम इसी ग्रंथ के पृष्ठ १७ पर सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर जगत का कारण सिद्ध होही नहीं सकता, इसलिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है । यह ग्रन्थ किसी एक के सिद्धान्तों पर टीका करने के लिए नहीं लिखा गया है किन्तु जगत् के अनादि और अकर्तृजन्य सिद्ध करने के लिये रचा गया है । इस

लिए हम इसके संबन्ध में इस जगह अधिक लिखना नहीं चाहते। शंकराचार्य जी के संबंध में इस ग्रंथ में परामर्श करने का प्रयोजन यह हुआ कि आपने भी ब्रह्म को सर्वव्यापी और जगत् का कारण माना है इस लिए इनके संबन्ध में लिखना अप्रासंगिक नहीं समझना चाहिए। और अनेक बातें प्रसंगत: जो जो लिखी गई हैं वह देखकर विषयान्तर नहीं समझना चाहिये। यदि समय मिला तो शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवाद के संबंध में अपने विचार फिर किसी समय में अन्य स्थल पर प्रकट करने की चेष्टा करूंगा।

वेद-वेदान्तादि दर्शन के अनेक विद्वानगण जैनदर्शन को बौद्ध चार्वाक, नास्तिक कहकर अथवा उक्त मतों के तुल्य बतलाकर केवल आपही सच्चे आस्तिक बनने का दावा करते हैं, परंतु इस बात को कहनेवाले अपनी अज्ञता पूरी पूरी झलकाते हैं। जैनधर्म अनादि काल से ही अविच्छिन्न प्रवाह रूप मे चला आया है और आस्तिक शिरोमणि धर्म है। और यह बात वेदमतानुयायी काशी (बनारस) निवासी साक्षरवर्य सर्वतंत्रस्वतंत्र सत्सम्प्रदायाचार्य स्वामी [1]राममिश्र शास्त्री जी ने अपनी वक्तृता में सिद्ध करदी है पाठक ! इस व्याख्यान का सारांश गौर के साथ पढ़िये कि वैदिक विद्वान जैन धर्म के संबन्ध में क्या फरमा रहे हैं जरा ध्यान दीजिए:-

"सज्जन महाशय !

आज बड़ा सुदिन और मांगलिक समय है कि हम भारतवर्षीय, जिनके यहाँ सृष्टि के आदि कालही से सभ्यता, आत्मज्ञान, परार्थे आत्मसमर्पण, आत्मा की अनाद्यन्तता ज्ञान चला आया है बल्कि समय के फेर से कुछ पुरानी प्रतिष्ठा पुरानी सी पड़ गयी है, वे इस

१—स्वामी राममिश्रशास्त्री जी ने काशी में यशोविजय जी जैनसंस्कृत पाठशाला के भवन में जैन धर्म विषय पर जो व्याख्यान दिया था, वह व्याख्यान (भाषण) 'सुजनसम्मेलनम्' नाम से पुस्तक रूप में मुंबई निवासी सेठ-वीरचंद दीपचंद सी. आई. ई. जे. पी. और सेठ गोकुल भाई मूलचंद द्वारा बनारस चंद्रप्रभा प्रेस मे छप कर प्रकाशित हुआ है। और यह-शास्त्रविशारद-विजयधर्म सूरि जी की कृपा का फल है।

स्थान में एकत्र हुये हैं अवश्य ही इसे सौभाग्य मानना और कहना चाहिये, क्योंकि वैदिक मत और जैन मत सृष्टि की आदि से बराबर अविच्छिन्न चले आये हैं और इन दोनों मजहबों के सिद्धान्त विशेष घनिष्ठ समीप संबन्ध रखते हैं जैसा कि पूर्व में मैं कह चुका हूँ और जैसा कि सत्कार्य वाद, सत्कारण वाद, परलोकास्तित्व, आत्मा का निर्विकारत्व, मोक्ष का होना और उसका नित्यत्व, जन्मान्तर के पुण्य पाप से जन्मान्तर में फल भोग, व्रतोपवासादि व्यवस्था, प्रायश्चित व्यवस्था, महाजन पूजन, शब्द प्रमाण इत्यादि समान हैं, बस तो इसी हेतु मुझे यहाँ यह कहते हुए मेरा शरीर पुलकित होता है कि आज का यह हमारा जैनों के सङ्ग एक स्थान में उपस्थित होकर संभाषण वह है कि जो चिरकाल के बिछुड़े भाई भाई का होता है। सज्जनों! यह भी याद रखना जहाँ भाई भाई का रिस्ता है वहाँ कभी कभी लड़ाई की भी लीला लग जाती है परन्तु याद रहे उसका कारण केवल अज्ञानही होता है।

इस देश में आजकल अनेक अल्पज्ञ जन बौद्ध मत और जैन मत को एक जानते हैं और यह महा भ्रम है। जैन और बौद्धों के सिद्धान्त को एक जानना ऐसी भूल है कि जैसे वैदिक सिद्धान्त को मान कर यह कहना कि वेदों में वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है अथवा जाति व्यवस्था नहीं है।

आगे फिर लिखा है कि "अज्ञों की दन्तकथा है कि जैन और बौद्ध एक समान हैं; सज्जनो! बुरा न मानो और बुरा मानने की बात ही कौन सी है जब कि खाद्यखण्डनकार श्रीहर्ष ने स्वयं अपने ग्रन्थ में बौद्ध के साथ अपनी तुलना की है और कहा कि हम लोगों से [याने निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तियों से] और बौद्धों से यही भेद है कि हम ब्रह्म की सत्ता मानते हैं और सब मिथ्या कहते हैं, परन्तु बौद्धशिरोमणि माध्यमिक सर्व शून्य कहता है तब तो जिन जैनोंने सब कुछ माना उनसे नफरत करनेवाले कुछ जानतेही नहीं और मिथ्या द्वेष मात्र करते हैं यह कहना होगा। सज्जनों! जैन मत से और बौद्ध सिद्धान्त से जमीन आस्मान का अन्तर है। उससे एक जान

कर द्वेष करना यह अज्ञ जनोंका कार्य है सबसे अधिक वे अज्ञ हैं कि जो जैन सम्प्रदाय सिद्ध मेलो में विघ्नडालकर पापभागी होते हैं "।

आगे फिर लिखते हैं कि "सज्जनो ! ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षान्ति, अदम्भ, अनीर्षा, अक्रोध, अमात्सर्य अलोलुपता, शम, दम, अहिंसा, समदृष्टिता इत्यादि गुणों में एकेक गुण ऐसा है कि जहाँ वह पाया जाय वहाँ पर बुद्धिमान् पूजा करने लगते हैं तब तो जहाँ ये पूर्वोक्त सब गुण निरतिशयसीम होकर विराजमान हैं उनकी पूजा न करना अथवा गुणपूजकों की पूजा में बाधा डालना क्या इनसानियत का कार्य है ? "

फिर आगे लिखते हैं कि "सज्जनो ! अज्ञता ऐसी चीज है उसके कारण अनेक बेर अनेक लोक बिना जाने बूझे दूसरे की निन्दा कर बैठते हैं । थोड़ेही दिन की बात है कि किसी नये मजहबी ने जोसमें आकर जैनमत में मिथ्या आरोप किये और अन्त में हानि उठाई । मैं आपको कहां तक कहूं बड़े बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है कि जिसे सुन देख कर हँसी आती है ।

मैं आप के सन्मुख आगे चलकर स्याद्वाद का रहस्य कहूँगा तब आप अवश्य जान जाँयगे कि वह एक अभेद्य किला[१] है उसके अन्दर मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते ।

आगे फिर लिखते हैं कि "सज्जनो ! एक दिन वह था कि जैन सम्प्रदाय के आचार्यों के हुंकार से दशो दिशाएं गूंज उठती थीं, एक समय की वार्ता है कि हमारे ही (याने वैदिक सम्प्रदायी वैष्णव ने) किसी साम्प्रदायिक ने हेमचंद्राचार्य जी को देखकर कहा—

'आगतो हेमगोपालो, दण्डकम्बलमुद्वहन् ।

बस तो फिर क्या था उन्होंने मन्दमुसकान के साथ उत्तर दिया कि—

१ किला- दुर्ग-गढ-कोट-इत्यादिक कहते हैं ।

'षड्दर्शनपशुप्रायांश्चारयन् जैनवाटके'

सज्जनो ! इस श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को सुनकर आप लोग खूब जान गये होंगे कि पूर्व समय पर आपस में विद्वानों के हँसी ठठोल भी कैसे होते थे । ये महानुभाव हेमचन्द्राचार्य व्याकरण से लेकर दर्शन शास्त्र पर्यंत सर्व विषय में अप्रतिम आचार्य थे । सज्जनो ! जैसे कालचक्र ने जैनमत के महत्व को ढांक दिया है वैसे ही उसके महत्व को जानने वाले लोग भी, अब नहीं रहगये । '**रज्जब साचे सूर कों वैरी करै बखान**' । यह किसी भाषाकवि ने बहुत ही ठीक कहा है । सज्जनो ! आप जानते हो मैं वैष्णवसम्प्रदाय का आचार्य हूं यही नहीं है मैं उस सम्प्रदाय का सर्वतोभाव से रक्षक हूं और साथ ही उसकी तरफ कड़ी नजर से देखने वाले का दीक्षक भी हूं तो भी भरी मजलिस में मुझे कहना सत्य के कारण आवश्यक हुआ है कि जैनों का ग्रन्थ समुदाय, सारस्वत महासागर है । उसकी ग्रन्थ-संख्या इतनी अधिक है कि उन ग्रन्थों का सूचीपत्र भी एक महा निबंध हो जायगा ।"

फिर आगे लिखा है कि—"सज्जनो ? जैन मत का प्रचार कब से हुआ इस बारे में लोगों ने नाना प्रकार की उछल कूद की है और अपने मनो नीत कल्पना की है । और यह बात ठीक भी है जिसका जितना ज्ञान होगा वह उस वस्तु को उतनाही और वैसाही समझेगा" ।

आगे लिखा है कि—"इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से भी पूर्व का है तब ही तो भगवान वेद व्यास महर्षि ब्रह्म सूत्रों में कहते हैं:—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सज्जनों ! जब वेद व्यास के ब्रह्मसूत्रप्रणयन के समय पर जैन मत था तब तो उसके खण्डनार्थ उद्योग किया गया, यदि वह पूर्व में नहीं था तो वह खण्डन कैसा और किस का ? सज्जनों ! समय अल्प है और कहना बहुत है इससे छोड़ दिया जाता है नहीं तो बात यह है कि वेदों में अनेकांत वाद का मूल मिलता है । सज्जनों ! मैं आप को वेदान्तादि दर्शन शास्त्रों का और जैनादि दर्शनों का कौन मूल है यह कह-

कर सुनाता हूँ। **उच्चश्रेणी के बुद्धिमान् लोगों के मानस निगूढ विचार ही दर्शन हैं।** जैसे अजात वाद, विवर्त वाद, दृष्टि–सृष्टि वाद, परिणाम वाद, आरम्भ वाद, शून्यवाद इत्यादि दार्शनिकों के निगूढ विचार ही दर्शन हैं। बस तब तो कहना होगा कि सृष्टि की आदि से जैन मत प्रचलित है। सज्जनो ! अनेकान्तवाद तो एक ऐसी चीज है कि उसे सबको मानना होगा, और लोगों ने माना भी है। देखिए विष्णु पुराण में लिखा है:—

> नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम !
> वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्या जमाय च
> कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ?

यहाँ पर जो पराशर महर्षि कहते हैं कि वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है, इसका अर्थ यही है कि कोई भी वस्तु एकान्ततः एक रूप नहीं है, जो वस्तु एक समय सुख हेतु है वह दूसरे क्षण में दुःख की कारण हो जाती है; और जो वस्तु किसी क्षण में दुःख की कारण होती है वह क्षण भर में सुख की कारण हो जाती है। सज्जनो ! आपने जाना होगा कि यहां पर स्पष्ट ही अनेकान्तवाद कहा गया है। सज्जनों ! एक बात पर और भी ध्यान देना जो "सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत्" कहते हैं उनको भी विचार दृष्टि से देखा जाय तो अनेकान्तवाद मानने में उज्र नहीं है, क्योंकि जब वस्तु सद् भी नहीं कही जाती और असद् भी नहीं कही जाती तो कहना होगा कि किसी प्रकार से सत् होकर भी वह किसी प्रकार से असत् है, इस हेतु न वह सत् कही जा सक्ती है और न तो असत् कही जा सक्ती है, तो अब **अनेकान्तता मानना सिद्ध हो गया।** सज्जनों ! नैयायिक तम को तेजोऽभाव स्वरूप कहते हैं और मीमांसक और वेदान्तिक बड़ी आरभटी से उसका खंडन करके उसे भाव स्वरूप कहते हैं तो देखने की बात है कि आज तक इसका कोई फैसला नहीं हुआ कि कौन ठीक कहता है तो अब क्या निर्णय होगा कि कौन बात ठीक है। तब

तो दो की लड़ाई में तीसरे की पौ बारा है याने जैन सिद्धान्त सिद्ध हो गया, क्योंकि वे कहते हैं कि वस्तु अनेकान्त है उसे किसी प्रकार से भावरूप कहते हैं और किसी रीति पर अभावरूप भी कह सक्ते हैं। किसी रीति पर कोई आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं और कोई ज्ञानाधार स्वरूप बोलते हैं तो बस कहनाही क्या अनेकान्त बाद ने पद पाया। किसी रीति पर कोई ज्ञान को द्रव्यस्वरूप मानते हैं और कोई वादी गुणस्वरूप। इसी रीति पर कोई जगत् को भाव स्वरूप कहते हैं और कोई शून्य स्वरूप तब तो अनेकान्तवाद अनायास सिद्ध हो गया।

कोई कहते हैं कि घटादि द्रव्य हैं और उनमें रूप स्पर्शादि गुण हैं। परंतु दूसरी तरफ के वादी कहते हैं कि द्रव्य कोई चीज नहीं है वह तो गुणसमुदाय स्वरूप है। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण इत्यादि का समुदाय ही तो घट है इसे छोड़ कर घट कौन वस्तु है। कोई कहते हैं आकाश नामक शब्दजनक एक निरवयव द्रव्य है। परंतु अन्य वादी कहते हैं कि वह तो शून्य है।

सज्जनो! कहाँ तक कहा जाय कुछ वादियों का कहना है कि गुरुत्व गुण है। परन्तु दूसरी तरफ़ वादी लोगों का कहना है कि गुरुत्व कोई चीज नहीं है पृथ्वी में जो आकर्षण शक्ति है उसे न जान कर लोगों ने गुरुत्व नामक गुण मान लिया है।

मित हित वाक्य पथ्य है, उसीसे ज्ञान होता है वाग्जाल का कोई प्रयोजन नहीं है इस हेतु यह विषय यहाँ ही छोड़ दिया जाता है और आशा की जाती है कि जैन मत के क्रमिक व्याख्यान दिये जायँगे।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

स्वामी राममिश्र शास्त्री—अगस्त्याश्रमाश्रम-काशी.

मि० पौष शुक्ल प्रतिपत्—बुधवार सं० १९६२

आपलोग प्रसिद्ध वैदिक विद्वान श्रीमान् राममिश्र शास्त्री जी के व्याख्यान पर से भली भाँति जान सक्ते हैं कि जैनमत आस्तिक है या नास्तिक ? और जैन दर्शन का स्याद्वाद न्याय कितना पुख्त है यह भी आप अच्छी तौर से समझ सक्ते हैं। जैन श्वेताम्बर कानफरन्स के बड़ोदे का अधिवेशन तारीख ३० । १२ । १९०४ ई० में हुआ था उस वक्त जगत्प्रसिद्ध देशभक्त माननीय पण्डित श्रीयुत **बालगङ्गाधर तिलक** महोदय ने अपनी वक्तृता में कहा था कि "ब्राह्मणों और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा-पान बन्द हुआ यह भी जैनधर्म का ही प्रताप है" इत्यादि बहुत कुछ कहा था। देखिए ! जैन दर्शन की तारीफ अन्यमतों के बड़े बड़े विद्वानगण कर रहे हैं। सच्ची बड़ाई वह है कि जिसकी तारीफ दूसरे लोग करें। जैन दर्शन की प्रशंसा अनेक पूर्वदेशीय और पाश्चात्य विद्वानों ने की है और करते ही चले जाते हैं विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन दर्शन के तत्त्व सब दर्शनों से अधिक श्रेष्ठ हैं, इससे विश्वास करने योग्य है। जैन दर्शन जगत्का कर्ता ईश्वर को नहीं मानता और यह बात बहुत ठीक है।

जगत् ईश्वर का रचा हुआ मानने वाले वेदादि धर्मावलम्बियों से जब पूछा जाता है कि ईश्वर को जगत्का कर्ता आपलोग मानते हैं इस संबंध में आप के पास क्या दृढ़ प्रमाण है ? तो प्रत्युत्तर में जोर देकर कहते हैं कि इस बात का साक्षी वेद है। और वेद ईश्वर के रचे हुए हैं इसलिए विश्वास करने के योग्य हैं इससे बढ़ कर क्या प्रमाण चाहिए ?। वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय, अथवा मनुष्यनिर्मित ? सद्मार्गदर्शक है या नहीं ? और विश्वास करने योग्य है या अयोग्य? अब हमें इन उक्त बातों पर परामर्श करना अवश्य है। परन्तु हमारे ओर से लिखने की भी कोई जरूरत नहीं मालूम होती। क्योंकि कितनेक वेद मतानुयायी विद्वान महाशयही वेदों को क्या समझ रहे

---

१ जैन धर्म के प्रताप से ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा पान बंद हुआ इस उपकार के बदले में कितनेक मनुष्य जैनों को नास्तिक किंवा नास्तिकों की श्रेणी में कहने का साहस करते हैं धन्य है ऐसे साहसियों को ?

हैं और लेखनी द्वारा क्या व्यक्त कर रहे हैं यह बतलाना विशेष लाभ दायक होगा इस लिए हम एक वैदिक विद्वान महाशय के ही विचार यहां पर देना उचित समझते हैं। पाठक इसे पढ़ कर इस बात पर विचार करें:—

वेद[1]

"वेद शब्द "विद्" धातु से निकला है। इस धातु से जानने का अर्थ निकलता है।" आगे लिखा है कि—"वेद पर सनातन धर्मावलम्बी हिन्दुओं का अटल विश्वास है। वेद हम लोगों का सब से श्रेष्ठ[2] और सबसे पुराना ग्रन्थ है।"

आगे लिखा है कि—"कोलब्रुक साहब ने भी वेद–प्राप्ति की चेष्टा की थी, पर किसी दाक्षिणात्य पंडित ने वैदिक छन्दों में लिखी हुई देवी–देवताओं की स्तुतियों से पूर्ण एक ग्रंथ उन्हें दे दिया और कहा कि यही वेद है। भला म्लेच्छों को कहीं दाक्षिणात्य पंडित वेद दे सक्ते हैं? ऐसाही धोखा एक और साहब को भी दिया गया था। मदरास के किसी शास्त्री ने सत्रहवीं शताब्दी में एक कृत्रिम यजुर्वेद की पुस्तक फादर राबर्ट डि नोबिली नामक पादरी को देकर उससे बहुतसा रुपया लिया। यह ग्रन्थ १७६१ ईसवी में पेरिस के प्रधान पुस्तकालय में पहुँचा, वहाँ पहले इसकी बड़ी कदर हुई। पर सारा भेद पीछे से खुल गया।"

आगे लिखा है कि–वेदों की "त्रयी" संज्ञा है। त्रयी कहने से ऋक्, यजु और साम इन्हीं तीन वेदों का ज्ञान होता है। अथर्व वेद एक प्रकार का परिशिष्ट है। ऋग्वेद में तीन ही वेदों का उल्लेख है।

---

१ यह लेख विनायक विश्वनाथ वेद विख्यात जी की सही से इलाहाबाद (प्रयाग) की सरस्वती नाम की मासिक पत्रिका के भाग ९ वें की संख्या ९ पर अर्थात् १९०८ के सप्तम्बर की संख्या में पृष्ठ ३८९ पर छपा है।

२ कैसा श्रेष्ठ और कैसा पुराना ग्रंथ है यह इस लेख को पढ़ने से मालूम हो जायगा। ग्रन्थकर्त्ता

यथाः-

"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय त्रयमृषयस्त्रयी वेदा विदुः ऋचो यजूँषि सामानि"

मनुस्मृति में भी मनु ने-" दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसाम लक्षणम्" कहकर तीन ही वेदों का नाम लिया है। परंतु पीछे से चार वेद माने जाने लगे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदि पुराणों में तो सर्वत्र ही चार वेदों का उल्लेख है-लिखा है कि ब्रह्मा के एक एक मुँह से एक एक वेद निकला है।" सनातन धर्म्मावलम्बियों का पक्का विश्वास है कि वेद नित्य है और वे ईश्वरप्रणीत हैं। कपिल ने सांख्य दर्शन में ईश्वर की स्थिति में तो सन्देह किया है "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः" पर वेदों के ईश्वरप्रणीत होने में किसीने सन्देह नहीं किया। यथाः-न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्यासम्भवात्"। न्याय दर्शन के कर्त्ता गौतम को छोड़कर सब दर्शनकारों की यही राय है। सब वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। अकेले गौतम ही ने उन्हें पौरुषेय अर्थात् पुरुषकृत लिखा है।अब नहीं कह सकते कि इस "पौरुषेय" से उनका क्या मतलब था। वे वेदों को साधारण हम तुम सदृश पुरुष के रचे हुए मानते थे, या पुरुष प्रकृतिवाले "पुरुष" (ईश्वर) से उनका मतलब था। यदि उन्हें पिछली बात अभीष्ट थी तो यह कहना चाहिये कि सभी दर्शनकारों की इस विषय में एकता है। किसी किसी मुनि की तो यहाँ तक राय है कि वेद नित्य हैं और उन्हीं के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करता है ? सो वेद ईश्वर के भी पथ[1] प्रदर्शक हुए ! वेद नित्य है, इससे कल्पान्त में वे हिरण्यगर्भ

---

१ वेदों को ईश्वर के पथदर्शक मानने से वेद ईश्वर के रचे सिद्ध नहीं होते और अनादि भी सिद्ध नहीं हो सकते इससे यही मालूम होता है कि वैदिक ऋषियों ने वेद रचे हैं। और दूसरी बात यह भी है कि वेदों को ईश्वर के पथदर्शक मानने से ईश्वर से भी वेदो की योग्यता विशेष हुई इससे ईश्वर न्यूनगुण हुआ और वेद पूर्णगुण हुए, देखिए यह कैसा आश्चर्य है !।

(ब्रह्मा) को आप ही आप आ जाते हैं। सृष्टि की आदि में हिरण्यगर्भ ही पहले पहल पैदा होते हैं। वेद उनके पूर्वाभ्यस्त रहते हैं। इससे स्मरण करते ही उन्हें वे आप ही आप याद हो जाते हैं। सो कर जगने पर क्या पूर्वाभ्यस्त बातें किसीको भूल भी जाती हैं? फिर हिरण्य-गर्भ को वेद कैसे भूल सकते हैं? इस तरह के शास्त्रार्थ से कितने ही प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं"।

"इस समय आर्य्य-समाज में वैदिक बातों पर बहुधा बिचार हुआ करता है। इस समाज के कोई कोई अनुयायी वेद का यथार्थ अर्थ जानने की चेष्टा भी करते हैं। "**त्रिवेद निर्णय**" नामक पुस्तक इसका प्रमाण है। पर वे भी वेदों को ईश्वरोक्त मानते हैं? परंतु वेदों को विचार पूर्वक पढ़ने से यह बात नहीं पायी जाती। इसीसे इस समय के अच्छे अच्छे विद्वान् वेदों के कर्तृत्वविषय में वाद विवाद नहीं करते। वे इसकी जरूरत ही नहीं समझते। वे जानते हैं कि वेद मनुष्यनिर्मित हैं। परंतु सर्व साधारण ऐसा नहीं मानते। इससे जो कोई वेदों के ईश्वरप्रणीत होने में शङ्का करता है उसे वे घोर पापी और घोर अधर्मी समझते हैं। इसे हम बखूबी जानते हैं। तिस पर भी जो हम सर्व साधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं उस का कारण यह है: —"**सत्ये नास्ति भयं क्वचित्**"

"वेदाध्ययन नहीं, वेद पाठ से ही यह मालूम होता है कि वैदिक ऋषिही वेद[1] प्रणेता हैं। वैदिक सूक्तोंही में प्रणेता ऋषियों के नाम विद्यमान हैं। इन्हीं ऋषियों ने अनेक प्रकार के छन्दों में स्तोत्र आदि बनाकर देवताओं की स्तुति और प्रार्थना की है। यह सब उन्होंने अपने अपने [2]अभीष्ट साधने के लिए किया था। लिखा भी है:—

१ इन वचनों से भी स्पष्ट मालूम होता है कि न वेद पौरुषेय है और न अपौरुषेय किन्तु मनुष्यनिर्मित है। हां यदि पौरुषेय कहने वाले हमारे तुम्हारे समान साधारण मनुष्यों के अर्थात् ऋषियों के रचे मानते हों तो ठीक है। "ग्रन्थकर्त्ता"

२ अपने २ अभीष्ट साधन के लिए किये हुए मंत्र सर्व साधारण को मान्य किस न्याय से हो सकते हैं? और मुक्ति भी कैसे दे सकते हैं! नहीं, इससे ही वेदों को अनेक विद्वान् अमाननीय कहते हैं।

" अर्थं पश्यन्तु ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन् " ।
जैसे पीछे के संस्कृत-कवियों ने गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियों से पूर्ण स्तोत्र बनाये हैं वैसेही अग्नि, सोम, वरुण, सविता इन्द्र आदि की स्तुतियों से परिपूर्ण स्तोत्र वैदिक ऋषियों के बनाये हुए हैं। यहां पर कोई यह कह सकता है कि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक [1]मन्त्र प्राप्त किये हैं। यदि यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया ? ये मंत्र इनकी अवस्था के ज्ञापक कैसे हुए ? ऋग्वेद का कोई ऋषि कूँए में गिरजाने पर उसीके भीतर पड़े पड़े स्वर्ग और पृथिवी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है कि आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिये। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइए। कोई बहुत सी गाएं मांग रहा है, कोई बहुत से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मन्त्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को भलाबुरा कहरहा है कि ये हमें आगे बढ़ने में बाधा डालती हैं। कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं [2]सुरा का है, कहीं द्यूत

---

१ यह बात महम्मदी कुरान के लिये और इसाई अपनी बाईबल के लिये भी कहते हैं किसका कहना सत्य है और किसका झूठ है और इस बारे में तीनोंही के समीप क्या प्रमाण है ?

२ जिन वेदों में अथवा वेदाङ्ग में दारू पीने का, मांस काम में लेने का, द्यूत को उत्तेजन देने का, दिल्लगी करने का, भला बुरा कहने का, देवताओं से स्वार्थ के लिये प्रार्थना करने का, मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण स्त्रीवशीकरण द्यूत में जीत होने इत्यादि कुकार्यों के करने का मंत्र तथा वर्णन है और ऐसा अनीति का जिन वेदों में उपदेश है उन घृणित शास्त्रों को कौन बुद्धिमान् अपौरुषेय अथवा विश्वास करने योग्य और सद्मार्गदर्शक कह सकता है ? कई लोगों की यह राय है कि खास वेदों में ऐसी अनुचित बातें नहीं हैं किन्तु मांस मदिरादि के सेवन करने वालों ने ब्राह्मणादि वेदाङ्ग शास्त्रों में पीछे से मिलादी हैं, अस्तु। किन्तु वेद अथवा वेदाङ्ग शास्त्रों में यह बातें देखने में आती हैं तभी तो कई विद्वान् ऐसा लिखते हैं।

'ग्रन्थकर्त्ता'

का है। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनन्तर वेद-पाठ-रत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि की उपमा आपने बरसाती मेंडकों से दी है। ये सब बातें वेद के ईश्वरप्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही मांगने की कोई जरूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मन्त्र में तो कुछ अंश को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्ववेद, सो वह तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मन्त्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुवे में जीतने तक के मन्त्र अथर्ववेद में हैं। अतएव इस विषय में विशेष वक्तव्य की जरूरत नहीं। न ईश्वर जूवा खेलता है और न वह स्त्रैणही है। न वह ऐसी बातें करने के लिये औरों को प्रेरणाही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं; जिन्होंने वेदों की रचना की है।"

"[1]परन्तु ईश्वर-प्रणीत न होने से वेदों का महत्त्व कुछ कम नहीं होसकता। चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से देखिए, चाहे धार्मिक दृष्टि से देखिए, चाहे विद्या विषयक दृष्टि से देखिए, वेदों की बराबरी और किसी देश का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। प्राचीन समय की विद्या, सभ्यता और धर्म का जैसा उत्तम चित्र वेदों में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे—इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदोंही में मिल सकता है। अतएव वेदाध्ययन करना हम लोगों का बहुत बड़ा कर्त्तव्य है।"

---

१ नहीं कह सकते कि जिन ग्रन्थों के विषय में खून, स्त्रैणादि घृणाकारक विचार 'वेद विख्यात जी' कर आये हैं फिर उन्हीं के संबन्ध में उन्हें ऐसा लिखने का क्या कारण हुआ! परन्तु अनुमान होता है कि शायद अन्य वैदिक लोगों के भय से अथवा जैन साहित्य के अवलोकन के अभाव से, बलात् आदरणीय लिखना पड़ा हो!

"जिस[1] रूप में आज कल वेद ग्रन्थ देखे जाते हैं वह उनका आदिम रूप नहीं है। उनका वर्तमान रूप वेद व्यासजी की कृपा का फल है। व्यासजी के पहले वैदिक स्तोत्रसमूह एक जगह एकत्र न था। वह कितनेही भिन्न भिन्न अंशों में प्राप्य था। क्योंकि सारे स्तोत्रसमूह की रचना एकही समय में नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी। किसी की रचना किसी ऋषि ने की है, किसी की किसी ने। उन सब बिखरे हुए मन्त्रों को कृष्ण द्वैपायन ने एक प्रणाली में बद्ध करदिया। तभी से वेदों के नाम के आगे "संहिता" शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसका अर्थ है– "समूह" "जमाव," "एकत्रीकरण"। वर्तमान रूप में वेदप्रचार करनेही के कारण बादरायण का नाम वेद-व्यास पड़ा। उन्होंने समग्र वेद अपने चार शिष्यों को पढ़ाये। बह्-वृच नामक ऋग्वेद–संहिता पैल को, निगद नामक यजुर्वेद–संहिता वैशम्पायन को, छन्दोग नामक सामवेद–संहिता जैमिनि को, और अङ्गिरसी नामक अथर्व-संहिता सुमन्तु को। इन चार शिष्यों ने अपने अपने शिष्यों को नई प्रणाली के अनुसार वेदाध्ययन कराया। इस प्रकार वेद-पाठियों की [2]संख्या बढ़ते बढ़ते वेदों की अनेक शाखायें होगईं, मन्त्रों में कहीं [3]पाठ-भेद होगया। किसी ऋषि के पढ़ाये शिष्य एक तरह का पाठ पढ़ने लगे, किसी के और तरह का। यह पाठ-भेद यहांतक बढ़गया कि सामवेद की सौ तक शाखायें होगईं! परन्तु अब ये सब शाखा पाठ नहीं मिलते। कुछही मिलते हैं।"

---

१ वेद, व्यासजी के पहले वेद ग्रन्थ के रूप में ही नहीं थे। ग्रन्थ का रूप व्यासजी नेही वेदों को दिया और वेदों का महत्वभी तब से विशेष बढ़ा इससे कह सकते हैं कि वेदों पर जितना अब वैदिकों का विश्वास है उतना व्यासजी के पहले नहीं था। ईश्वरप्रणीत शास्त्रों का रूप सर्व काल एक समान चाहिए। "ग्रन्थकर्त्ता"

२ इससे यह भी प्रतीत होता है कि व्यासजी के पहले वेद जाननेवाले कम थे? जभी तो शाखाओं का अभाव होगया?

३ ईश्वरप्रणीत शास्त्रों में भी कहीं पाठ भेद होसकता है? इसलिये जो वेद विख्यातजी की राय है कि वेद ईश्वरप्रणीत नहीं हैं किन्तु मनुष्यनिर्मित है यह ठीक मालूम होती है।

"वेदों के व्याख्यान अर्थात् टीका का नाम "ब्राह्मण" है। बहुत लोग संहिता और ब्राह्मण दोनों की "वेद" संज्ञा मानते हैं। वे कात्यायन के "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस वाक्य का प्रमाण देते हैं। परन्तु यह बात विचारणीय है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों का मतलब समझाया गया है। और भी कितनीही बातें हैं। अतएव उनकी रचना वेदों के साथही हुई नहीं मानी जा सकती। वैदिक मन्त्रों के आशय समझने में जब कठिनाई पड़ने लगी होगी तब "ब्राह्मण" बनाये गये होंगे, पहले नहीं। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में विशेष करके होता के कामों का विधान है और यजुर्वेद के ब्राह्मणों में अध्वर्यु के और सामवेद के ब्राह्मणों में उद्गाता के कामों का विधान है। यज्ञसंबन्धी बातों को खूब समझाने और यज्ञ कार्य का सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों से अच्छी तरह बतलानेही के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि हुई है। संहिता पद्य में है, ब्राह्मण गद्य में। गद्य के बीच में कहीं कहीं "गाथा" नामक पद्यभी ब्राह्मणों में है।"

"ब्राह्मण–ग्रन्थों के अन्त में "आरण्यक" हैं। जो घर छोड़ कर बन चले गये हैं, अतएव जिन्होंने यज्ञ करना बन्द करादिया है, ये "आरण्यक" ग्रन्थ उन्हींके लिए हैं। उन्हीं के काम की बातें इनमें हैं। "आरण्यक" से उतरकर उपनिषद् हैं। वे सब ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं।" "यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकलाप अर्थात् कर्मकाण्ड का विषय जब बहुत पेचीदा होगया और साधारण आदमी ब्राह्मण ग्रन्थों का ठीक ठीक मतलब समझने अथवा तदनुसार क्रिया निर्वाह करने में असमर्थ होने लगे तब श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों की उत्पत्ति हुई। इन ग्रन्थों में सब बातें थोड़े में समझाई गई हैं। श्रौत-सूत्रों में श्रुति-(यहां 'ब्राह्मणों' से मतलब हैं) में उल्लिखित बड़े बड़े यज्ञों के विधान आदि हैं; गृह्य-सूत्रों में जनन, मरण, विवाह आदि संस्कारों की विधि हैं; और धर्म-सूत्रों में धर्म-सम्बन्धी, अर्थात् धर्मशास्त्र या स्मृतियों की बातें हैं"

"इनके सिवा "अनुक्रमणी" नामक ग्रन्थों की गिनती भी वैदिकसाहित्य में की जाती है। इन ग्रन्थों में वेदों के पाठ आदि का क्रम

लिखा है। यह इसलिये किया गया है जिसमें वेदों को कोई अंश खो न जाय, अथवा उसमें पाठान्तर न हो जाय। एक अनुक्रमणी में तो ऋग्वेद के सूक्तों की, मंत्रों की, शब्दों की, यहां तक कि अक्षरों तक की गिनती भी दी है ?।"

"प्रातिशाख्य, परिशिष्ट, बृहद्देवता, निरुक्त आदि भी वैदिक साहित्य के अङ्ग हैं।"

"ऋग्वेद सब वेदों से पुराना है। वही सबसे अधिक महत्त्व का भी है। मंडल नामक १० अध्यायों में वह विभक्त है। कोई १५ प्रकार के वैदिक छन्दों में उसकी रचना हुई है। ऋग्वेद का कोई चतुर्थांश गायत्री-नामक छन्द में है। ऐसे तीन ही छन्द हैं जिनका प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है और छन्दों का कम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न ऋषियों के द्वारा भिन्न भिन्न समय में हुई है। इस वेद के ऋषि प्रतिभाशाली कवि थे—कवि नहीं, श्रेष्ठ[1] कवि थे। इसके अधिकांश मन्त्रों की रचना वैदिक देवताओं का उद्देश करके की गई है। उनमें उनके बल, वीर्य्य, शक्ति, प्रभुता, औदार्य्य आदि की प्रशंसा है। इन मंत्रों के रचयिता ऋषियों ने देवताओं की स्तुति और प्रशंसा के द्वारा उनसे लौकिक सुख-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। बहुत से पशु, बहुत से पुत्र पौत्र, बहुत सा ऐश्वर्य, दीर्घायु और शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति के लिए उन्हों ने देवताओं की स्तुति की है। लौकिक[2] सुख-प्राप्ति की तरफ उनका

---

१ सुरा मांस द्यूत स्त्रैण आदि की बेहूदी बातें करते थे आप उनको श्रेष्ठ समझते हैं ? धन्य है ऐसे श्रेष्ठ कवियों को।

२ जिन वैदिक ऋषियों को लौकिक सुख की तरफ ध्यान अधिक था फिर उन ऋषियों को तत्त्ववेत्ता कौन कह सकता है ! और जिन वेदों में पारलौकिक अर्थात् मुक्ति सुख प्राप्त करने की बातें कम और लौकिक सुख की बातें विशेष हैं उन ग्रन्थों को कौन बुद्धिमान सद्मार्गदर्शक शास्त्र कह सकता है ? वाममार्गी आदि नास्तिक लोगों का भी लौकिक सुख की तरफ ही ख्याल रहता है और जब वैदिक ऋषियों का यह हाल था तो फिर वैदिक ऋषियों में और वाममार्गियों में अन्तरही क्या रहा !

ध्यान अधिक था, पारलौकिक की तरफ कम । यज्ञों के संबन्ध में अग्नि और सोम आदि देवताओं के लम्बे लम्बे स्तोत्रों से ऋग्वेद भरा हुआ है । बीच बीच में याज्ञिक विषयों के आ जाने से स्तोत्र-जनित रसानुभव में यद्यपि कुछ विघात होता है, तथापि जिस सादगी और जिस भक्ति भाव से पुरातन ऋषियों ने अपने विचार प्रगट किये हैं वह अवश्य [1]प्रशंसनीय हैं । इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वन्, सविता, पूषण, ऊषा आदि जितने देवताओं की स्तुति की गई है प्रायः उन सब से मतलब किसी न किसी प्राकृतिक पदार्थ से है। अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं और [2]प्राकृतिक दृश्यों ही को देवता मानकर, या उन पर देवत्व का आरोप करके, उनका स्तवन किया गया है । एक ऋषि आश्चर्य पूर्वक कहता है, यह [3]सूर्य आकाश से गिर क्यों नहीं पड़ता ?

[4]दूसरा कहता है ये तारे दिन में कहां चले जाते हैं ? तीसरे

---

१ क्यों न प्रशंसनीय हो ! जिन्होंने अपने मतलब को (ऐहिक) ही धर्म मान रक्खा है उनके लिए बेशक प्रशंसनीय है ? परंतु न मालूम वेदविख्यात जी (कि जो वेदों के संबन्ध में घृणित और आश्चर्य जनक बातें लिख कर भी) फिर किस कारण से वैदिक ऋषियों के विचार प्रशंसनीय समझ रहे हैं ? ।

२ प्राकृतिक पदार्थों को देवता समझ अथवा प्राकृतिक वस्तुओं पर देवत्व का आरोपकर स्तवन किये हैं इससे भी वैदिक ऋषियों की अज्ञता स्पष्ट झलक रही है फिर ऐसे ऋषियों के रचे ग्रन्थ कैसे सर्व मान्य हो सकते हैं !

३ जिन वैदिक ऋषियों को वैज्ञानिक बातों का इतना भी ज्ञान नहीं था उन के रचे ग्रन्थ तत्त्वद्रष्टा कैसे हो सकते हैं ? देखिए ! यह वेदों की योग्यता । आकाश में सूर्य रहता है इस बात को भी वे अच्छी तौर से नहीं समझ सकते थे तभी तो उनकी सूर्य के संबन्ध में ऐसी कल्पना हुई होगी यदि वैदिक ऋषि तत्त्व-वेत्ता होते तो इस बात को क्यों नहीं समझ सकते । 'ग्रन्थकर्ता'

४ क्या वैदिक ऋषियों को इतना भी मालूम नहीं था कि 'सूर्य के प्रकाश के प्रभाव से तारे नहीं दीखते' जो इतना अज्ञताभरा प्रश्न का गंभीर विचार करने लगे । ऐसे अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानियों के रचे वेदों पर कौन बुद्धिमान् विश्वास रख सकता है ।

को यह विस्मय हो रहा है कि बड़ी बड़ी अनेक [1]नादियों के गिरने पर भी क्यों समुद्र अपनी हद से बाहर नहीं जाता ? इसी तरह [2]आश्चर्य और कौतुक के वशीभूत होकर प्राचीन ऋषियों ने [3]प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानना आरंभ कर दिया। इस आरंभ का अन्त कहाँ जाकर पहुँचा, इसे कौन नहीं जानता ? ऋग्वेद के ३३ देवता बढ़ते बढ़ते ३३ करोड़ हो गये।"

"मीमांसा दर्शन के कर्ता जैमिनि का मत है कि "देवता" नामक कोई सजीव पदार्थ नहीं है। "इन्द्र" कहने से इस शब्द को देवता मान लेना चाहिए। अपने दर्शन के छठे अध्याय में:—"

"फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्"

इस सूत्र से आरम्भ करके आपने देवताविषयक बहुत सी बातें लिखी हैं। आप के कथन का सारांश यह है कि वैदिक देवताओं के न जीव है और न शरीर। यदि ये देवता शरीरी होते तो यज्ञ के समय आकर जरूर उपस्थित होते। सो तो होता नहीं। यदि यह कहें कि वे आते तो हैं पर अपनी महीमा के बल से हम लोगों की आँखों से अदृश्य रहते हैं तो भी ठीक नहीं। क्योंकि, इस दशा में, यदि दस जगह भिन्न भिन्न यज्ञ होंगे तो एक शरीर को लेकर वे कहाँ कहाँ जायँगे ? अतएव मंत्र ही को देवता मान लेना चाहिए। परंतु इस विषय में और अधिक न लिखना ही अच्छा है।

---

१ यह फिर भी वैदिक ऋषियों की अज्ञता अल्पज्ञता का नमूना देख लीजिए कि जिनको संसार की परिस्थितिका का कुछ भी मालूम न था।

२ जिन वेदों की रचना आश्चर्य और कौतुक के वशीभूत हुए वैदिक ऋषियों ने की है तिन वेदों में पारमार्थिक बातें कहाँ से हो सकती हैं। पक्षपात को त्याग के देखा जाय तो वेद सम्यक्पथद्रष्टा मालूम नहीं होते।

३ प्राकृतिक पदार्थों को देवता माना है इसका कारण प्रायः यह होना चाहिये कि वैदिक ऋषि सुरापान के वशीभूत होकर उन्मत्तता से चाहे उन पदार्थों पर कल्पना करने लग गये होंगे। क्योंकि सुरा का पान करने वालों के हृदय में शुद्ध विचार की जगह नहीं रहती और उद्गार विचारानुसार होता है इसलिये उन की बातों पर बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास नहीं कर सकते।

वैदिक समय में पशुहिंसा बहुत होती थी। यज्ञों में पशु बहुत मारे जाते थे और उनका मांस भी खाया जाता था। उस समय कईएक पशुओं का मांस खाद्य समझा जाता था, उनके नामनिर्देश करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इस विषय के उल्लेख जो वेदों में पाए जाते हैं उन्हें जाने दीजिए किन्तु महाभारत में चर्मण्वती नदी और रन्तिदेव राजा का जो वृत्तान्त है उसेही पढ़ने से पुराने जमाने की खाद्याखाद्य चीजों का पता लग जाता है। सोम रस का पान तो उस समय इतना होता था कि जिसका ठिकाना नहीं पर लोगों को सोम पान की अपेक्षा [1]हिंसा अधिक प्यारी लगती थी। इसी वैदिकी हिंसा को दूर करने के लिए गौतम बुद्ध को "अहिंसा [2]परमो धर्मः" का उपदेश देना पड़ा"।

"सामवेद के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से ही लिये गये हैं, सिर्फ उनके स्वरों में भेद है। वे गाने के निमित्त अलग कर दिये गये हैं। सोम यज्ञ में उद्गताओं के द्वारा गाने के लिये ही सामवेद को पृथक् करना पड़ा है। सामवेद भी यज्ञ से संबन्ध रखता है और यजुर्वेद भी। सामवेद का काम केवल सोम यज्ञ में पड़ता है, यजुर्वेद में सभी यज्ञों के विधान आदि हैं। साम की तरह यजुर्वेद भी ऋग्वेद से

---

१ जिन वेद शास्त्रों में हिंसा का प्रचुर उपदेश है, इतनाही नहीं किन्तु सुरापान याने दारू का भी पीना कुछ कम नहीं लिखा है। ऐसे गर्ह्य और नीच पथपर मनुष्यों को ले जानेवाले शास्त्रों को हम सर्वथा हेय समझते हैं। हमहीं क्या कोई भी बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार न करेगा। आश्चर्य है कि ऐसे वेदों को माननेवालों के दिल में कुछ विचार भी नहीं आता!

२ यह सिद्धांत बौद्धों का नहीं किन्तु जैनों का मुख्य सिद्धांत है। जैन तीर्थंकर-गणधर अनंत काल से इस सूत्र का उपदेश करते चले आये, और भविष्य में (होने वाले) तीर्थंकर भी करेंगे। ऐसा जैनों का मानना है। गौतम बुद्ध ने इस सिद्धान्त का कुछ अंश लिया परंतु पूरा नहीं इसीसे बौद्धमतानुयायी गौतम बुद्ध के समय में भी मांस खाते थे और आज भी खाते हैं। जैन और बौद्ध धर्म को जो लोग एकही बतलाते हैं अथवा एक को एक की साखा कहते हैं उनकी भूल है किन्तु दोनों धर्म अलग अलग हैं। तीर्थंकर महावीर जी का शिष्य गणधर गौतम और बौद्ध धर्मोत्पादक गौतम बुद्ध के नाम एक होने से दोनों एक नहीं हो सक्ते।

उद्धृत किया गया है; पर हां साम की तरह प्रायः बिलकुलही ऋग्वेद से नकल नहीं किया गया। यजुर्वेद (वाजसनेय-संहिता) का कोई एक चतुर्थांश मन्त्रभाग ऋग्वेद से लिया गया है; शेष यजुर्वेदही के ऋषियों की रचना है। यजुर्वेद में गद्य भी है, सामवेद में नहीं, क्योंकि वह गाने की चीज है। यजुर्वेद के समय में ऋग्वेद के समय की ऐसी मनोहारणी वाक्यरचना कम होगई थी। उस समय स्तुति प्रार्थना की तरफ ऋषियों का ध्यान कम था। यज्ञसंबन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम बनाकर उसीके द्वारा अपने सौख्यसाधन की तरफ उनका ध्यान अधिक था। इसीसे जरा जरा सी बातों के लिए भी उन्हें विधि विधान बनाने पड़े थे। लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति की कुञ्जी यज्ञही समझा गया था"।

"विनायक विश्वनाथ वेदविख्यात"

पाठक ! वेद विख्यात जी के इस लेख से वेदों के संबंध में आप लोग अच्छी तौर से समझ सकते हैं। वेद ईश्वरकृत अथवा अपौरुषेय नहीं हैं किन्तु मनुष्यनिर्मित हैं वेदविख्यात जी ने भी यही मत प्रकट किया है और और भी इस बात के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

वेद किसके कहे हुए हैं इस संबंध में वैदिकों का भी एक मत नहीं है। कई वेदों को अनादि कहते हैं और कई ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए मानते हैं। कई कहते हैं कि ब्रह्मा के मुखरूप ब्राह्मण हैं और वेद ब्राह्मणों के मुख से कहे हुए हैं इससे ब्रह्मा के ही कहे हुए मानना चाहिए। ऋग्वेद के मंत्र ७ भाग २ पर लिखा है कि वेद परमेश्वर से आये हैं अतएव सब प्रकार से स्तुतियोग्य हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि वेद परमेश्वर[1] के श्वास से निकले हैं। मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक २३ पर लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, और सूर्य से ऋग्-

---

१ ईश्वर तो अदेह है फिर श्वास देह बिना कहाँ से आया ! क्योंकि श्वास देहधारी के होता है। यदि किसी देहधारी मनुष्य का नाम ईश्वर परमेश्वर हो और उसके भी श्वास से वेदों की उत्पत्ति मानें तो भी असंभाव्य है तो फिर अदेह ईश्वर के श्वास से वेदों की उत्पत्ति माननी नितान्त भ्रमात्मक है।

यजुः और साम आकृष्ट किये और यह भी फिर उसी श्लोक में लिखा है कि तीनों वेद असल में सनातन हैं। वैदिक महाशय चाहे वेदों को सनातन मानें अथवा ईश्वरकृत मानें उनकी श्रद्धा की बात है परंतु तटस्थरीत्या देखने से यह बात नहीं पाई जाती है, क्यों कि:–

"ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादिरतः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ?" ॥ १ ॥

(श्रीमान्-हरिभद्रसूरिः)

भावार्थ—वर्ण (अक्षर) के वर्गों की सृष्टि तालु आदि स्थान से और जिह्वा के प्रयत्न से है और यह बात प्रकट है कि वेद वर्णात्मक हैं और तालु आदि स्थानप्रयत्न मनुष्य के होते हैं अतएव वेद 'अपौरुषेय' है यह प्रतीत कैसे हो? !

शब्दरूप वाणी का उच्चारण अशरीरी से नहीं हो सकता। निराकार ईश्वर मुख से बोले यह विचारशील मनुष्य कभी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि जब आकारही नहीं है तो मुख कहाँ से आया और मुख के विना उच्चारण कहाँ से हो सक्ता है क्या ईश्वर कोई इंग्रेजी बाजा है? । यदि कोई यह कहे कि ईश्वर ने ऋषियों को प्रेरणा की तो अशरीरी को प्रेरक मानना युक्तिविकल है। वेद शब्दरूप हैं और जो जो शब्दरूप है वह देहधारी का ही कथन हो सकता है। सत्य पूछो तो वेदों की उत्पत्ति मनुष्योंही से है। वेदों के वारे में इस ग्रंथ में जो जो वातें लिखी गई हैं उन्हें देख वेद के पक्षपाती अवश्य नाराज़ होंगे परन्तु विना प्रमाण कैसे कहें कि वेद अपौरुषेय हैं।

वस्तुतः पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों के आधार पर कह सक्ते हैं कि वेदों की सृष्टि मनुष्यों से ही है। पाश्चात्य विद्वान मोक्षमूलर आदि का अभिप्राय है कि "वेद के वचन ऐसे हैं कि जैसे अज्ञानियों के मुख से

अकस्मात् बोले जावे हों और इनकी रचना अनुमान ३००० वर्ष से हुई है।

अनुमान होता है कि वैदिक ऋषियों ने सुरा पानकर उन्मत्तता से, कौतुक के वशीभूत होकर जैसे प्राकृतिक पदार्थों को देवता माना है वैसेही जगत्कर्त्ता होना भी माना हो ! "विना किये कोई पदार्थ नहीं बनता इसलिये जगत् का कर्ता ईश्वर अवश्य है" ऐसा समाधान करके वेद में लिख दिया हो कि "जगत्कर्ता ईश्वर है" और उनके अनुयायिओं ने इस बात को पीछे से पकड़ रक्खा हो तो भी आश्चर्य नहीं !

कितनेक महाशयों का यह मत है कि–"ईश्वर, प्रकृति, काल, आकाश और जीव के अनादि होने से इस जगत की उत्पत्ति होती है" इसका उत्तर यह है कि जब यह तीन वस्तु अनादि हैं तो फिर ईश्वर ने क्या जगत रचा ? इससे तो सब पदार्थ अनादि सिद्ध हो चुके और सब पदार्थ अनादि होने से ईश्वर का रचा जगत् कभी सिद्ध नहीं हो सकता ? ईश्वर को कर्ता मानने वालों की वहादुरी जब समझी जाय कि विना किसी पदार्थ से ईश्वर ने सृष्टि रची है यह न्याययुक्त सिद्ध करदें। यदि ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले पूर्वोक्त तीन वस्तु को अनादि मानेंगे तो यह वेद वाक्यः–

"एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"

झूठा होगा, क्योंकि उक्त ऋचा में उस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति मानी है। एक जगह पर अनादि कहना और दूसरी जगह उत्पत्ति-मानना यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इससे यह भी आपका तर्क कल्पित है ईश्वर जगत् का कर्ता किसी युक्ति या प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। यह निःसन्देह बात है।

कई महाशय जब सब प्रकार से निरुत्तर हो जाते हैं तब यह भी कह दिया करते हैं कि–"जैसा जीव कर्म करता है वैसा पाता है। परंतु शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर है। क्योंकि कर्म

जड है इसलिए स्वतः जीव प्राप्त नहीं कर सक्ता । इससे देनेवाला कोई होना ही चाहिए । कर्म करनेवाला जीव है और फल देनेवाला ईश्वर है ।" इसका प्रत्युत्तर यह है कि जैसा जीव करता है वैसा पाता है और यदि देनेवाला ईश्वर है तो प्रथम तो आपसे हमारा यह प्रश्न है कि फिर ईश्वर ने अपनी ओर से क्या दिया ? कुछ भी नहीं । और आप जो यह हेतु देते हैं कि कर्म जड है इसलिए ईश्वरद्वारा फल मिलता है; सो यह भी भ्रम है । जैसे विषमिश्रित भोजन करने से मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है परंतु विष जड पदार्थ है उसको यह ज्ञान नहीं है कि जो मुझे खाता है उसकी मृत्यु हो जाती है, तथापि उसको खानेवाला अवश्य मृत्यु के मुख में गिरता है । वैसे ही पौष्टिक पदार्थ मृगाङ्क, मकरध्वज, चंद्रोदय आदि मात्राएँ अथवा घृत, दुग्ध आदि भक्षण करने से मनुष्य का शरीर पुष्ट होता है, परंतु उक्त पदार्थों को सर्वथा यह मालूम नहीं कि हमारे सेवन करने वाले की पुष्टि होती है। अथवा जैसे चुम्बक पत्थर, लोहे का आकर्षण करता है तो पाषाण और लोह दोनों ही जड पदार्थ हैं परन्तु चुम्बक पत्थर में ऐसा ही स्वाभाविक गुण है कि वह लोह को आकर्षण किये बिना नहीं रह सकता । इसमें जैसे प्रेरक का कोई काम नहीं तद्वत् कर्म जड़ होने से क्या हुआ ? कर्म फल भोगने में भी ईश्वर का कोई काम नहीं है कर्मो में यह स्वाभाव है कि शुभ कर्म के कर्ता को शुभ सामग्री और अशुभ कर्म के कर्ता को अशुभ सामग्री स्वतः प्राप्त हो जाती है । याद रहे द्रव्य अपना परिणाम नहीं छोड़ता । कर्मों को जड कहकर शुभ कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर सिद्ध करना चाहे तो नहीं हो सकता। जीव शुभाशुभ परिणाम के उपयोग से शुभाशुभ कर्म आकर्षण करके आत्मा को लोलुपीभूत करता है यह अनादि अनंत काल की स्थिति है । सब वस्तुओं का स्व स्व स्वरूप में अस्तित्व है इसमें ईश्वर का कोई काम नहीं । जगत् का कर्ता ईश्वर है इस बात को स्वीकार करनेवाले यह कहा करते हैं कि कर्ता भोक्ता एक ईश्वर है, दूसरा कोई नहीं और जब इस बात में पक्ष निर्बल होता देखते हैं तो शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है ऐसा कहना

शुरू कर देते हैं। हम पूछते हैं कि आपका जगत्कर्ता ही सब कुछ है तो फिर कर्मों को मानने की क्या गरज़ रही ?

जगत्कर्तामाननेवालों का यह हठ है कि विना किये कुछ भी चीज नहीं होती, इससे जितने पदार्थ हैं उनका करनेवाला कोई होना ही चाहिये। उत्तर में ज्ञात हो कि फिर आपके ईश्वर का भी कर्ता कोई होना चाहिए? क्योंकि आपका ईश्वर विना ही किये कैसे हो गया।

यदि कहाजाय कि ईश्वर का कर्ता कोई नहीं है ईश्वर स्वतः सिद्ध है। संसार का रचयिता ईश्वर मानना ठीक है परंतु ईश्वर का कर्ता मानना ठीक नहीं। हम कहते हैं कि क्यों ठीक नहीं ! आप प्रथम कह चुके हो कि विना किये कुछ भी पदार्थ नहीं बनता इससे तो ईश्वर का भी कर्ता कोई होना उचित है और अब कह रहे हो कि ईश्वर का कर्ता कोई नहीं। जैसे आप ईश्वर का कर्ता कोई नहीं मानते तद्वत् जगत् का कर्ता भी कोई नहीं ऐसा मान लिया जाय तो किसी भी तरह का वाद विवाद का कारण नहीं रह सक्ता, और ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानने में ईश्वर में भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। परन्तु ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने में अनेक दोष आते हैं यह हम प्रथम दिखा आये हैं इसलिए यहाँ पर लिखने की जरूरत नहीं।

कितनेक ईश्वर वादियों का मानना है कि जगत् के उत्पत्ति के प्रथम केवल जगत् का कर्त्ता एक शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानंद परमेश्वर ही था और दूसरी कुछ भी सामग्री नहीं थी और सत्र पदार्थ (वस्तु) ईश्वर के ही रचे हुए हैं और कितनेक ईश्वरवादी जगत् की उत्पत्ति के प्रथम एक ईश्वर और दूसरा जगत्उत्पन्नकरने की सामग्री (काल-दिशा-प्रकृति) और जीव इन तीनों को अनादि माना है इन दोनों ही प्रकार के ईश्वरवादियों के प्रश्नों का उत्तर न्याययुक्त इस ग्रंथ में दिया गया है फिर कोई ईश्वरवादी महाशय तर्क करेगा तो यथासाध्य उत्तर देने में विलम्ब नहीं किया जायगा। **किसी महाशय के मन में इस विषय पर कुछ लिखने की उम्मेद हो तो बेशक कुछ लिखे,** गौर किया जायगा।

जब ईश्वरवादी सर्व प्रकार से निरुत्तर हो जाते हैं तो यह कहा करते हैं कि जब ईश्वर को सृष्टि का कर्ता वा प्रेरक न मानें तो ईश्वर को कैसा माने ! और जब ईश्वर कुछ करता ही नहीं है तो ईश्वर को मानने से ही क्या लाभ होगा ? । ईश्वरवादी महाशय ! इसके उत्तर में सुनिए । ईश्वर को सांसारिक बातों का प्रेरक मानने से अथवा जगत् का कर्ता मानने से पूर्वापर विरोध आता है इसीलिए जगत् कर्त्ता ईश्वर को मानने वालों को निरुत्तर होना होता है अतएव ईश्वर को ध्येयरूप मानने से ईश्वर में किसी प्रकार का भी दोष नहीं आता और ध्यान का आधार ध्येयरूप मानना क्या यह लाभ नहीं है ? बल्कि एतावन्मात्र ही महान् और उत्तम लाभ है ।

उपसंहार ।

और

(जैन तत्त्वज्ञान)

"यदि निष्पक्षपात होकर देखा जाय तो सत्य बात यह है कि, जीव और जड अनादि से मिले हुए हैं । इनका रचयिता कोई नहीं है । यौगिक और मिश्र पदार्थों के सूक्ष्म अणु-हजार, लाख, करोड, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध कभी पृथक् २ हो भी सक्ते हैं; परंतु मूल परमाणुओं का विश्लेष कभी नहीं हो सक्ता । तात्पर्य एक परमाणु के दो विभाग नहीं हो सकते । अतएव सिद्ध हुआ कि मिश्र पदार्थ विनाशशील हैं परंतु असली पदार्थ विनाशशील नहीं । जीव अनादि और अमर है । एक शरीर से दूसरा शरीर धारण करना इसका नाम मृत्यु है । वर्त्तमान अवस्था पूर्वकृत कर्मानुसार और आगामी अवस्था वर्तमान में किए हुए कर्मों के अनुसार होती है । आत्मा जबतक सब कर्मों से मुक्त न होगा तब तक जन्म मरण रूप चक्र में भ्रमण करता रहेगा । जैसे मनुष्य मदिरा (सुरा) के पान करने से पराधीन अर्थात् उसके नशा के आधीन हो

जाता है तद्वत् आत्मा सर्व शक्तिमान अर्थात् अनंत शक्तिमान होने पर भी कर्माधीन होने से परिभ्रमण करता है । जो जीव जैसा करता है वैसा फल भोगता है। कर्मों का फल देनेवाला दूसरा मानना भ्रम है । कर्मों का भुक्तभोग पूरा हो जाने से जीव मुक्त[१] हो जाता है । पूर्व संचित कर्मों को दूरकर आगामी कर्मों का बंध पड़ना रोक देवे तभी जीव की मुक्ति होती है। जगत् का कर्ता कोई नहीं स्वतः अनादि काल से प्रवाहरूप चला आता है । मुक्त जीव फिर संसार में लौट के नहीं आते । जो लोग मुक्त जीवों का फिर संसार में लौट आना मानते हैं उनमें वह बुद्धि का दोष है । सर्व पदार्थ स्वतः अपना अपना कार्य करते रहते हैं और काल, स्वभाव, नियति, उद्यम, और कर्म इन पांचों का समवायसंबंध, पदार्थो के संयोग में निमित्त है । जैसा कि सूत्र के तंतु के पुंज से पट की उत्पत्ति होने का समय इसको "काल" जानना और सूत्र के पुंज में पट की उत्पत्ति करने की योग्यता है इसको "स्वभाव" जानना । पट के बनाने का पुदुगल जैसे रूई है इसको "नियति" समझना, भवितव्यता-प्रारब्ध-दैव-अदृष्ट-जीवकृत धर्माधर्म, किंवा पुद्गलादि भी नियति का अर्थ होता है अथवा जिन जिन पदार्थों के जैसे २ स्वभाव हैं उन उन पदार्थों का वैसा वैसा जो परिणाम हो उसका भी नाम नियति है। जिस सूत्र के तंतु के पुंज से जिस पट की उत्पत्ति का जो निमित्त होना वह "पूर्व कर्म" समझना चाहिए । और तंतु के पुंज से पट की उत्पत्ति करने का जो उद्योग करना उसको "उद्यम" जानना चाहिये । इन पांचों के समवाय संबन्ध के योग से सब कार्य होते हैं इसमें ईश्वर का कुछ काम नहीं । जड, चेतन पदार्थ स्वयं अनादि सिद्ध हैं । पुरुष विना स्त्री नहीं, और स्त्री विना पुरुष नहीं । बीज विना वृक्ष नहीं, और वृक्ष विना बीज नहीं । पृथवी, जल, वायु और आकाश इनके विना, मनुष्यों की अथवा वृक्षों की स्थिति होना प्रायः दुःसाध्य है । जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थों के अंतर्गत सब पदार्थों का समा-

---

१ शरीरादि सर्व पदार्थों से आत्मा का आत्यन्तिक वियोग हो जाने का नाम मुक्ति है । जो आत्मिक सुखों में मग्न रहे उसे मुक्तात्मा कहते हैं ।

वेश हो सकता है । प्रत्येक पदार्थ में अपना अपना गुण ठहरा हुआ है । मृत्तिका में यह गुण है कि अग्नि में रहने से कठोर और रक्तवर्ण हो जाती है परन्तु कागज़ में उक्त गुण नहीं है । वह न कठोर हो सकता है और न लाल । काष्ठ की लकड़ी दो लेकर और छीलछिलाकर परस्पर दोनों को फसादो और ठोककर चुस्त करदो जोड़ लग जायगा और परस्पर एकमें एक मिलकर एक समान होजायगी । परन्तु धूलिपर धूलि रखने से जोड़ नहीं लगसकता, इसी तरह संसार के सर्व पदार्थों की परीक्षा करने मे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु में पृथक् पृथक् स्वाभाविक गुण रहते हैं । अनेक पदार्थ ऐसे संसार में हैं जिनके मिलने से और पृथक् पृथक् होने से अनेक नवीन स्वभाव उत्पन्न होते हैं । जैसे श्याम[1] और पीत रंग मिलने से हरितभाव होता है । घास का बीज पृथिवी में बोने को कोई नहीं जाता; परंतु वर्षा के पानी का योग पाकर स्वतः अंकुर निकलकर घास उग जाता है । तद्वत् संसार में पदार्थों का ओत प्रोत (उलट-पलट) होकर नाना प्रकार के नवीन भाव सदा उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं । इस प्रकार की रचना को अज्ञ अथवा अल्पज्ञों ने ईश्वर की रचना समझ रक्खी है । जीव जैसा कर्म करता है तदनुसार उसको फल स्वतः प्राप्त होता है, ईश्वर को इसमें मध्यस्थ होने की कोई आवश्यकता नहीं है । कोई ऐसा न्यायशील मनुष्य संसार में नहीं दीखता कि जो रागद्वेष-रहित ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता सिद्ध कर दे ! जो लोग पक्षपातरूप [2]कंथा ओढ़कर बैठे हुए हैं वे युक्ति प्रमाण को कुछ चीज नहीं समझते । यदि वे कदाचित् लेखनीद्वारा अथवा वक्तृताद्वारा हठात् अपने मन्तव्य सिद्ध करने का प्रयत्न भी करें तो भी बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष, उस दुराग्रह को शीघ्र समझकर उनके मन्तव्य को अपने हृदय में स्थान नहीं देते !

जगत् रचना की ओर लक्ष्यपूर्वक देखा जाय तो इतनी बात अवश्य है कि कारणरूप जगत्; अर्थात् जड, चेतन पदार्थ अनादि से है और

१ इस बात पर विशेष देखने की जिसकी इच्छा हो वह भौतिक शास्त्र देखे ।

२ गुदड़ी ।

कार्य रूप जगत्; अर्थात् नाना प्रकार के पदार्थ जो कृत्रिम दृष्टिगत हो रहे हैं उनके बनानेवाले सब संसारी जीव हैं । इसमें ईश्वर का कुछ संबंध नहीं ।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयमेव विनश्यति" ॥१॥
"यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणम्" ॥१॥

आत्मा अज्ञान के उदय से बुरे और ज्ञान के उदय से अच्छे आपही स्वतः कर्म करता है, और स्वयं ही भोगता है, स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही एक गति से दूसरी गति में जाता है, जिसको व्यवहार में मर गया कहते हैं। जब सब कार्यों से निःस्पृही होकर आत्मा का साधन करेगा तब जन्म, मरण से छूटकर सर्व कर्मों से विमुक्त हो जायगा; फिर संसार में परिभ्रमण करना न होगा ।

माता के उदर में जिस समय जीव आता है उस समय पूर्वभव के, पुण्य पाप के बंध के अनुसार अच्छा या बुरा शरीर बनाता है और शरीर संपूर्ण होजानेपर जन्म धारण करता है । यदि आयुः पूर्ण होता है तो अधिक काल उस शरीर में रहता है । शुभ कर्मों से सुख और अशुभ कर्मों से दुःख जीव को होता है यह सरल मार्ग है ।

जैन शास्त्रों में अरि[१]हन्त और सिद्ध को देव मानते हैं । आचार्य, उपाध्याय और साधु को गुरु मानते हैं । ज्ञान, दर्शन; चारित्र और तप को धर्म का मूल माना है। उक्त शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म इन

---

१ अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगा: । हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥१॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं, निद्रा च विरतिस्तथा । रागो द्वेषश्च नो दोषा-स्तेषामष्टादशाप्यमी ॥२॥ भावार्थ–१ दानान्तराय २ लाभान्तराय, ३ वीर्यान्तराय, ४ भोगान्तराय, ५ उपभोगान्तराय, ६ हास्य, ७ रति, ८ अरति, ९ भय, १० जुगुप्सा, ११ शोक, १२ काम, १३ मिथ्यात्व, १४ अज्ञान, १५ निद्रा, १६ अविरति, १७ राग, १८ द्वेष । इन अठारह दोषों से रहित अरिहन्त होते हैं ।

तीन तत्त्वों को जो पूर्ण जानकार दृढ श्रद्धावान् हो वही विशुद्ध जैनी कहा जा सकता है। जिस देव में अठारह दोष हों अथवा अठारह में से एक भी दोष मिले उसे शुद्ध देव नहीं जानना। और जो गुरु कनक कामिनी का लोलुपी हो वह सुगुरु नहीं हो सकता और जो धर्म हिंसाप्रचुर अज्ञानियों द्वारा प्रणीत हो वह शुद्ध धर्म नहीं हो सकता। इन तीन तत्त्वों का जैन शास्त्रों में खूब विचार किया गया है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ (तत्त्व) माने हैं। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-पुद्गल और जीव यह षट् द्रव्य हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरु लघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, और अमूर्त्तत्व, यह दश द्रव्य के सामान्य गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनाहेतुत्व, वर्त्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व यह द्रव्य के सोलह विशेष गुण हैं। अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परम यह ग्यारह द्रव्य के सामान्य स्वभाव हैं। चेतन, अचेतन, मूर्त्त, अमूर्त्त, एक प्रदेश, अनेक प्रदेश, विभावस्वभाव, शुद्ध स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव और उपचरित स्वभाव यह दश द्रव्य के विशेष स्वभाव हैं। वस्तु के एक एक धर्म पर सप्तभंगी की रचना जानने योग्य है। स्याद्वाद[1] न्याय से जिस वस्तु की परीक्षा की जाय और वह ठीक परिक्षा में उतरे वह सत्य है। सभी वस्तु उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। वस्तु स्व रूप करके अस्तित्व में है और पर रूप करके अस्तित्व में नहीं है, अर्थात् पर रूप करके अस्ति नहीं और स्वरूप करके नास्ति नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण माने हैं। तीर्थंकरों ने एक श्रावक (गृहस्थ) धर्म और दूसरा यति धर्म कहा है। श्रावकों के लिये दशविध धर्म इस प्रकार जानना:—

---

१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्ति नास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य, ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। यह सप्तभंगी अर्थात् स्याद्वादन्याय की मुख्य बातें हैं।

"दया दानं दमो देवपूजा भक्तिर्गुरौ क्षमा ।
सत्यं शौचं तपोऽस्तेयं, धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्" ॥१॥

१ सर्व जीवों पर अनुकंपा-दया रखना, २ अभय सुपात्रादि दान देना, ३ पंच इन्द्रियों का दमन, ४ जिनेंद्र देव की द्रव्य भाव सहित पूजा, ५ गुरु भक्ति, ६ क्षमा, ७ सत्य, ८ पवित्र रहना, ९ तपस्या करना और १० चोरी नहीं करना । यह दशविधधर्म गृहस्थों का कहा । धर्म कार्य में उद्यमी, आस्तिक, विनयवान, शास्त्र गुरुमुख से श्रवण करने वाला, परलोक साधन के लिए, शुद्ध मन, वचन, काया से धर्मक्रिया करने वाला, सद्‌बुद्धियुक्त, संसार को असार समझकर लोभ लालच को घटानेवाला, विषय सुख को क्षणिक समझकर त्याग करनेवाला और कषाय को हटाकर स्वभाव को स्थिर रखनेवाला हो वही शुद्ध श्रावक हो सकता है।

दूसरा यति धर्म दशविध इस प्रकार जानना:—

"खंति-अज्जव-मद्दव-मुत्ति-तव-संयमो य बोद्धव्वो ।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जई धम्मो" ॥ १ ॥

१ क्षमा, २ निरभिमान, ३ निष्कपट, ४ सर्व सांसारिक कार्यों से मुक्त, ५ तपयुक्त, ६ सत्रह प्रकार के संयम का पालनहार, ७ सत्य-ग्राही-सत्यवक्ता, ८ बाह्य आभ्यन्तर शौच, ९ सुवर्णादिक धातु के त्यागी, १० ब्रह्मचर्यव्रत सहित यह दशविध यतिधर्म कहा । और छ काय के रक्षक, शुद्ध उपदेश के देने वाले, षट द्रव्य की चर्चा के जानकार पंच महाव्रत धारक, पांच इन्द्रिय के २३ विषयों को जीतने वाले, कषायरहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधक, जिनागम स्याद्वाद वाणी के जानकर, अप्रमादी धर्मधुरंधर, मोक्षमार्ग के दर्शक, गृहस्थाश्रम का त्याग, दीक्षा ग्रहणकर तीर्थंकरों के मार्ग को बतलाने वाला जो हो उसी को यतिधर्म का आराधक समझना चाहिए।

जो गृहवास त्यागकर धर्मक्रिया करना चाहता है उसकेलिये तीर्थंकरों ने यतिधर्म बतलाया और जिनसे सांसारिक चीजों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता उनके लिये श्रावक धर्म बतलाया है।

तीर्थंकरों का यह उपदेश है कि धर्म करो, सुस्त मत बैठो, जिन्दगी के घड़ीभर का भी भरोसा नहीं है। इसलिये सत्यदर्शी बनो, आत्मा परतन्त्रता से छूटे ऐसा मार्ग स्वीकारकरो और स्वतन्त्र बनाओ यही संसार में सार है।

प्रस्तुत भारत के अनेक विद्वान देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये आन्दोलन कर रहे हैं, अथाह परिश्रम व कष्ट उठा रहे हैं उनका यह विचार है कि देश की उन्नति हो और हमारे भारतवर्षीय जनसमूह सुखी सौभाग्यशाली बने! उनसे हमारा निवेदन है कि जैसे आप देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये दत्तचित्त बने हैं वैसेही आप आत्मा की स्वतन्त्रता अर्थात् स्वाधीनता प्राप्ति करने का भी प्रयत्न क्यों नहीं करते!।

ईश्वर को जगत् का कर्त्ता हर्ता मानने वाले और ईश्वरीय (सङ्केत) इच्छा से कार्य का होना न होना माननेवाले लोग हमारी समझ से हमेशाही के लिए परतंत्र है अर्थात् ईश्वर के अथवा ईश्वरीय इच्छा के आधीन ही हैं। देश की स्वतन्त्रता से मनुष्य प्राणिओं को पौद्गलिक (शारीरक) सुख प्राप्त होने का संभव है परंतु आत्मा की स्वतन्त्रता से आत्मिक सुख क्षणिक नहीं किन्तु हमेशा के लिये है। किंवहुना आत्मा को स्वतन्त्रता प्राप्त करना है अर्थात् जन्म जन्म की परतन्त्रता को नष्ट करना है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति करना है। सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत हुए आत्मा को सब कर्म बंधनों से छुड़ाकर आत्मिक सुखों में मग्न करना। जिसने आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त करली है उसकेलिये न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। और स्वदेशी विदेशी भी समान हैं इसीलिये मैं अपने भारतवर्षीय सब मित्रों से यही सूचित करता हूँ कि यदि आप को सच्ची स्वतन्त्रता चाहिये तो ईश्वर को जगत्कर्ता मानना छोड़ दो

और जैन दर्शन के ग्रन्थों का दीर्घ दृष्टि से अवलोकन करो जिससे आपको सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्ति करने का मार्ग मिले।

अन्त में देशी विदेशी स्वधर्मी परधर्मी सब मित्रों से इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ने की प्रार्थना करके मैं इस ग्रंथ को यहाँ ही पूर्ण करता हूँ।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

संवत् १९६५ कार्तिकवदी
षष्ठी गुरुवार
आकोला (वराड)
जैन श्वेताम्बर मन्दिर ताजना पेठ—

सज्जनकृपाभिलाषी—

यति बालचन्द्र

समाप्त

इस ग्रन्थ के छपने में जो अग्रिम मूल्य देकर ग्राहक बने हैं उनकी नामावली.

पुस्तकसंख्या.	नाम.	गाम.
२००	सा. मूलचन्द वाडीलाल ने-स्वर्गस्थभ्राता-सा. मोहनलाल-वाडीलाल के स्मरणार्थ-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-पाठशाला आदि को भेजदेने के लिये	आकोला
१०	मुहुता-पृथिवीराजजी रतनलालजी	,,
१०	सा. गिरधर हकमचन्द	,,
५	सा. भाणजी सोजपार	,,
५	सा, ठाकरसी देवजी	,,
५	सा. हीरजी कोरसी	,,
५	सा. पेथराज रायसी	,,
५	सा. मङ्गुसा हीराचन्द	,,
५	सा. दोलाजी कुशनाजी	,,
३	सा. देवजी गेला	,,
३	सा. चुन्नीलाल डोमलचन्द	,,
२	सा. चापसी तेजसी	,,
२	सा. पालण गेला	,,
२	सा. खेराज रणसी	,,
२	सा. फकीरचन्द मगनलाल	,,

पुस्तकसंख्या.	नाम.	गाम.
१	सा. वेलजी रतनसी	,,
१	सा. लीलाधर राणा	,,
१	सा. चन्दुलाल झूठमल	,,
१	सा. सोमचन्द चुन्नीलाल	,,
१	सा. दौलासा कस्तुरचंद	,,
१	सा. मङ्गुलाल त्रिभुवन	,,
१	सा. जगजीवन किशोर	,,
२	सा. चुन्नीलाल पुंजमल	,,
१	दसाडीया हरगोविंद पुरुषोत्तम	,,
१५	सा. श्रीकमलद्धा	चोपडा
११	सा. डुगरशी देवराज	,,
५	सा. कानजी जेवत	पाचोरा
२	सा. कानजी रूपशी	चालीशगांव
५	सा. केसवजी रतनशी	शेगांव
५	सा. लालजी हंशराज	बंबई
५	भंडारीजी-सुजानमलजी	हींगनघाट
१	जडावमलजी दीपचन्द	सेलु.
१	मेता, तिलोकचंदजी दुलजी	प्रतापगढ, जिला-नीमच छावणी.

धी–जैन एसोसीएशन ऑफ इन्डिया के लाइफ मेम्बर सा.
रतनशी-सामजी कच्छ-कोठारा वाले की बनाई हुई

गहुली ।

[रंगरसीया-रंगरसबन्यो मनमोहनजी ॥ यह देशी]

अहो गुरु बालचन्द्रजी, भले आव्या जी ।
सहु संघ हर्षित होयहो, मनभाव्या जी । अन्त० ॥१॥
केवलचन्द्रजी गुरु आपना, गुणवन्ता जी ।
शिष्य छो तमे बुद्धिवन्तहो, विद्यावन्ता जी ॥ २ ॥
तमे जिनवाणि सत्य करी, दृढ मानी जी ।
तेथी त्यागी दुनिया शीघ्र हो, दिवानी जी ॥ ३ ॥
कर्मग्रन्थ वांचो अच्छो अति, सारुं जी ।
तेतो लागे सहुने मीठडु, अतिप्यारुं जी ॥ ४ ॥
श्रावक श्राविका सहुमली, गुणगावे जी ।
शास्त्र सांभली पुलकित होय, हां मनभावे जी ॥ ५ ॥
आकोलानो संघ तमने नमें, बहुभावे जी ।
सामत सुत रतनसी, गुण गावे जी ॥ ६ ॥

॥ इति ॥

॥ विज्ञापन ॥

निराकरण–निर्णय ।

इस ग्रन्थ में दिगम्बर श्रावक तात्या नेमिनाथ पांगल के असत्य आक्षेपों का उत्तर दर्ज है और श्वेताम्बर जैनधर्म का प्राचीनत्व सप्रमाण सिद्ध करके बतलादिया गया है । यह ग्रन्थ श्रीमान् महाराज श्रीज्ञानसुन्दरजी रचित है; ईसमें आठ पेजी पांच फारम का ग्रन्थ है तथापि मूल्य केवल दो आने रक्खे गए हैं । मंगानेवाले शीघ्रता करें ।

मिलने का पता–

पृथ्वीराजजी रतनलालजी मुहता
[illegible] ताजना पेठ
आकोला (बराड़)

जैनतत्त्वदिग्दर्शन ।

यह वक्तृतास्वरूप ग्रन्थ, शास्त्रविशारद–जैनाचार्य श्रीविजयधर्म-सूरि जी ने कृपाकरके कॉन्वेन्शन् ऑफ् इन्डियन रिलीजन्स् कलकत्ता के प्रेसीडेन्ट हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज बाबू शारदाचरण मित्र जी की प्रार्थनापर पूर्वोक्त सभा के लिये हिन्दी में लिखा था–और ९ अप्रैल १९०९ ई० को उस सभा में पढ़ा भी गया। इस पुस्तक में प्रायः समस्त जैनशास्त्र का तत्त्व अभिनिविष्ट है। समय के प्रभाव से इतर की कथाही क्या! जैनधर्मी भी अपने धर्म के सिद्धान्त को पूरा क्या! अधूरा भी नहीं जानते: उनके लिये और सर्व साधारण जैनधर्मतत्त्व जिज्ञासुओं को यह बड़ा लाभदायक है।

इसमें संक्षेपरूप से सभी पदार्थों की उत्तमरीति से विवेचना की गई है और इसके विषय में जो समालोचनायें हुई हैं उनमें से दो एक का संक्षिप्त भाव यह है:–**सरस्वती प्रयाग–अगस्त १९०९ ई०–**

"कुछ दिन हुए कलकत्ते में एक धर्म-महासभा हुई थी। उसमें संसार के मुख्य मुख्य मतों और धर्मों पर कितनेही लेख पढ़े गये थे। जैन धर्म पर जो लेख पढ़ा गया था वह अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। इसमें जैन धर्म के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का स्थूलरूप से हिन्दी में वर्णन है। ...इस छोटीसी पुस्तक में जैन धर्म का तत्त्वनिरूपण उत्तमता पूर्वक किया गया है। थोड़े में जिसे इस धर्म का सार जानना हो उसे... यह पुस्तक प्रकाशक से मँगाकर ज़रूर पढ़ना चाहिए।...

इस पुस्तक के अन्त में पुस्तककर्त्ता ने अपनी शालीनता और नम्रता का दर्शक वीर-प्रार्थना पर एक पद्य दिया है ......"

LUZAC'S ORIENTAL LIST & BOOK REVIEW OF MARCH–APRIL 09.

Jaina-tattava-dig-darsana is the title of a monograph recently read at a Convention of Indian Religions at Calcutta by **Vijayadharma Suri**. The work is written in scholarly but lucid Hindi, and gives a succinct outline of Jain theology, doctrine, and religious practice, with a sufficient amount of detail. Nothing new is presented, but the essentials of Jainism are described clearly and attractively. The little work is likely to be of considerable use as a handbook of Jainism, and deserves to be welcomed.

मूल्य ४ आना मात्र

THE THESIS ON THE JAINISM
WAS READ IN CALCUTTA -Dt. 9. 4. 09.

अर्हम्

जैनतत्त्वदिग्दर्शन

कर्त्ता

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरि ।

वीर सं. २४३५ ।

ON REQUEST
FOR CONVENTION OF THE RELIGIONS.
IN INDIA.

मूल्य ।)

॥ अर्हम् ॥

स्याद्वादो वर्त्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किञ्चित् जैनधर्मः स उच्यते ॥ १ ॥

सज्जन महाशय !

जैनदर्शन की अनेकान्तवाद, स्याद्वादमत, आर्हत-दर्शन आदि नामों से संसार में प्रसिद्धि है और इन्हीं नामों से षड्दर्शनानुयायी लोग व्यवहार में लाते हैं। उस जैनदर्शन का तत्त्व सामान्य रीति से दिग्दर्शनमात्र यहाँ पर कराया जासकता है; क्योंकि कहना विशेष है और समय बहुतही थोड़ा है। जब कि जैनधर्माचार्यों ने, तीक्ष्णबुद्धि और दीर्घायु, तथा समस्त शास्त्र में प्रवीण होनेपर भी स्पष्ट रूप से कहा कि 'हमलोग स्वल्प बुद्धिवाले, स्वल्प आयु होने के कारण; अनन्त, अति गम्भीरस्वरूप ज्ञेय (तत्त्व) को यथार्थ नहीं कह सकते'; तो अत्यन्तअल्पबुद्धिवाले अत्यल्प समय में अतिगहन विषय की मीमांसा करना हमलोगों का साहसमात्र के सिवाय और क्या कहा जासकता है?। लेकिन फिरभी भारतभूमि के अभ्युदय की अन्तःकरण से इच्छाकरनेवाले पुरुषसिंहों की सहायता में अपना कल्याण समझकर किञ्चित्मात्र (थोड़ासा) जैनतत्त्व आपलोगों के सामने उपस्थित करता हूँ–

जैन सिद्धान्त में चार अनुयोग (कथन) हैं।

१ द्रव्यानुयोग, २ गणितानुयोग, ३ चरणकरणानुयोग, ४ धर्मकथानुयोग। इन चारो अनुयोगों की आवश्यकता प्राणियों के कल्याणार्थ तीर्थंकरों ने कही है।

(१) द्रव्यानुयोग याने द्रव्य की व्याख्या।

द्रव्य के छः भेद हैं, जिनका जैनशास्त्र में षड् द्रव्य के नाम से व्यवहार होता है। उनके नाम यह हैं, जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।

१ जीवास्तिकाय का लक्षण यह है:—

"यः कर्त्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता सह्यात्मा नान्यलक्षणः" ॥ १ ॥

कर्मों को करनेवाला, कर्म के फल को भोगनेवाला, किये हुए कर्म के अनुसार शुभाशुभ गति में जानेवाला, और सम्यग्ज्ञानादि के वश से कर्मसमूह को नाशकरनेवाला आत्मा याने जीव है। जीव का इससे पृथक् और कोई दूसरा स्वरूप नहीं है, इसीको जीवास्तिकाय कहते हैं। यहाँ पाँचो द्रव्यों के आस्तिकाय का तात्पर्य यह है कि अस्ति, प्रदेश (विभाग रहित वस्तु) का नाम होने से, प्रदेशों से जो कहा जाय याने व्यवहृत हो।

(२) धर्मास्तिकाय अरूपी पदार्थ है, जो जीव और

पुद्गल दोनों की गति में सहायक है। जीव और पुद्गल में चलने की सामर्थ्य है लेकिन धर्मास्तिकाय की सहायता के विना फलीभूत नहीं हो सकते; जैसे मत्स्य (मछली) में चलने की सामर्थ्य है लेकिन पानी के विना नहीं चल सकती। धर्मास्तिकाय के १ स्कन्ध २ देश ३ प्रदेश ये तीन भेद कहे गये हैं।

१ स्कन्ध, एक समूहात्मक पदार्थ को कहते हैं; २ देश, उसके नाना भागों को कहते हैं; ३ प्रदेश, उसको कहते हैं जिस में फिर विभाग न होसके।

(२) अधर्मास्तिकाय एक अरूपी पदार्थ है जो जीव और पुद्गल के स्थिर रहने के लिये सहायक है। जैसे मछली को स्थल अथवा पथिक (मुसाफर) को वृक्ष की छाया सहायक है। यदि यह पदार्थ न हो तो जीव और पुद्गल दोनों क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकते। इन दोनों पदार्थों (धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय) को लेके जैनशास्त्र में लोक और अलोक की व्यवस्था युक्तिपूर्वक कही गई है। जहाँतक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है वहाँ ही तक लोक है, उसके आगे अलोक है। अलोक में आकाश के अतिरिक्त कुछ पदार्थ नहीं है। इसलिये मोक्षगामी की स्थिति* लोक के अन्त में बतलाई गई

---

* लोक प्रकाश के पृष्ठ ५७ में लिखा है—

यावन्मात्रं नरक्षेत्रं तावन्मात्रं शिवास्पदम्।
यो यत्र म्रियते तत्रैवोद्र्ध्वं गत्वा स सिद्ध्यति॥ ८३॥
उत्पत्त्योद्र्ध्वं समश्रेण्या लोकान्तस्तैरलङ्कृतः।

है ; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों पदार्थ, लोक के आगे नहीं हैं इसीलिये अलोक में किसी की गति भी नहीं है। अतएव लोक के अन्त में ही जीव स्थिर रहता है। यदि ऐसा नहीं मानें तो कर्ममुक्त जीव की ऊर्द्धगति होनेसे कहीं भी विश्राम न हो, बल्कि बराबर ऊपर चलाही जाय; इसीलिये जो लोग दो पदार्थों को नहीं मानते, वे मोक्ष के स्थान की व्याख्या में संदिग्ध रहते हैं और स्वर्ग के तुल्य नाशमान पदार्थ को मोक्ष मानते हैं। यदि पूर्वोक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों पदार्थों को मानलें तो जरा भी लोक की व्यवस्था में उन्हें हानि न पहुँचे। अधर्मास्तिकाय के भी स्कन्ध, देश, प्रदेश यह भेद माने गये हैं।

(४) आकाशास्तिकाय भी एक अरूपी पदार्थ है, जो जीव और पुद्गल को अवकाश (स्थान) देता है; वह लोक और अलोक दोनों में है। यहां पर भी स्कन्धादि पूर्वोक्त तीनों भेद हैं।

(५) पुद्गलास्तिकाय संसार के सभी रूपवान् जड़ पदार्थों को कहते हैं। इसके स्कन्ध १ देश २ प्रदेश ३ और परमाणु ४ नाम से चार भेद हैं। प्रदेश और परमाणु में यह भेद है कि जो निर्विभाग भाग, साथ में मिला रहे उसे प्रदेश मानते हैं और वही यदि जुदा हो तो परमाणु के नाम से व्यवहार में लाया जाता है।

(६) काल द्रव्य एक कल्पित पदार्थ है। जहां सूर्य तारादिगण चलस्वभाववाले हैं वहीं काल का व्यवहार है। काल दो प्रकार का है—एक उत्सर्पिणी, और दूसरा अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी उसको कहते हैं जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चारो की क्रम २ से वृद्धि होती है; और अवसर्पिणी काल में पूर्वोक्त पदार्थों का क्रम २ ह्रास होता है। उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल में भी हर एक के छः छः विभाग हैं; जिनको आरा कहते हैं। अर्थात् एक कालचक्र में छः उत्सर्पिणी के क्रमसे आरा हैं और अवसर्पिणी के छः व्युत्क्रम से (उलटे) आरा हैं। इन्हीं दोनों कालों में चौवीस २ तीर्थंकर होते हैं और जो उत्सर्पिणी में चौवीस तीर्थंकर होते हैं, वे मुक्तजीव फिर उलटकर किसी उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी में नहीं आते और हर एक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी में उनसे पृथक् २ नये जीव तीर्थंकर होते हैं; ऐसा काल का क्रम अनादि से चला आता है।

जहां सूर्यतारादिगण निश्चल हैं वहां काल का व्यवहार नहीं है; इसलिये काल द्रव्य कल्पित याने औपचारिक द्रव्य है। अतद्भाव में तद्भाव (अन्य में अन्य-ज्ञान) उपचार कहलाता है। इसके स्कन्धादि भेद नहीं हैं।

इन पूर्वोक्त षड् द्रव्यों की व्याख्या को द्रव्यानुयोग

कहते हैं। जिसका विस्तार सम्मतितर्क, रत्नाकरावतारिका, प्रमाणमीमांसा, अनेकान्तजयपताका वगैरह ग्रन्थों में और भगवत्यादि सूत्रों में किया हुआ है; उनके देखने से स्पष्ट मालूम होगा॥

(२) चरणकरणानुयोग; जिसमें चारित्र धर्म की व्याख्या अतिसूक्ष्म रीति से की है; उसे आगे चलकर दो प्रकार के धर्म के प्रकरण में कहेंगे। इसका विस्तार आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग वगैरह में किया हुआ है॥

(३) गणितानुयोग का अर्थ गणित की व्याख्या है जो लोक में असङ्ख्य द्वीप और समुद्र हैं, उनकी रीति भाँति और उनके प्रमाण वगैरह का अच्छी रीति से इसमें वर्णन है। इस विषय को सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, लोकप्रकाश, क्षेत्रसमास, त्रैलोक्यदीपिका वगैरह ग्रन्थों से जिज्ञासु पुरुष देखलेवें।

(४) धर्मकथानुयोग में भूतपूर्व महापुरुषों के चरित्र हैं; जिनके मनन करने से जीव, अत्यन्त उच्च श्रेणी पर पहुँच सकता है। वे चरित्र ज्ञाताधर्मकथा, वसुदेवहिण्डी, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक कहे हुए हैं।

जैन साहित्य के विषय में पाश्चात्य विद्वान* भी मुक्तकण्ठ होकर प्रशंसा करते हैं कि जैनाचार्य निष्पक्षपाती और यथार्थलेखक थे। इस प्रशंसा का कारण यह है कि जो निस्पृहता से काम किया जाता है वही सर्वोत्तम होता है; यह बात सबको विदित ही है। जो जैन महामुनि आज भी अपना आचार, विचार; देश, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार रख सके हैं उसका मूल कारण जिनदेव का मोक्षपरक उपदेशही है। सभी जिनदेव धर्मशूर क्षत्रियकुलही में उत्पन्न हुए हैं क्योंकि क्षत्रिय सब कहीं शूरता (वीरता) करते हैं; कारण यह है कि उनका वह वीर्य, उसी प्रकार का है। इसलिये जैनधर्म में क्षत्रिय कुल सर्वोत्तम बताया गया है। प्रायःकरके जैनधर्म के पालक और उपदेशक बहुत से क्षत्रिय ही थे।

क्षत्रिय केवल अपने पराक्रम के सिवाय दूसरे की कभी दरकार नहीं रखते हैं। शूरता के विना देश की

---

* As I was told that Jain Literature resembled very much that of the Bauddhas. But I was aware very soon of the fact, that Jain Literature is *by far* superior to that of the Buddhists, and the more I became acquainted with Jain religion and Jain Literature, the more I loved them.

Some publications I had first seen had given me the wrong idea, that Jain narrators were as awckward as Buddhist ones. But I was soon aware of the fact that I was completely mistaken with this view, and that, on the contrary, it is a merit merely of *Jain* authors to have cultivated, in Sanskrit as well, as in Prakrit, in prose and in verse an easy and natural style which makes their tales delightful to the reader, whereas the prose of बाण, सुबन्धु and other brahmanical authors of a later time, is too artificial in the outer form to give a real satisfaction on the *contents* of their productions.

By Dr. JOHANNES HERTEL,

DOEBELN, *German Empire*.

उन्नति और जाति की उन्नति, तथा धर्मोन्नति आदि कोई भी कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रकारों ने स्वयं कहा है कि "जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा" अर्थात् जो कर्म में शूर हैं वे ही धर्म में भी शूर*हैं। किन्तु धर्माधिकार में ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि सब की समान सत्ता है और उपदेशकभी हो सकते हैं। आत्मसत्ता के प्रकट होनेपर चारो वर्णों की समान सत्ता मानी गई है, क्योंकि किसी प्रकार का पक्षपात जैनशास्त्र में नहीं है। केवल क्षत्रियकुल में तीर्थंकरों के होने से वह कुल प्रतापी माना गया है, यदि क्षत्रिय भी धर्मविरुद्ध आचरण करेगा तो जरूर अधोगति में जायगा।

बहुत से मनुष्यों की ऐसी समझ है कि जैनधर्मी मनुष्यों ने 'अहिंसा परमो धर्मः' की व्याख्या को विशेष बढ़ाकर युद्ध आदि कार्य में हमारे देश की अत्यन्त अवनति कर डाली है। इसबात का हम उत्तर आगे चल के अहिंसाप्रकरणस्थ राजा भरत के दृष्टान्त में देंगे।

पूर्वोक्त चारो अनुयोगों में संपूर्ण जैनधर्म का तत्त्व परिपूर्ण है; इन्हीं अनुयोगों की सिद्धि के लिये 'प्रमाण'

---

* स्थानाङ्गसूत्र के पत्र २७६ में लिखा है–

चत्तारि सूरा पण्णत्ता। तं जहा-खन्तिसूरे, तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे। अर्थात् शूर चार प्रकार के होते हैं–१ क्षमाशूर, २ तपशूर, ३ दानशूर तथा ४ युद्धशूर।

और 'नय' दो पदार्थ माने गये हैं। क्योंकि प्रमेय (ज्ञेय) वस्तु की सिद्धि, विना प्रमाण* तथा नय के नहीं हो सक्ती; इसी से कहा हुआ है कि 'प्रमाणनयैरधिगमः'। प्रमाण सर्वांश का और नय एकांश का ग्राहक है। प्रमाण के दो प्रकार हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष में भी दो भेद हैं-एक सांव्यवहारिक और दूसरा पारमार्थिक। उसमें भी सांव्यवहारिक, इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक भेद से दो प्रकार का होता है। स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचो इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को इन्द्रियनिमित्तक प्रत्यक्ष कहते हैं। 'मन' जिसकी जैनशास्त्रकारों ने 'नोइन्द्रिय' ऐसी संज्ञा रक्खी है उससे उत्पन्न हुए ज्ञान को अनिन्द्रियनिमित्तक प्रत्यक्ष, या मनोनिमित्तक प्रत्यक्ष कहते हैं।

बौद्धों ने नेत्र और कर्ण को छोड़कर बाकी इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना है और नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और साङ्ख्यवादी सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं, किन्तु हमारे जैनशास्त्र में नेत्र इन्द्रिय को छोड़कर अन्य सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना है। इस बात का वर्णन रत्नाकरावतारिका वगैरह

* प्रमाण की व्याख्या इस रीति से है—'प्रकर्षेण संशयाद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत् प्रमाणम्' अर्थात् संशय, विपर्यय (वैपरीत्य) आदि से रहित वस्तु का जिससे निश्चय हो उसे प्रमाण कहते हैं।

ग्रन्थों में अतिविस्तारपूर्वक युक्तियुक्त किया हुआ है, परन्तु यहां थोड़े श्लोकों* की व्याख्या करके जैनदर्शन के मन्तव्य का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

अन्तःकरण की तरह व्यवहित (ढके हुए) पदार्थ के प्रकाशक होने से चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी माना-जाता है और जो अप्राप्यकारी नहीं है वह व्यवहित का प्रकाशक भी नहीं है, जैसे जिह्वा इन्द्रिय। यहां पर यदि ऐसी शङ्का उत्थित हो कि चक्षुरिन्द्रिय व्यवहित पदार्थ का प्रकाशक कैसे है? क्योंकि वृक्षादि से व्यवहित पदार्थ को तो प्रकाश नहीं करती, इसलिये यह सिद्धान्त

---

* रत्नाकरावतारिका के पृष्ठ ९१ में लिखा हुआ है :—

चक्षुरप्राप्यधीकृत् व्यवधिमतोऽपि प्रकाशकं यस्मात्।
अन्तःकरणं यद्वद्व्यतिरेके स्यात् पुना रसना ॥ ६८ ॥
अथ द्रुमादिव्यवधानभाजः प्रकाशकत्वं ददृशे न दृष्टौ।
ततोऽप्ययं हेतुरसिद्धतायां धौरेयभावं बिभराम्बभूव ॥ ६९ ॥
एतन्न युक्तं शतकोटिकाचस्वच्छोदकस्फाटिकभित्तिमुख्यैः।
पदार्थपुञ्जे व्यवधानभाजि संजायते किं नयनान्न संवित् ॥ ७० ॥

और पृष्ठ ९२ में :—

तस्थौ स्थेमा तदस्मिन् व्यवधिमदमुना प्रेक्ष्यते येन सर्वं
तात्सिद्धा नेत्रबुद्धिर्व्यवधिपरिगतस्यापि भावस्य सम्यक्।
कुड्याद्यवष्टब्धबुद्धिर्भवति किमु न चेन्नेदृशी योग्यताऽस्य
प्राप्तस्यापि प्रकाशे प्रभवति न कथं लोचनाद्गन्धबुद्धिः ॥ ७५ ॥
किंवा न प्रतिभासते शशधरे कर्म्मापि तद्रूपवत्
दूराच्चेद्विलसत् तदस्य हृदये लक्ष्येत किं लाञ्छनम्।
तस्माच्चक्षुषि योग्यतैव शरणं साक्षी च नः प्रत्यय-
स्तत् तर्कप्रगुण! प्रतीहि नयनेष्वप्राप्यधीकर्तृताम् ॥ ७६ ॥

ठीक नहीं हैं। इस पर जैनशास्त्रकारों का यह समाधान है कि काँच, विमल जल और स्फटिकरत्न की दीवाल के व्यवधान रहनेपर भी चक्षुरिन्द्रिय से वस्तु का ज्ञान अवश्य होता है; परन्तु योग्यता न होने से वृक्षादि से व्यवहित पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि योग्यता को स्वीकार न करें तो चक्षु के प्राप्यकारी मानने-वालों को, चक्षु से गन्ध का ज्ञान क्यों नहीं होता ? एवं चन्द्र के भीतर उसके रूप की तरह उसकी क्रिया का भी चक्षुरिन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?। यदि उसके प्रत्यक्ष न होने का कारण दूरता कहियेगा, तो फिर उसके लाञ्छन (कलङ्क) का भी प्रत्यक्ष न होना चाहिये। इसलिये योग्यता छोड़कर दूसरा कोई कारण नहीं माना जा सकता।

यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, जो बाह्येन्द्रियों की सहायता लेता है, अपारमार्थिक प्रत्यक्ष, अथवा पार-मार्थिक परोक्ष माना जाता है। उमास्वाति वाचक ने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में इसीरीति से विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

सांव्यहारिक प्रत्यक्ष से भिन्न, याने इन्द्रिय वगै-रह की सहायता के विना, केवल आत्माद्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। उसके दो भेद हैं; एक विकल और दूसरा सकल। विकल

के भी अवधि* और मनःपर्यय† के नाम से दो भेद हैं ॥

केवल ज्ञान‡ को सकल कहते हैं ।

परोक्ष ज्ञान में पांच भेद माने जाते हैं । १ प्रत्यभिज्ञान, २ स्मरण, ३ तर्क, ४ अनुमान, ५ आगम । इसमें प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, तर्क इन तीनों को कोई २ प्रमाण में दाखिल नहीं करते; लेकिन हमारे जैनशास्त्र-कारों ने इसपर प्रबल युक्ति दिखाकर अति उत्तम रीति-से विवेचना की है; किन्तु यहाँ समय के अति संकुचित होने से हम उसे कह नहीं सक्ते ।

उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान में किया गया है ।

नय वह पदार्थ है, जिसका संक्षिप्त लक्षण हम ऊपर कह चुके हैं; उसका शास्त्रकारों ने इसरीति से लक्षण किया है :—

'नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः'

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चित किये अर्थ के अंश अथवा बहुत से अंशों को ग्रहण करे और बाकी बचे

---

* पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, अन्धकार और छाया आदि व्यवहित रूपी द्रव्यों को भी प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है ।

† मनुष्यक्षेत्र में रहनेवाले सभी मनवाले जीवों के मनरूप द्रव्य के पर्यायों को प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं ।

‡ भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में होनेवाले तीनों लोक के पदार्थों का प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान, केवल ज्ञान कहा जाता है ।

अंशों में उदासीन रहे, याने इतर का निषेध न करे, ऐसा, वक्ता का अभिप्रायविशेष, 'नय' कहलाता है। यदि इतर अंश का उदासीन न होकर निषेध ही करे, तो नयाभास कहा जायगा।

नय के भेद—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत रूप से सात प्रकार के हैं।

उनमें १ नैगमनय वह कहलाता है, जो द्रव्य और पर्याय इन दोनों को सामान्य विशेष युक्त मानता हो; क्योंकि वह कहता है कि सामान्य विना विशेष नहीं होता और विशेष विना सामान्य रह नहीं सकता।

२ संग्रहनय, हरएक वस्तु को सामान्यात्मक ही मानता है; क्योंकि वह कहता है कि सामान्य से भिन्न विशेष कोई पदार्थही नहीं है।

३ व्यवहारनय, हरएक वस्तु को विशेषात्मक ही मानता है।

४ ऋजुसूत्र-अतीत और अनागत को नहीं मानता, केवल कार्यकर्ता वर्तमान ही को मानता है।

५ शब्दनय, अनेक पर्यायों (शब्दान्तर) से एक ही अर्थ का ग्रहण करता है।

६ समभिरूढनय, पर्याय के भेद से अर्थ को भी भिन्न कहता है।

७ एवंभूतनय, स्वकीय कार्य करनेवाली वस्तु ही को वस्तु मानता है।

इन सातो नयों का द्रव्यार्थिकनय और पर्य्यायार्थिक नय में समावेश होता है। ये पूर्वोक्त नय परस्पर विरुद्ध रहनेपर भी मिलकर ही जैनदर्शन का सेवन* करते हैं। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे संग्राम की युक्ति से पराजित समग्र सामन्त राजा परस्पर विरुद्ध रहनेपर भी एकत्रित होकर चक्रवर्ती राजा की सेवा करते हैं।

इनका विस्तारपूर्वक वर्णन; नयचक्रसार और स्याद्वादरत्नाकर के सातवें परिच्छेद आदि में है; जिज्ञासु को वहाँ देखलेना चाहिये।

पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप को पूर्वोक्त प्रमाण और नय द्वारा जाननेवाला पुरुष, जैनशास्त्र में, श्रद्धावान् माना गया है। श्रद्धा, रुचि या सम्यक्त्व ये पर्यायवाची शब्द हैं। सम्यक्त्ववान् जीव धर्म का अधिकारी होता है। धर्म के दो विभाग हैं; एक साधुधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म।

जैन स्तोत्रसंग्रह प्रथम भाग के ७० पृष्ठ में लिखा है।

* सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते
संभूय साधुसमयं भगवन्! भजन्ते।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
पादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक्॥ २२॥

साधुधर्म दश प्रकार का माना गया है:-

"खन्ति, मद्दव, अज्जव, मुत्ति, तव, संजमे, अ बोद्धव्वे ।
सच्चं, सोअं, अकिंचणं च बम्भं च जइधम्मो" ॥

क्षान्ति (क्रोधाभाव), मार्दव (मानत्याग), आर्जव (निष्कपटता), मुक्ति (लोभाभाव), तप (इच्छानुरोध), संयम (इन्द्रियादिनिग्रह), सत्य (सत्यबोलना), शौच (सब जीवों के सुखानुकूल वर्तना, अथवा अदत्त पदार्थ का ग्रहण नहीं करना), अकिञ्चन (सब परिग्रह का त्याग अर्थात् ममता से निवृत्ति), ब्रह्म (सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन) ये दश प्रकार के साधुधर्म हैं।

जैनसाधु लोग दशप्रकार के यतिधर्म पालने के लिये अर्हन्, सिद्ध, साधु, देव और आत्मा की साक्षी देकर जनसमुदाय के बीच में प्रतिज्ञापूर्वक पञ्चमहाव्रत को ग्रहण करते हैं, कि 'हम साधुधर्म अपने आत्मा के कल्याण के लिये मन, वचन और काय से पालन करेंगे'। जिन पञ्चमहाव्रतों को जैनशास्त्र में मूलगुण बताया है, उनकी व्याख्या क्रम से आगे की जाती है:-

१ अहिंसाव्रत उसे कहते हैं, जिसमें प्रमाद अर्थात् अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, योग-दुष्प्रणिधान, धर्मानादर से, त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा (प्राणवियोग) नहीं की जाती है।

२ सूनृत (सत्य) व्रत, प्रिय हितकारक वाक्य को

कहते हैं; न कि जिससे किसी जीवपर आघात पहुँचे, या कटु हो।

३ अस्तेय व्रत वह है, जिसमें किसी प्रकार की चोरी न हो; क्योंकि मनुष्यों के बाह्य प्राण धनही हैं उसके हरण करने से मनुष्य के प्राणही हत होते हैं।

४ ब्रह्मचर्यव्रत-देव, मनुष्य और तिर्यञ्च से उत्पन्न होनेवाले १८ प्रकार के कामों से मन, वचन तथा काय से निवृत्त होना और करनेवालों को सहायता नहीं देना कहलाता है।

५ अपरिग्रहव्रत, सर्वपदार्थों में ममत्व बुद्धि के त्याग को कहते हैं; क्योंकि असत् पदार्थों में भी मोह होने से चित्तभ्रम होता है।

मूलगुण के रक्षण के लिये उत्तरगुण (अष्टप्रवचन-माता के नाम से व्यवहृत) पाँच समिति और तीन गुप्ति कहलाते हैं। जिनके नाम ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति, पारिष्ठापनिकास-मिति और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति हैं।

ईर्यासमिति, बराबर युगमात्र (साढ़े तीन हाथ) दृष्टी देकर उपयोगपूर्वक चलने को कहते हैं। समिति शब्द का अर्थ सम्यक् प्रकार की चेष्टा है।

भाषासमिति, उपयोगपूर्वक बोलने को कहते हैं।

एषणासमिति, बयालीस दोषरहित आहार (भोजन) के ग्रहण करने को कहते हैं।

आदाननिक्षेपसमिति वह है, जिसमें संयमधर्म पालने में उपयोगी चीजों को देखकर और साफकर के (प्रमार्जन करके) ग्रहण या स्थापन किया जाता हो।

पारिष्ठापनिकासमिति उसे कहते हैं जहाँ किसी की हानि न हो ऐसे निर्जीवस्थल में मलमूत्रादि त्याज्य चीजें उपयोग (यत्न) पूर्वक छोड़ी जावें।

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति-क्रम से मन, वचन और शरीर की रक्षा को कहते हैं। गुप्ति शब्द का अर्थ रक्षाकरना, अर्थात् अशुभप्रवृति से हटना है।

पूर्वोक्त पाँच समिति और तीन गुप्ति के विना पञ्च महाव्रत की रक्षा नहीं होसकती है और पञ्च महाव्रत के पालने के विना दश प्रकार के यति [साधु] धर्म का निभाना महा दुर्घट है।

गृहस्थ धर्म के द्वादश प्रकार ये हैं:-

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत।

इन बारहो का मूल सम्यक्त्व है।

पाँच अणुव्रत ये हैं:—

प्राणातिपातविरमण व्रत १, अर्थात् प्राणातिपात (जीवहिंसन) से स्थूल रीत्या विराम (निवृत्ति) होना। इसीरीति से मृषावाद (मिथ्याभाषण), अदत्तादान (नही दिये हुए पदार्थों का लेना), मैथुन (परस्त्रीसंभोग) और परिग्रह (विशेष वस्तुओं का संग्रह) से

स्थूलरीत्या निवृत्ति होने को, क्रम से मृषावादविरमण व्रत २, अदत्तादानविरमण व्रत ३, मैथुनविरमण व्रत ४ और परिग्रहविरमण व्रत ५ कहते हैं।

इन पाँच मूलव्रतों की रक्षा करने के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत माने गये हैं।

उन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम क्रम से ये हैं:—दिग्व्रत १ (अपने स्वार्थ के लिये दशो दिशाओं में जाने आने के कियेहुए नियम की सीमा को उल्लङ्घन नहीं करना); भोगोपभोगनियम २ (भोग जो एक बार उपयोग में लाया जा सके, जैसे भोजन; उपभोग जो वारंवार काम में लाया जाय, जैसे वस्त्रादि। इन दोनों का नियम); अनर्थदण्डनिषेध ३ (किसी भी निरर्थक क्रिया करने का निषेध) ये गुणव्रत हैं। और सामायिक १ (रागद्वेष रहित हो, सब जीवों पर समभाव होकर ४८ मिनट पर्यन्त एकान्त में बैठकर आत्मचिन्तन करना); देशावकाशिक २ (पूर्वोक्त दिग्विषय में कहे हुए नियम में और भी संक्षेप करना); पौषध ३ (एक दिन अथवा अहोरात्र [आठ पहर] साधु की तरह वृत्ति धारण करना); अतिथि संविभाग ४ (मुनियों को दिये विना भोजन नहीं करना) ये शिक्षाव्रत हैं। इनका विशेष वर्णन जिज्ञासुओं को उपासकदशाङ्गसूत्र और योगशास्त्रादि ग्रन्थों में देख लेना चाहिये।

ऊपर के दोनों धर्मों का सेवन कर्मक्षय करने के लिये किया जाता है ॥

जीव या आत्मा का मूल स्वभाव, स्वच्छ निर्मल अथवा सच्चिदानन्दमय है, किन्तु कर्मरूप पौद्गलिक बोझा चढ़ने से उसका मूलस्वरूप आच्छन्न अर्थात् ढक जाता है। जिस समय पौद्गलिक बोझा निर्मूल हो जाता है उस समय आत्मा, परमात्मा की उच्चदशा को प्राप्त करता है और लोकान्त में जाकर स्वसंवेद्य (उसी के जानने के योग्य) सुख का अनुभव करता है। लोक और अलोक की व्यवस्था हम पहिलेही कह चुके हैं। जीव और पुद्गल का संबन्ध किस रीति से हुआ इसका उत्तर जैनशास्त्रकार अनादि बतलाते हैं *। वे अनादि कर्म, जीव के साथ हमेशा के लिये संबन्ध नहीं रख सकते, लेकिन उनका परावर्तन (लौट पौट) आत्मप्रदेश के साथ हुआ करता है। कर्मों को जीव किसतरह ग्रहण करता है और किस रीति उनसे मुक्त होता है, इसका विस्तार कर्मग्रन्थों में स्पष्ट रीति से लिखा हुआ है।

* यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि कर्म का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है तो वह किस रीति से मुक्त हो सकता है; इसपर जैनशास्त्रकार यह उत्तर देते हैं कि जैसे स्वर्ण (सोना) और मृत्तिका का अनादि संबन्ध रहनेपर भी यत्नद्वारा मुक्त हो सकता है वैसेही शुभध्यानादि प्रयोग से आत्मा और कर्म का संबन्ध भी मुक्त होता है।

मूलकर्म एक जीव के ऊपर आठ प्रकार के होते हैं:—

उनके नाम ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुष्क कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, अन्तराय कर्म हैं।

किन्तु इन कर्मों के उत्तर भेद तो १५८ कहे हुए हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के उत्तर पाँच भेद हैं:—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। इन पूर्वोक्त पांचो आवरणों के दूर होने से जैनशास्त्रकार पाँच ज्ञानों की प्राप्ति बताते हैं। उनके नाम—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान हैं। वास्तविक में तो केवलज्ञान के, बाकी चारो मतिज्ञानादिक अंश हैं। जैसे सूर्यपर जिस २ तरह मेघ का आवरण बढ़ता जाता है उसी उसी तरह सूर्य का प्रकाश कम होता जाता है। वैसेही ज्ञान भी, न्यूनाधिक आवरण लगने से न्यूनाधिक प्रकाशित होता है, इसालिये मतिज्ञानादि संज्ञा को प्राप्त होता है। इस विषय में कितनेक आचार्यों का भिन्न भिन्न मत है। वे लोग कहते हैं कि जैसे ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र वगैरह, सूर्य के उदय होने के समय विद्यमान तो अवश्य रहते हैं किन्तु उनका उसके तेज के समीप प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसेही केवलज्ञान जब उदय होता है तब मतिज्ञानादिक ढक जाते हैं, किन्तु

उनकी सत्ता तो अवश्य ही रहती है। पूर्व पाँचो ज्ञानों में तारतम्य, आवरण के क्षयोपशम को लेकर माना गया है। हमलोग साक्षात् अनुभव करते हैं कि वादी और प्रतिवादी के संवाद में वादी पदार्थ को अच्छी तरह जानते हुए भी बहुधा उस समय भूल जाता है; इसमें आवरण के सिवाय कोई दूसरा और कारण नहीं है।

इसीरीति से दर्शनावरणीय कर्म के भी उत्तर ९ भेद हैं। समय के अत्यन्त कम होने से यहाँ उनके नाम-मात्र कहकर सन्तोष करना पड़ता है।

१ चक्षुर्दर्शनावरणीय, २ अचक्षुर्दर्शनावरणीय, ३ अवधिदर्शनावरणीय, ४ केवलदर्शनावरणीय, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि उनके नाम हैं ❀॥

वेदनीयकर्म के शातावेदनीय, अशातावेदनीय, दो भेद हैं।

चौथा मोहनीयकर्म† है—जिस के, चार प्रकार के क्रोध, चार प्रकार के मान, चार प्रकार की माया और

❀ लोकप्रकाश के ५८४ पृष्ठ में लिखा है—

सुखप्रबोधा निद्रा स्याद्, सा च दुःखप्रबोधिका।
निद्रानिद्रा, प्रचला च स्थितस्योर्ध्वस्थितस्य वा॥ १॥
गच्छतोऽपि जनस्य स्यात् प्रचलाप्रचलाऽभिधा।
स्त्यानर्द्धिर्वासुदेवार्द्धबलाह्वाश्चिन्तितार्थकृत्॥ २॥

† मोहयति विवेकविकलं करोति प्राणिनमिति मोहः (मोहनीयम्)।

चार प्रकार के लोभ; एवं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुर्गञ्छा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, ये सब मिल के अट्ठाईस भेद हैं।

पाँचवां आयुष्ककर्म है। इसके देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु, नरकायु के नाम से चार भेद हैं।

छठा नामकर्म है, जिसके उदय से जीव, गति और जाति आदि पर्यायों का अनुभव करता है। इसके १०३ भेद हैं, किन्तु थोड़े समय में उनका निरूपण नहीं किया जासकता।

सातवाँ गोत्रकर्म वह है, जिसके उदय होने से नीच, उच्च गोत्र की प्राप्ति होती है।

आठवाँ अन्तराय कर्म है; जिसके उदय होने पर जीवों के दानादि करने में अन्तराय (विघ्न) होता है; इसके दानान्तराय १ लाभान्तराय २ भोगान्तराय ३ उपभोगान्तराय ४ वीर्यान्तराय ५ रूप से पाँच भेद हैं।

राग और द्वेष की परिणति से आठ कर्मों का बन्धन होता है। हमने जिनको कर्म के नाम से कहा है, इनको अन्यदर्शनकार-अदृष्ट, प्रारब्ध, संचित, दैव, प्रकृति, तथा माया के नामों से कहते हैं।

किन्तु यह बात प्रसिद्ध है कि ऐसे गहन पदार्थों की विवेचना में जैनशास्त्रकार परम उच्चकोटी को पहुँचे हैं।

कर्म का पर्दा जबतक आत्मापर रहता है तबतक वह संसारी अथवा चार गति में फिरनेवाला माना जाता है और उस पर्दा के सर्वथा दूर होनेपर मोक्षगामी अथवा सिद्ध कहा जाता है। सिद्धजीव अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्तवीर्यादि से युक्त हो जाता है। यहांपर यह शङ्का उठ सकती है कि ज्ञान तो अरूपी पदार्थ है उसका अनन्त व्यव-हार कैसे होसकता है। इसका उत्तर यह है कि ज्ञेय पदार्थ के अनन्त होने से तद्विषयक ज्ञान को भी अनन्त मानने में किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। एवंरीत्या दर्शन, चारित्र और वीर्यादि में भी समझलेना। जैनशास्त्रकार मोक्ष में संसारी सुख से विलक्षण सुख मानते हैं। जिस तरह कोई पुरुष-आधि, व्याधि, उपाधि, ग्रस्त होकर दुःख का अनुभव करता है और उससे मुक्त होनेपर सुख का अनुभव करता है; उसीतरह आत्मा के ऊपर जहाँतक कर्म का पर्दा पड़ा हुआ है वहाँ-तक सांसारिक सुख और दुःख का अनुभव करता है और कर्म का परदा दूर होनेपर वास्तविक, निर्बाध, अनुप-मेय, स्वसंवेद्य सुख का अनुभव करता है। साङ्ख्य-दर्शनकार प्रकृति के वियोग में मोक्ष मानते हैं और नैयायिकोंने दुःखध्वंसरूपही मोक्ष माना है, तथा वेदान्ती [अध्यास से मुक्त] ब्रह्मही को मुक्ति का स्वरूप

कहते हैं, एवं बौद्ध पञ्चस्कन्धरूप दुःख, रागादिगण और क्षणिकवासनास्वरूप मार्ग के निरोध को मोक्ष मानते हैं।

मुक्ति पदार्थ को आस्तिकमात्र मानते हैं, परञ्च जैनेतर मतों में एक संप्रदाय में भी अनेक स्वरूप मुक्ति के माने गये हैं; किन्तु जैनमत में अनेक संप्रदाय रहनेपर भी मुक्ति के स्वरूप में भेद नहीं है। मुक्ति का स्वरूप आगम प्रमाण से सिद्ध होता है। अन्त में जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मोक्ष के साथ उपमादेनेलायक पदार्थ न मिलने से कल्पित दृष्टान्त देकर सत्य वस्तु को सत्याभास बनाना ठीक नहीं है, क्योंकि इस संसार में बहुतसी ऐसी वस्तु हैं जो देखी और अनुभव की गयी हैं लेकिन उनकी उपमा किसी के साथ नहीं दी जा सकती; तो मोक्ष यदि अनुपमेय हो तो आश्चर्य ही क्या है ?। इसमें दृष्टान्त यह है-जैसे घृत (घी) पदार्थ को सभी मूर्ख से लेकर पण्डित तक जानते हैं, किन्तु उसका स्वाद क्या है, यह यदि उनसे पूछा जाय तो कुछ नहीं बतला सकेंगे और उसके स्वाद के साथ मुकाबला करने के लिये कोई दृष्टान्त भी नहीं दे सकेंगे, तो फिर अरूपी और अप्रत्यक्ष पदार्थ की बातही क्या है।

जैनदर्शन में साधुधर्म और गृहस्थधर्म दोनों मोक्ष के लिये माने गये हैं। यदि मोक्ष की सामग्री न बन सकेगी, तो पुण्य के उदय होने से देवगति प्राप्त होगी। देवताओं के चार विभाग किये गये हैं। जिनमें प्रथम भवनपति, दूसरा व्यन्तर, तीसरा ज्योतिष्क और चौथा वैमानिक बताया गया है। जैसी शुभ क्रिया होती है वैसी ही गति भी होती है; क्योंकि कहा हुआ है "या मतिः सा गतिः"। यदि कदाचित् स्वर्ग जाने के योग्य पुण्य का बन्धन न हुआ तो जीव मनुष्यगति को प्राप्त होता है और मनुष्य पैंतालीस लाख योजन प्रमाणक्षेत्र में उत्पन्न होते हैं; उसे जैनशास्त्रकार ढ़ाई द्वीप मानते हैं। उसमें भी यदि उत्पन्न न हुआ तो तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की गति मिलती है। उसके बीस भेद बताये गए हैं। वे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, जैनशास्त्रानुसार तिरछे लोक के असङ्ख्य द्वीप और समुद्रों में उत्पन्न होते हैं। यदि पञ्चेन्द्रिय की भी गति न हुई तो समझना चाहिये कि पुण्य के बदले प्रमादाचरण से पापों का बन्धन किया गया है; उस पाप के कारण से जीव को चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय की गति मिलती है। वे प्रायः ऊँचे, नीचे अथवा तिरछे लोकों में उत्पन्न होते हैं। उससे भी अधिक जब पाप का बन्धन

होता है तो नरकगति में जीव को जाना पड़ता है। नरक के सात भेद हैं; उनमें उत्तर २ अधिक दुःख भोगना पड़ता है। उसके यहाँ प्रतिपादन करने में बहुत तूल होगा, इसलिये जिज्ञासुओं को चाहिये कि लोकप्रकाश और सूत्रकृताङ्ग में देख लेवें।

कर्म के बन्धन में चार कारण-मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति और योगनाम से कहे गये हैं। असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझना मिथ्यात्व कहलाता है। नशे की चीजें पीना और विषय का सेवन; कषाय (क्रोधादि) करना, निद्रा और वि-कथा (कुत्सित कथा) आदि का करना यही प्रमाद है। धर्मशास्त्र की मर्यादा से रहित बर्ताव करना अविरति कहलाती है। चार प्रकार मन की, चार प्रकार वचन की और सात प्रकार काया की शुभाशुभरूप प्रवृत्ति से, योग के पन्द्रह प्रकार माने गये हैं।

ये पूर्वोक्त चार प्रकार के कारण से कर्म, आत्मा के साथ संबद्ध होता है। कर्मबन्धन के चारो कारण से दूर रहने के लिये अर्हन्देव ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग बताये हैं। उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग को निवृत्तिमार्ग का कारण मानकर शुद्ध प्रवृत्तिमार्ग का सेवन जीव को किस प्रकार करना चाहिये इस बात को केवल

ज्ञान द्वारा जानकर; जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव,* संवर,* बन्ध,* निर्जरा * और मोक्ष का स्वरूप बताकर मोक्षरूप महासुन्दर महलपर चढ़ने के लिये १४ सोपान (सीढी) की श्रेणी (परम्परा) बताई हैं †। दस सीढ़ीपर्यन्त शुद्ध प्रवृत्ति की आवश्यकता है, उसके बाद निवृत्ति मार्ग की प्राप्ति कही गई है। पूर्वोक्त नव तत्त्वों के शुद्ध स्वरूप को जाननेवाला चौथी सीढ़ी पर है; उसको जैनशास्त्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कहते हैं। उसके आगे बढ़ने पर त्यागवृत्ति अंशतः जब आती है तो वह गृहस्थ धर्मवान् श्रावक कहलाता है और उससे आगे बढ़ा हुआ सर्वांशत्यागी जैन मुनि माना जाता है। उससे भी अधिक २ गुण बढ़ने से दशवीं सीढ़ी में जानेपर समस्त क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का नाश होता है; एवं उसके आगे बढ़ा हुआ योगीन्द्र और उसके आगे केवली माना जाता है।

केवली दो प्रकार के होते हैं; एक सामान्य केवली

---

* योगशास्त्र के विवरण के ११४ पृष्ठ में ये सब लिखे हैं:—

'मनोवचनकायानां यत्स्यात् कर्म स आश्रवः'। 'सर्वेषामाश्रवाणां यो रोधहेतुः स संवरः'। 'कर्मणां भवहेतूनां जरणादिह निर्जरा'॥ 'सकषायतया जीवः कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान्। यदादत्ते स बन्धः स्यात्'॥

† १ मिथ्यात्व २ सास्वादन ३ मिश्र ४ अविरतिसम्यग्दृष्टि ५ देशविरति ६ प्रमत्त ७ अप्रमत्त ८ निवृत्तिबादर ९ अनिवृत्तिबादर १० सूक्ष्मसंपराय ११ प्रशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगी १४ अयोगी नामक चौदह सीढ़ी अर्थात् १४ गुणस्थानक हैं।

और दूसरा तीर्थंकर । इन दोनों में ज्ञानादि अन्तरंग लक्ष्मी बराबर रहने पर भी जिन्होंने जन्मान्तर में बड़े पुण्य का उपार्जन (संचय) किया हो, वही 'तीर्थंकरनामकर्म' रूप पुण्यसंचय होने से तीर्थङ्कर कहलाते हैं और वे राग, द्वेष आदि अठारह * दूषणों से रहित होते हैं ।

पूर्वोक्त आठ कर्मों में से चार कर्मों का केवलज्ञानोत्पत्ति के समय में क्षय होता है; किन्तु नामकर्म, आयुष्ककर्म, वेदनीयकर्म, गोत्रकर्म बाकी रहते हैं; उनकी स्थिति जबतक है तबतक शरीरधारी होने से आहार लेना, विहार करना, उपदेश देना आदि क्रिया, अवशिष्ट कर्म के क्षय (नाश) के वास्ते ही की जाती है ।

अग्लानि से भाषावर्गणा (शब्दसमूह) के पुद्गल के क्षय करने के निमित्त तीर्थंकर उपदेश करते हैं और उस उपदेशपर गणधरलोग द्वादश अङ्ग (द्वादशाङ्ग)† बनाते हैं ।

---

* अभिधानचिन्तामणि देवाधिदेवकाण्ड के १३ वें पृष्ठ में लिखा है:--

अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः ।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥७१॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा ।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ ७२ ॥

† १ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ भगवतीसूत्र, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदशाङ्ग, ८ अन्तकृत्दशाङ्ग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाकश्रुत, १२ दृष्टिवाद, ये बारह अङ्ग हैं ।

इस समय में उन अङ्गों में से ग्यारह अङ्ग तो विद्यमान हैं किन्तु बारहवाँ दृष्टिवादनामक अङ्ग अब नहीं मिलता। ग्यारह अङ्ग अब जो विद्यमान हैं उनको हमलोग मानते हैं, किन्तु दिगम्बरों ने इन मूल सूत्रों को विच्छिन्न मानकर दूसरे ही शास्त्र माने हैं। लेकिन हमारे मूलसूत्र में लिखी हुई बहुतसी बातें उनमें नहीं पाई जाती हैं। जैसे मङ्खलीपुत्र गोशाल का सम्बन्ध * मूलसूत्र में है, किन्तु दिगम्बरों के किसी ग्रन्थ में यह बात नहीं लिखी है। मङ्खली गोशाल का वृत्तान्त बौद्धों के 'पिटक' ग्रन्थों में भी पाए जाने से यह सिद्ध होता है कि यह मूल-सूत्र वही हैं। हमारे आगमों की रचना का समय २२०० बाईस सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन है, यह बात आचाराङ्गसूत्र के अङ्गरेजी तर्जुमे की भूमिका (प्रिफेस) में लिखी हुई है। दिगम्बरों के साथ हमलोगों का पदार्थ के मन्तव्य में विशेष फेरफार नहीं है, किन्तु क्रियाविभाग में बहुत फेरफार है। दोनों पक्षों में चौवीस तीर्थंकर†

* मङ्खलीपुत्र गोशाल ने श्री महावीरस्वामी के समय में 'आजीविक' पन्थ निकाला था। इसका विशेष वृत्तान्त भगवतीसूत्र में जिज्ञासुओं को देखना चाहिये।

† इस वर्तमान चौवीसी के तीर्थङ्करों के नाम ये हैं—

श्रीऋषभदेव १ अजितनाथ २ संभवनाथ ३ अभिनन्दनस्वामी ४ सुमतिनाथ ५ पद्मप्रभ ६ सुपार्श्वनाथ ७ चन्द्रप्रभ ८ सुविधिनाथ ९ शीतलनाथ १० श्रेयांसनाथ ११ वासुपूज्यस्वामी १२ विमलनाथ १३ अनन्तनाथ १४ धर्मनाथ १५ शान्तिनाथ १६ कुन्थुनाथ १७ अरनाथ १८ मल्लिनाथ १९ मुनिसुव्रतस्वामी २० नमिनाथ २१ नेमिनाथ २२ पार्श्वनाथ २३ महावीरस्वामी २४।

माने गये हैं और षड्द्रव्य, दो प्रमाण, सप्तभङ्गी, नय, नवतत्त्व, स्याद्वाद, गृहस्थ धर्म और साधुधर्म तथा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि उमास्वाति वाचक के कथन को और मूर्तिपूजादि को समान मानते हैं। किन्तु दिगम्बरमतावलम्बी लोग, साधुओं और तीर्थंकरों को दिगम्बर (वस्त्ररहित) बताते हैं और हम-लोग उनको वस्त्रधारी मानते हैं। सूत्रों में दो प्रकार के साधु बताये गये हैं; एक जिनकल्पी, दूसरे स्थविर-कल्पी। जिनकल्पियों के भी अनेक भेद लिखे हैं; उनमें कितनेक वस्त्ररहित बताये गये हैं। परन्तु वह मार्ग इस समय विच्छिन्न हो गया है, केवल स्थविर-कल्पी मार्गही इस समय प्रचलित है।

जिनकल्पी व्यवहार, पहिले मुनिलोग, क्लिष्टकर्म के क्षयार्थ स्वीकार करते थे; परन्तु उनको उस जन्म में केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता था। इस विषय का विस्तार-पूर्वक वर्णन पञ्चवस्तुकादि ग्रन्थों में प्रतिपादन किया हुआ है। हमारे देवाधिदेवों की मूर्त्ति में कच्छ (लँगोट) का चिन्ह रहता है और दिगम्बरों की मूर्ति वस्त्ररहित रहती है। दोनों पक्ष के लोग अर्हन्देव को ही ईश्वर मानते हैं।

अर्हन्‌देव ने इस संसार को, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि बताया है क्योंकि नतो जगत् का कोई कर्ता हर्ता है और न कोई जीवों को सुख, दुःख देनेवाला है, केवल अपने २ कर्म के अनुसार जीवमात्र सुख दुःख का अनुभव करते हैं।

बहुत से दर्शनानुयायी ईश्वरपर भार रख के 'ईश्वर की मरजी' ऐसा कहकर अपने पुरुषार्थ की अवनति करते हैं। वास्तविक में किसी का ईश्वर भला बुरा नहीं करता, क्योंकि ईश्वर में भले बुरे करने का कारण राग द्वेष नहीं है।

यहाँ ऐसी शङ्का का प्राप्त होना स्वाभाविक है कि ऐसे वीतराग के मानने से फिर फायदा ही क्या है ?। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि आशय की शुद्धता और अशुद्धता पर कर्मबन्ध होता है। वीत-राग का ध्यान करता हुआ वीतराग होता है और रागवान् का ध्यान करतेहुए रागी होता है। यद्यपि जैसे वीतराग, वीतरागपन को नहीं देता, उसीतरह राग-वान्, रागपन को भी नहीं देता; किन्तु अध्यवसाय से फल होता है। सामान्य से जीवों के अध्यवसाय छः

प्रकार के माने गये हैं। इसका जैनदर्शन में 'लेश्या'* नाम लिखा हुआ है। लेश्या के कारण, बन्ध जुदे २ प्रकार के होते हैं। इसी कारण से जगत् में विचित्र प्रकार के जीव दिखलाई पड़ते हैं। अतएव अध्यवसाय की शुद्धि के लिये वीतराग का पूजन अत्यावश्यक है।

जैनमत में रागद्वेष वाले को ईश्वर नहीं मानते।

जगदादिरूप कार्य की उत्पत्ति में अवान्तर प्रलय माननेवाले नैयायिक तीन कारण मानते हैं। १ समवायी जैसे परमाणु, २ असमवायी जैसे द्व्यणुकादि संयोग और तीसरा निमित्तकारण ईश्वर, अदृष्ट और कालादि को मानते

---

* लिश्यन्ते कर्मणा सह जीवा आभिर्लेश्याः।

अर्थात् जिससे कर्म के साथ जीव का बन्धन हो उसका नाम लेश्या है। कृष्णलेश्या १ नीललेश्या २ कापोतलेश्या ३ पीतलेश्या ४ पद्मलेश्या ५ शुक्ललेश्या ६ के नाम से छः प्रकार की लेश्या हैं।

अतिरौद्रः सदा क्रोधी मत्सरी धर्मवर्जितः।
निर्दयो वैरसंयुक्तः कृष्णलेश्याधिको नरः॥ १॥
अलसो मन्दबुद्धिश्च स्त्रीलुब्धः परवञ्चकः।
कातरश्च सदा मानी नीललेश्याधिको भवेत्॥ २॥
शोकाकुलः सदा रुष्टः परनिन्दात्मशंसकः।
संग्रामे प्रार्थते मृत्युं कापोतक उदाहृतः॥ ३॥
विद्यावान् करुणायुक्तः कार्याकार्यविचारकः।
लाभालाभे सदा प्रीतः पीतलेश्याधिको नरः॥ ४॥
क्षमावांश्च सदा त्यागी देवार्चनरतोद्यमी।
शुचिर्भूतसदानन्दः पद्मलेश्याधिको भवेत्॥ ५॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः शोकनिन्दाविवर्जितः।
परमात्मत्वसंपन्नः शुक्ललेश्यो भवेन्नरः॥ ६॥

हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से पूर्वोक्त परमाणु, द्व्यणुकादि संयोग, काल तथा अदृष्ट के कारण मानने में जैनमतानुयायियों को विवाद नहीं है, परन्तु ईश्वर को निमित्तकारण नहीं मानते हैं, क्योंकि कृतकृत्य ईश्वर को दुनिया के फन्द में डालना उचित नहीं है।

हमलोग कार्य की उत्पत्ति में १ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ पुरुषाकार और ५ कर्म, ये पाँच कारण मानते हैं। इनमें यदि एक की भी कमी हो तो कोई कार्य नहीं हो सकता।

पाँचो के कारणत्व में दृष्टान्त इस रीति से रखियेः—

जैसे स्त्री बालक को जन्म देती है तो उसमें प्रथम काल की अपेक्षा है, क्योंकि विना काल के गर्भ धारण नहीं कर सकती। दूसरा स्वभाव कारण है, यदि उसमें बालक उत्पन्न होने का स्वभाव होगा तो उत्पन्न होगा नहीं तो नहीं। तीसरा अवश्यंभाव; यदि पुत्र उत्पन्नहोनेवाला होगा तभी होगा। पुरुषाकार (उद्यम) भी उसमें दरकार है क्योंकि कुमारी कन्या के पुत्र नहीं होसकता। काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ रहने पर भी यदि भाग्य (कर्म) में होगा तो होगा, नहीं तो तमाम कारण निष्फल हो जायँगे।

केवल भाग्यही पर आधार रखकर बैठने से कार्य नहीं हो सकता, जैसे तिल में तेल है परन्तु उद्यम

के विना नहीं मिल सकता है। यदि उद्यम ही फलदायक माना जाय, तो उन्दुर (मूसा) उद्यम करता हुआ भी सर्प के मुख में जा पड़ता है, इसलिये उद्यम निष्फल है। यदि भाग्य और उद्यम दोही से कार्य माना जाय तो भी ठीक नहीं हो सकता है, क्योंकि कृषीवल [खेतिहर] विना समय सत्तावान् बीज को उद्यम पूर्वक बोवे तो भी वह फलीभूत नहीं होगा; क्योंकि काल नहीं है। यदि इन तीनों ही को कार्य के कारण मानें, तो भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि छरमूँग [जो मूँग चुराने से नहीं चुरती] के बोने से काल, भाग्य, पुरुषार्थ के रहने पर भी उगने का स्वभाव न होने से पैदा नहीं होती। यदि पूर्वोक्त तीन में चौथा स्वभाव भी मिला लिया जाय, तोभी यदि होनेवाला नहीं है तो कभी नहीं होता, जैसे कि कृषीवल ने ठीक समय पर बीज बोया, तो बीज में सत्ता भी है और अङ्कुर [कुला] भी फूटा, लेकिन यदि धान्य होनेवाला नहीं है तो कोई न कोई उपद्रव से नष्ट होजायगा। इसलिये पाँचो कारणों के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

मोक्ष की सिद्धि के लिये बारह प्रकार की तपस्या ❋

❋ योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में लिखा हुआ है:–

अनशनमौनोदर्यं, वृत्तेः संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बाह्यतपः॥ ८९॥
प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्यं स्वाध्यायो विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं षोढेत्याभ्यन्तरं तपः॥ ९०॥

भी बताई हुई है। जिसके अनशनादि छः बाह्य और प्रायश्चित्तादि छः आभ्यन्तर भेद हैं। इन बाह्याभ्यन्तर तपस्याओं के करने से जो कर्म का नाश होता है उसको निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक सकामनिर्जरा, दूसरी अकामनिर्जरा। अकामनिर्जरा प्राणिमात्र को होती है किन्तु सकामनिर्जरा मोक्षाभिलाषी प्राणियों को ही होती है और सकामनिर्जरा करनेवाले जीव शीघ्र मोक्षगामी होते हैं। जैनेतर तामली, पूरण, कमठादि तापस भी सकामनिर्जरावान् माने गए हैं क्योंकि पूर्वोक्त अनशनादि बाह्य तप को वे लोग भी करते थे। जैननामधारी होके जो कर्मक्षयनिमित्तक पूर्वोक्त तपस्या को नहीं करेंगे, वे सकामनिर्जरा के भागी नहीं होंगे। इस बात को जैनाचार्यों ने स्पष्टरूप से कहा है। इनके लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य चार प्रकार की भावनाओं के बतानेवाले तीर्थङ्कर महाराजों ने स्वयं इन भावनाओं को चण्डकौशिक (सर्प) और गोपालदारकादि के किये हुए उपसर्ग में चरितार्थ करके, जीवों को उपदेश दिया है—कि यदि तुमलोग निःसीम शान्ति की अभिलाषा रखते हो तो पूर्वोक्त चारो

भावनाओं* को अपने हृदय में धारण करके समस्त जीवोंपर शान्ति का सिञ्चन करो।

इसी शान्ति के प्रतिपादक मन्त्रों को नित्य पाठ करने के लिये हम लोगों को भी उपदेश दिया है:—

"श्रीश्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु। श्रीजनपदानां शान्तिर्भवतु।
श्रीराजाधिपानां शान्तिर्भवतु। श्रीराजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु॥
श्रीगौष्ठिकानां शान्तिर्भवतु। श्रीपौरमुख्यानां शान्तिर्भवतु।
श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु। श्रीब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु।"

इसप्रकार सर्वत्र शान्ति रखने के कारण को विज्ञ-पुरुष सहज में समझ जाँयगे, तथापि कुछ स्पष्ट कर देना अयोग्य नहीं गिना जायगा। जबतक राजा को शान्ति न होगी, तबतक सामान्य राजाओं में भी शान्ति नहीं होसकती और राजा को अशान्ति होने से प्रजा को भी शान्ति नहीं होगी; यह तो स्पष्टही है। इसी प्रकार एक की अशान्ति, उत्तर उत्तर अनेक की अशान्ति का कारण होजाती है। अब इतने लोगों पर शान्ति स्थापन

---

* योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में लिखा हुआ है:—

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥ ११८॥
अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्त्तितः॥ ११९॥
दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥ १२०॥
क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्॥ १२१॥

करने का हमलोगों के शास्त्रकारों का क्या कारण है सो तो आपलोगों की समझ में आही गया होगा।

जो साधुओं के पाँच महाव्रत और श्रावक [गृहस्थ] के बारह नियम हैं, उन सबका उद्देश्य अहिंसारूप पुष्पवाटिका की रक्षा ही है, यह बात विचारकरनेपर स्पष्ट होती है। तथापि इस बात को थोड़ा स्पष्ट करदेना उचित है। देखिये! असत्य बोलने से संमुखस्थ पुरुष को दुःख होता है और दुःख उत्पन्न होना ही हिंसा है, इसी रीति से चोरी आदि में भी जानलेना।

मुनिलोग त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की रक्षा करने के उद्देश्य से ही हर एक प्रयत्न को करते हैं।

गृहस्थ, स्थावर रक्षा में यत्नपूर्वक त्रस की रक्षा करते हैं।

यहाँ एक बातपर आपलोगों को अवश्य ही ध्यान देना चाहिये कि जैनों की अहिंसा की व्याख्या का अनेक अनजान मनुष्यों ने उलटा ही तात्पर्य समझा है। हम पहले कह चुके हैं कि कितनेलोग देशोन्नति की बाधा में जैनों की अहिंसा को ही अग्रणी मानते हैं; परन्तु यह एक बड़ी भारी भूल है, जिसके स्पष्ट किये विना यह निबन्ध [व्याख्यान] पूरा नहीं किया जा सकता। हमारे जैनशास्त्रानुसार अहिंसाविषयक आज्ञा की सीमा वहाँतक ही समझनी चाहिये, जिससे कि निर्दोष रीति

से अन्य के दुःख को विना उत्पादन किये विहार करनेवाले निरपराधी जीव की हिंसा न कीजावे। राजा भरत ऐसे प्रबल चक्रवर्त्ती, कि जिनलोगों ने अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिये हजारों वर्ष भयङ्कर युद्ध किया था; वे भी परम जैन माने जाते हैं; इतना ही नहीं, किन्तु उनका उसी जन्म में मोक्ष माना गया है। इस बात से जो जैनप्रजापर देश की अवनति का दोष लगाया जाता है, वह इससे निवृत्त हो जायगा ऐसा हम निश्चय करते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि जैनधर्म के पालन करनेवाले और उपदेशक पूर्वकाल में क्षत्रियादि थे; जिन प्रबल उपदेशकों के प्रताप से हम अपना गौरव इस समय में भी स्थिर रख सके हैं। इस विषय की ऐतिहासिक प्रमाणें इतिहास में बहुत प्रामाणिक रीति से दी गई हैं, परन्तु उसकी विवेचना करके हम आपलोगों का अब धैर्य्य नहीं हटायेंगे॥

अब मैं स्याद्वाद का दिग्दर्शन मात्र कराना चाहता हूँ:-

स्याद्वाद का अर्थ अनेकान्तवाद है। अर्थात् एक वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व; सदृशत्व, विरूपत्व; सत्त्व, असत्त्व; और अभिलाप्यत्व, अनभिलाप्यत्व इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्मों का सापेक्ष स्वीकारही स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) कहलाता है।

आकाश से लेकर दीप (दीपक) पर्यन्त समस्त पदार्थ नित्यत्वानित्यत्वादि उभय धर्म युक्त हैं । इसके विषय में अनेक युक्तियुक्त प्रमाण, स्याद्‌वादमञ्जरी और अनेकान्तजयपताका प्रभृति ग्रन्थों में लिखे हैं । हमको अनेक दर्शन देखनेपर यह बात विदित हुई है कि हमारे जैनशास्त्रकारही ने स्याद्‌वाद नहीं माना है, किन्तु अन्यदर्शनकारों ने भी प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है । इसपर आप लोग थोड़ी देर ध्यान दीजिये-देखिये ! प्रथम साङ्ख्य को ही लीजिये ; उसने भी सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था को प्रधान माना है । इसलिये उसके मत में भी प्रसाद, संतोष, तथा दैन्य वगैरह भिन्न २ स्वभाववाली अनेक वस्तुओं का एक प्रधान स्वरूप स्वीकार किया गया है, इसका नाम स्याद्‌वाद छोड़कर और क्या हो सकता है ?। इसीरीति से नैयायिकों को लीजिये; वे भी द्रव्यत्वादि को, अनुवृत्ति (एकाकार प्रतीति) और व्यावृत्ति [भिन्न प्रतीति] के ज्ञान के विषय होने से, सामान्य तथा विशेष रूप मानकर अनेकान्तवाद अर्थतः स्वीकार करते हैं । बौद्धों ने भी एक चित्रपट [वस्त्र] के भीतर नील, पीत आदि नाना आकारवाले ज्ञान को स्वीकार करके भङ्ग्यन्तर से स्याद्‌वाद स्वीकार किया है ॥

जैनधर्म अनादि है, और सब प्रकार के दर्शनों से सर्वथा स्वतन्त्र* है, यह बात पूर्वोक्त विवेचना से आप लोगों को स्पष्ट हो गई होगी।

जैनतत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में हमको एक बात याद आती है कि जैसे आज कल पदार्थविज्ञानवादी लोग साइन्स [पदार्थविज्ञानविद्या] से सूक्ष्मदर्शक [दूरबीन आदि] यन्त्रादि द्वारा नये२ आविष्कार करके जनसमाज को चकित करते हैं, वैसेही अतीन्द्रिय पदार्थ के विवेचक आज से हजारों वर्ष के पहिले विना किसी यन्त्रादि साधन के हमारे शास्त्रकार जल और मक्खन तथा पौधे आदि में जीव की सत्ता बता गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि हमारे शास्त्रीय विषय, तत्त्वज्ञान से भरपूर हैं; कमी इतनी ही है कि हमारा प्रमाद [आलस्य] ही हमको हर एक रीति से आगे उच्चश्रेणीपर बढ़ने के लिये अटकाये हुए है।

अन्त में ऐसी प्रार्थनापूर्वक हम अपने व्याख्यान की समाप्ति करते हैं किः—

'न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥१॥

❀ इति ❀

---

* In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

Read in the congress of the History of Religions

By H. JACOBI.

मिलने का पता—हर्षचन्द भूराभाई
श्रीयशोविजयजी जैनपाठशाला।
महल्ला—नन्दनसाहु
बनारस सिटी।

Printed by Gauri Shanker Lal, at the Chandraprabha Press, Benares City.
Published by Harakh Chand Bhoora Bhai.

श्रीः

भर्तृहरिविरचितं

नीतिशतकम्।

महाबलोपाह्वकृष्णशास्त्रिविरचितया

व्याख्यया समलंकृतम्।

तृतीयं संस्करणम्।

तच्च

मुंबय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालयाधिपतिना स्वकीयमुद्रणालये

मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम्।

शकाब्दाः १८२७—सन १९०६.

श्रीः

भर्तृहरिविरचितं

नीतिशतकम् ।

महावलोपाह्वकृष्णशास्त्रिविरचितया

व्याख्यया समलंकृतम् ।

तृतीयं संस्करणम् ।

तच्च

मुंबय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालयाधिपतिना स्वकीयमुद्रणालये

मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम् ।

शकाब्दाः १८२७—सन १९०६.

॥ श्रीः ॥

विद्वदभ्यर्थना.

स्वस्तिश्रीमत्समस्तजगदाधारपरमकरुणावतारस्य घनश्यामकल्पविटपिविशङ्कटविटपतटप्रकटप्रोत्कटसुमनःसमानमृदुलभक्तावतंसमनःसिंहासनकृताधिवासनस्य भगवतो नारायणस्य लीलातः प्रवर्तमानायामस्यां पञ्चम्यां भूतसृष्टौ समस्तकविकलाकोविदस्याप्यवगतसकलशास्त्रस्य निजयशःसुधाधवलितविशुद्धविज्ञानविलासितविबुधजनमानसमन्दिरस्य नितान्तशौर्यौदार्यधैर्यवीर्यगाम्भीर्यमौर्शाल्यादिगुणमणिगणाभरणविभूषितकलेवरस्य, पवित्रचरित्रपवित्रीकृतधरित्रीवलयस्य, सकलावनीशवन्दितचरणस्य, दिगन्तरलुठत्कीर्ते राजर्षिप्रवरस्य, श्रीमतो भर्तृहरिमहीपालस्य, निजानुभवपुरःसरं संसारतत्त्वार्थसारोपदेशदेशिकीभूतमिदं शतकत्रयात्मकं नीतिशृङ्गारवैराग्यविषयनिबद्धं काव्यं समस्तजनकल्याणाय संप्रसार्यमाणं विबुधजनचेतोमहानन्दं समुत्पादयतीति हि तावद्भूयोभूयो जोघुष्यन्त एव सरलबुद्धिभिर्विद्वद्भिः ॥

तदेतत्काव्यमनन्वितटीकार्थमस्ताव्यस्तनिर्गलितनिरर्गलविषयमासीत् । तादृशाव्यवस्थया ग्रन्थदोषं पर्यालोच्य सहृदयसूचनया प्रेरितोऽहं गोदावरीतीरविलसच्छ्रीनासिकक्षेत्रनिवासिभिर्महाबलोपनामधेयैः कृष्णशास्त्रिभिर्नवीनां काव्यार्थानुगतां टीकां कारयित्वा प्राचीनलिखितपञ्चषट्पुस्तकानि मेलयित्वा ग्रन्थं शोधयित्वा सुविमलकीलकाक्षरैरङ्कित्वा विदुषामग्रतः प्रसिद्धिमनैषम् । तद्धि सुधियो मदीयं प्रयासमभिनन्दनेन कृतार्थयन्त्वित्याशासे ॥

श्रीः ।

श्रीमद्भर्तृहरिकृतं

नीतिशतकं प्रारभ्यते ।

भक्तचित्तानुरोधेन धत्ते नानाकृतीः स्वयम् ॥
अद्वैतानन्दरूपो यस्तस्मै भगवते नमः ॥ १ ॥
गोदावाक्तटवर्तिनासिकमहाक्षेत्रे पवित्रे वसन्-
बालंभट्टतनूभवो जननभूर्लक्ष्मीर्यदीया सती ॥
तेनेयं विवृतिर्महाबलपराभिख्येन कृष्णेन हि
श्रीमद्भर्तृहरिप्रणीतशतकत्रय्याः कृता यत्नतः ॥ २ ॥
अर्थद्योतनिका भूयाद्विदुषां प्रीतयेऽनिशम् ॥
त एवात्र विचिन्वन्तु गुणदोषौ विमत्सराः ॥ ३ ॥

इह खलु राजर्षिप्रवरः श्रीभर्तृहरिरुभयलोकसाधकं नीतिशृङ्गारवैराग्याख्यशतकत्रयात्मकं ग्रन्थं चिकीर्षुः सदाचरणस्य नीतिज्ञानपूर्वकत्वात्तज्ज्ञानाय प्रथमं नीतिशतकमारभमाणः प्रारीप्सितस्य ग्रन्थस्याविघ्नतासिद्धये नमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ॥
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

दिगिति ॥ दिग्दिशा । कालो भूतादिः । आदिशब्देन देशत्रयआदि । दिक्च कालश्च तावादी येषां देशत्रयआदीनां तैरनवच्छिन्नाऽव्याप्ताऽत एवानन्ता चिन्मात्रा चिद्रूपा मूर्तिर्देहो यस्य तस्मै, शान्ताय शान्तस्वरूपाय तेजसे प्रकाशरूपाय, भगवते ब्रह्मणे नमोऽस्तु । ननु यं नमसि तदस्तित्वविषये किं मानं तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । स्वानुभूत्येकमानायेति । स्वस्यानुभूतिरनुभवः यद्वा स्वा स्वकीयाऽनुभूतिः सैवैकं मानमस्तित्वज्ञापकं यस्य तस्मै अस्मिन् शतकत्रये दृष्टेषु बहुषु पुस्तकेषु क्वचिच्छ्लोकानां पूर्वापरभावव्यत्ययस्तथा परस्परमिश्रीभावश्च दृश्यते तद्विचारोऽत्र न कृतः स सुधीभिर्विचारणीयः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

एवंहि पुरा वृत्तम्—जरारोगादिनाशकमायुर्वर्धकं किमपि फलं कुतश्चि-द्ब्राह्मणाद्भर्तृहरिणा लब्धं तत्स्वपत्न्यै राज्ञा दत्तं, साप्यन्यसक्तत्वादन्यस्मै दत्त-वती, सोऽपि पुरुषोऽन्यस्यै दत्तवान्, सापि पुना राज्ञे दत्तवती, तद्दृष्ट्वा प-रमं वैराग्यमापन्नो राजा स्वसहितान्पत्न्यादीन्निन्दति—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥ २ ॥

यामिति ॥ अहं यां सततं निरन्तरं हृदि चिन्तयामि सा मयि विरक्ता-ऽस्ति । साप्यन्यं जनं जारपुरुषमिच्छति वाञ्छति, स जनोऽप्यन्यस्मिन्स्त्रीजने सक्त आसक्तः, यद्वाऽन्यस्यां सक्तः, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावात् । अस्म-त्कृते चास्मदर्थे त्वन्या काचित्परितुष्यति संतोषं प्राप्नोति । अतो याऽस्मदर्थे परितुष्यति तां धिक् । अन्यसक्तं तं जनं धिक् । इमां मदीयां स्त्रियं मां च धिक् । इदं सर्वं मदनकृतमिति तं मदनमपि धिगित्यर्थः । वसन्त-तिलकावृत्तम् । तदुक्तं वृत्तरत्नाकरे—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति ॥

अत्र लोके हि त्रिविधा जनाः अज्ञः सुज्ञोऽल्पज्ञश्चेति । तत्राऽऽद्यः सुख-साध्यः द्वितीयस्तु सुखतरसाध्यः तृतीयस्त्वसाध्य इत्याह—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ॥
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥ ३ ॥

अज्ञ इति ॥ न जानातीत्यज्ञः । अकिंचिज्ज्ञ इत्यर्थः । स तु सुखं यथा-स्यात्तथाऽऽराध्यः सेव्यः । विशेषं जानातीति विशेषज्ञः स तु सुखतरमतिसुखे-नाऽऽराध्यते । ज्ञानस्य लवो लेशस्तेन दुर्विदग्धः दुःशब्दो दुष्टार्थकः हिताहि-तविवेकशून्यत्वेन दुष्टं यथा स्यात्तथा चतुरः । ज्ञानलेशमात्रेणाऽऽत्मानं पण्डि-तंमन्य इति यावत् । एतादृशं नरं ब्रह्माऽपि चतुर्मुखोऽपि न रञ्जयति न सा-धयति । न वशीकरोतीति यावत् । काऽन्येषां वार्तेत्यर्थः । आर्या वृत्तम् । तदुक्तं श्रुतबोधे—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टा-दश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" इति ॥

मूर्खजनचित्ताराधनं दुर्घटमिति बहुदृष्टान्तैः स्पष्टयति श्लोकद्वयेन—

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरा-
त्समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ४ ॥

प्रसह्येति ॥ मकरो जलजन्तुविशेषस्तस्य वक्त्रं मुखं तत्संबन्धिन्यो या दंष्ट्रास्तासामन्तरं मध्यं तस्मात् । "दंष्ट्राङ्कुरात्" इत्यपि पाठः । तन्मुखपतितमपि मणिं प्रसह्य हठादुद्धरेन्निष्कासयेत् । तथा प्रचलन्त्यो या ऊर्मिमालास्तरङ्गपङ्क्तयस्ताभिराकुलं व्याप्तं समुद्रमपि संतरेत्पारं गच्छेत् । तथा कोपितं भुजङ्गं सर्पं हस्तेनोद्धृत्य शिरसि मस्तके पुष्पवत्कोऽपि धारयेत्, परंतु सत्यसति वा वस्तुनि प्रतिनिविष्टमाविष्टं मूर्खजनस्य चित्तं नाराधयेन्न साधयेत् । न चालयेदित्यर्थः । पृथ्वी वृत्तम् । "जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः" इति तल्लक्षणात् ॥

किंच—

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ५ ॥

लभेतेति ॥ कश्चित्सिकताः यत्नतस्तैलनिष्कासनोपायेन, पीडयन्मर्दयन् सिकतासु वालुकास्वपि तैलं लभेत प्राप्नुयात् । तथा पिपासार्दितस्तृषापीडितो मृगतृष्णिकासु मृगजलेषु सलिलमुदकं कदाचित्पिबेत् । कदाचित्पर्यटन्पर्यटनशीलः पुरुषः शशो मृगविशेषस्तस्य विषाणं शृङ्गं ब्रह्मणाऽसृष्टमप्यासादयेत्प्राप्नुयात्, परंतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तं नाराधयेत् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥

खलजनाः केनाप्युपायेन सन्मार्गे वर्तयितुमतिदुःशका इत्याह—

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन संनह्यते ॥
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥ ६ ॥

व्यालमिति ॥ यः सतां पथि मार्गे सुधाममृतं स्यन्दन्ते प्रस्रवन्ति तच्छीलैः सूक्तैः सुवचनैः खलान्दुर्जनान्नेतुं वाञ्छतीच्छति असौ व्यालं सर्पं दुष्टगजं वा । "व्यालो दुष्टगजे सर्पे" इति मेदिनी । बालैः कोमलैर्मृणालतन्तुभिः कम-

लबिसतन्तुभी रोद्धुं बद्धुं समुज्जृम्भते। सम्यक्चेष्टते तथा। वज्रमणीन्हीरकमणीन्। "वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ" इत्यमरः। शिरीषकुसुमस्य पुष्पविशेषस्य 'शिरस' इति ख्यातस्य। "शिरीषस्तु कपीतनः" इत्यमरः। प्रान्तेन प्रान्तभागेन छेत्तुं भेत्तुं संनह्यते संनद्धो भवति। तथा क्षाराम्बुधेः क्षारजलसमुद्रस्य माधुर्यं मृष्टजलत्वं मधुबिन्दुना माक्षिकबिन्दुना। "मधु क्षौद्रं माक्षिकादि" इत्यमरः। रचयितुं कर्तुमीहते चेष्टते। एवं च व्यालादयो यथा मृणालतन्त्वादिभिर्बन्धनादि कर्तुमशक्यास्तथा केनाप्युपायेन खलजनाः सन्मार्गे वर्तयितुं दुःशका इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः" इति तल्लक्षणात्॥

इदानीमज्ञजनानामज्ञताऽऽवरणोपायमाह—

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः॥
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥ ७॥

स्वायत्तमिति॥ विधात्रा ब्रह्मणा अज्ञताया मौर्ख्यस्य छादनमावरणम्। "छदिर् आवरणे" धातुः। मौनं तूष्णींभावः विनिर्मितं रचितम्। कीदृशम्। स्वस्याऽऽत्मन आयत्तमधीनम्। "अधीनो निघ्न आयत्तः" इत्यमरः। पुनः कीदृशम्। एकान्तगुणं एकान्ता अतिशयिता गुणा यस्मिंस्तत्। "अथातिशयो भरः" इत्युपक्रम्य। "तीव्रैकान्तनितान्तानि" इत्यमरः। विशेषतो विशेषेण सर्वं विदन्ति जानन्ति ते सर्वविदस्तेषां समाजे समूहे। सभायामिति यावत्। सदसद्विवेकवती बुद्धिः पण्डा, संजाता येषां ते पण्डिताः न पण्डिता अपण्डितास्तेषां विभूषणमलंकरणं भवति। अज्ञस्य स्वाज्ञानावरणे मौनादन्य उपायो लोके नास्तीति भावः। इन्द्रवज्रा वृत्तम्। "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" इति तल्लक्षणम्॥

किंचिज्ज्ञानात्सर्वज्ञत्वाभिमानो भवति विशेषज्ञानात्तु तदभाव इति स्वदृष्टान्तेनाऽऽह—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः॥
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥ ८॥

यदेति॥ यदाऽहं किंचिज्जानातीति किंचिज्ज्ञः, द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां

पिबतीति द्विपो गजः यथा मदेन मदजलेनान्धो विवेकशून्यस्तथाऽहमपि किंचिज्ज्ञत्वमदेनान्धः कार्याकार्यविवेकशून्यः समभवमासं, तदा सर्वमखिलं जानातीति सर्वज्ञोऽस्मीति मम मनोऽवलिप्तं गर्वितमभवत् । यदा बुधजनसकाशाद्विद्वज्जनसकाशात्किंचित्किंचिच्छास्त्रादिकमवगतं प्राप्तं तदा मूर्खोऽस्मीति मम मनोऽभवदिति पूर्वस्यैवानुषङ्गः । ततो ज्वर इव मे मदो व्यपगतो नष्टः । यथा सदौषधेन ज्वरो गच्छति तथा विद्वज्जनसकाशात्प्राप्तेन ज्ञानेनाहं सर्वज्ञोऽस्मीत्यभिमानो गत इत्यर्थः । ज्वर इति सर्वरोगोपलक्षणम् । शिखरिणी वृत्तम् । "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी" इति लक्षणात् ॥

इदानीं तुच्छेषु विषयेषु लुब्धं जनं श्वदृष्टान्तेन निन्दति—

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ॥
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥ ९ ॥

कृमिकुलचितमिति ॥ कृमीणां कीटानां कुलैः समूहैश्चितं व्याप्तम् । लाला मुखमलं तेन क्लिन्नमार्द्रम् । "आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नम्" इत्यमरः । विगन्धि दुर्गन्धमत एव जुगुप्सितं निन्द्यम् । निरामिषं निर्गतमामिषं मांसं यस्मात्तत् । शुष्कमित्यर्थः । नरास्थि मनुष्यदेहास्थि, निर्गता उपमा यस्यैतादृशोऽनुपमो रसः स्वादो यस्मिन्कर्मणि यथा तथा । "रसो गन्धरसे जले" इत्यारभ्य "पारदस्वादयोः पुमान्" इति मेदिनी । प्रीत्या प्रीतिपूर्वकं खादन्भुञ्जन् श्वा शुनकः । "शुनको भषकः श्वा स्यात्" इत्यमरः । पार्श्वस्थं निकटस्थितं सुरपतिमिन्द्रं विलोक्यापि न शङ्कते न लज्जते । हि यस्मात्क्षुद्रोऽल्पो जन्तुः प्राणी परिग्रहस्य फल्गुतां तुच्छतां नहि गणयति न मनुते किंत्वतितुच्छं लोकैर्निन्दितमपि कर्म करोत्येवेति भावः । हरिणी वृत्तम् "रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा" इति लक्षणात् ॥

उत्तमपदाच्च्युतः पुरुषोऽधःपतनं प्राप्नुवन्क्षुद्रपदं प्राप्नोति न पुनरुच्चपदमिति गङ्गादृष्टान्तेनाह—

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ १० ॥

शिरः शार्वमिति ॥ विष्णुपदादुत्तमान्निर्गता गङ्गा, स्वर्गात्प्रथमं शर्वः शिवस्तस्येदं शार्वं शिरो मस्तकं प्रति पतति, तत्ततः शिरसः क्षितिधरं हिमालयपर्वतं पतति । उत्तुङ्गादत्युच्चान्महीं पृथ्वीं धारयतीति महीध्रः पर्वतस्तस्मात् । "मूलविभुजादित्वात्कः" अवनिं भूमिं पतति, अवनेश्चापि सहस्रमुखैर्जलधिं समुद्रं पतति, एवमिमं गङ्गा क्रमेणाधोधः पतन्ती स्तोकमल्पं पदमुपगता अथवा विवेकभ्रष्टानां सदसद्विचारशून्यानां विनिपातो विशेषेण पतनं । नीचस्थितिरिति यावत् । शतमनेकानि मुखानि द्वाराणि यस्य यस्मिन्वा एतादृशो भवति । यथा गङ्गा उत्तमस्थानाद्विष्णुपदान्निर्गता शिवमस्तकं प्रत्याताता एतदपेक्षयाऽन्यदुत्तमं निवासयोग्यं स्थानं नास्तीति मनसि विचारमकृत्वा क्रमेण पर्वतादौ पतन्ती सहस्रमुखैर्जलधिं डलयोरैक्याज्जडाश्रयं नीचमेव पदं प्राप्ता न पुनरुत्तमं पदं तथा विवेकशून्याः पुरुषा ह्यनेकद्वारैर्नीचपदमेव प्राप्नुवन्ति नोत्तमं पदमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

सर्वोपद्रवनिवर्तकोपायः शास्त्रे लोके च दृष्टो मूर्खबोधकोपायो न क्वाऽपि दृष्ट इत्याह—

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक्छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ॥
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥११॥

शक्य इति ॥ हुतं हविरादि भुङ्क्ते इति हुतभुगग्निः "हिरण्यरेता हुतभुक्" इत्यमरः । जलेनोदकेन वारयितुं शमयितुं शक्यः । शक्य इति क्रियाया यथासंभवं सर्वत्रान्वयः । सूर्यस्यातप उष्णत्वं छत्रेण, तथा समदो मदयुक्तो नागेन्द्रो गजो निशितेनाङ्कुशेन, तथा गौश्च गर्दभश्च तौ दण्डेन लगुडेन । "दण्डोऽस्त्री लगुडेऽपि स्यात्" इत्यमरः । व्याधी रोगो भेषजस्यौषधस्य सङ्ग्रहैः सेवनैः, तथा विषं विविधैरनेकैर्मन्त्रप्रयोगैः । एवं सर्वस्योपद्रवस्य शास्त्रविहितमौषधं निवर्तकोपायोऽस्ति, परंतु मूर्खस्यौषधं शास्त्रविहितं लौकिकं च नास्ति । मूर्खत्वविघातक उपायो नास्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

यस्तु साहित्यशास्त्राद्यनभिज्ञः स तु नराकारः पशुरेवेत्याह—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ॥
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥ १२ ॥

साहित्येति ॥ साहित्यं काव्यालङ्कारादि, संगीतं गानादि, कला शिल्पं, ताभिर्विहीनो रहितो नरः पुच्छं लाङ्गूलं विषाणं शृङ्गं ताभ्यां हीनः "पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गूले, अतस्त्रिषु विषाणं स्यात्पशुशृङ्गे" इति चामरः । साक्षात्पशुरेव । ननु पशवस्तृणं भक्षयन्त्ययं तु कुतो न खादतीति चेत्तत्राह तृणमिति । तृणं न खादन् भक्षयन्नपि जीवमान इति यत् तत्पशूनां परममुत्कृष्टं भागधेयमदृष्टम् । अन्यथा तेषां तृणाद्यलाभाज्जीवनमपि न स्यादिति भावः । तस्मान्मनुष्येण साहित्यादिकमवश्यं संपादनीयमिति तात्पर्यम् । उपजातिर्वृत्तम् । "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥" इति तल्लक्षणात् ॥

येषां विद्यादि नास्ति तेषां पशुभूतानां मनुष्यरूपेण भूमौ संचरणमित्याह—

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ॥
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ १३ ॥

येषामिति ॥ येषां विद्या व्याकरणमीमांसादिः न नास्ति, तपो व्रतोपवासादि न, दानं सत्पात्रे गवादिधनार्पणं न, ज्ञानं शास्त्रीयं व्यावहारिकं च न, शीलं सद्वृत्तं न, गुणः सत्त्वगुणः लोकानेकविधकार्यसाधको वा न, धर्मः सदाचरणादिः न, ते मृगाः पशुभूताः "मृगः पशौ कुरङ्गे च" इति मेदिनी । नरा भुवि भारभूताः सन्तो मनुष्यरूपेण चरन्ति संचरन्ति । विद्याविहीना मनुष्यरूपेणोपलभ्यमाना अपि पृथिव्या भारभूताः साक्षात्पशव एवेत्यर्थः । तथा च पुरुषेण पशुत्वनिवारकविद्यादिकमवश्यं संपादनीयमित्यनेन सूचितम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥

पर्वतादौ वनचरैः सह भ्रमणं श्रेष्ठं न मूर्खजनसंसर्गः स्वर्गेऽप्युचित इत्याह—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ॥
न मूर्खजनसंपर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ १४ ॥

वरमिति ॥ पर्वतदुर्गेषु गन्तुमशक्येष्वपि स्थानेषु वने चरन्तीति वनेचरा व्याघ्रादयस्तैः सह भ्रान्तं भ्रमणम् । भावे क्तः । वरमुचितम् । सुरेन्द्रभव-

नेष्वपि मूर्खजनस्य संपर्कः संसर्गो वरो न भवति । तथा च मूर्खजनसंसर्गः सर्वथा त्याज्य इति तात्पर्यम् । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

यस्य राज्ञो देशे कवयो निर्धनाः सन्ति स राज्ञो दोष इति मणिपरीक्षकदृष्टान्तेनाह—

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ॥
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयोप्यर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥ १५ ॥

शास्त्रोपस्कृतेति ॥ यस्य प्रभो राज्ञो विषये देशे शास्त्रेण व्याकरणादिनोपस्कृता अलंकृता ये शब्दास्तैः सुन्दरा गीर्वाणी येषां ते तथा शिष्येभ्यः प्रदेयो दातुं योग्यः । अध्यापनयोग्य इति यावत् । आगमः शास्त्रं येषामत एव विख्याताः प्रसिद्धाः कवयो निर्धना धनरहिता वसन्ति तद्वसुधायाः पृथिव्या अधिपस्य राज्ञो जाड्यं दोषोऽस्ति न सुधियाम् । हि यतस्तेऽर्थं द्रव्यादिं विनापीश्वराः सन्ति । तत्र दृष्टान्तः । यैः परीक्षकैर्मणयो रत्नादयोऽर्घतो मूल्यतः पातिताः बहुमूल्या मणयोऽल्पमूल्याः कृता अतस्ते कुपरीक्षका ज्ञानशून्याः कुत्स्या निन्द्या न तु मणय इत्यर्थः । तथा च रत्नानां मूल्यं यथार्थमजानन्तः परीक्षका यथा निन्द्यास्तथोक्तविधकवीनां वास्तवं स्वरूपमजानन्तो राजानोऽपि निन्द्या इति भावः । अनेन सत्यैश्वर्ये राज्ञा कवयः संमाननीया इति व्यज्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

इदानीं राज्ञा विद्वांसः संमाननीया न तु गर्वेण तिरस्करणीया इति नीतिं विद्याप्रशंसापूर्वकं तं प्रति बोधयन्नाह द्वाभ्याम्—

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ॥
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥ १६ ॥

हर्तुरिति ॥ यद्धनं हर्तुश्चोरादेर्गोचरमक्षिविषयं न याति न प्राप्नोति । तथा किमपि शं कल्याणं पुष्णाति पोषयति, सर्वदाऽर्थिभ्यो याचकेभ्योऽनिशं निरन्तरं प्रतिपाद्यमानं दीयमानमपि परामुत्कृष्टां वृद्धिं प्राप्नोति । वर्धेत इति यावत् ॥ तदुक्तम् "अपूर्वः शब्दकोशोऽयं विद्यते तव भारति । व्ययतो वृद्धिमाप्नोति क्षयं प्राप्नोति गोपनात् ॥" इति । किंच कल्पान्तेष्वपि निधनं नाशं

न प्रयाति न गच्छति एतादृशविद्याख्यं विद्या नामकमन्तर्धनं गुप्तं धनं येषां तैः सह कः पुरुषः स्पर्धते स्पर्धां करोति न कोऽपि । अतो हे नृपास्तान्प्रति वयं धनवन्तो राजानः इमे त्वतिदरिद्रास्तुच्छा इति मानं गर्वमुज्झत । त्यजतेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

किंच—

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि ॥
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १७ ॥

अधिगतेति ॥ अधिगतः प्राप्तः परमार्थो यैस्तान्पण्डितान् लघु तुच्छं तृणमिव माऽवमंस्था अपमानं मा कुरु । यतो लक्ष्मीरपि तान् नैव संरुणद्धि रोद्धुं न शक्नोति । तत्र दृष्टान्तः । अभिनवो नूतनो यो मदो मदजलं तस्य लेखा पङ्क्तिस्तया श्यामे गण्डस्थले येषां तेषां वारणानां गजानां बिसतन्तुः कमलनालतन्तुर्वारणं रोधको न भवति । मालिनी वृत्तम् "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति तल्लक्षणात् ॥

आनुषङ्गिकगुणनिवर्तको लोको दृष्टः स्वभावसिद्धगुणं निवर्तयितुं कोऽपि समर्थो नास्तीति हंसदृष्टान्तेन दर्शयन्नाह—

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ॥
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥ १८ ॥

अम्भोजिनीति ॥ कुपितो विधाता ब्रह्मा हंसस्याम्भोजिनीनां कमलिनीनां वनं निवासस्थानम् "वनं नपुंसकं नीरे निवासे" इति मेदिनी । तत्र निवासेन यो विलासस्तमेव नितरां हन्ति नाशयति, परं त्वस्य हंसस्य दुग्धं च जलं च तयोर्भेदः पृथक्करणं तस्य विधौ विधाने प्रसिद्धां लोकविश्रुतां वैदग्ध्यं स्वाभाविकचातुर्यं तस्य कीर्तिमपहर्तुं दूरीकर्तुमसौ ब्रह्माऽपि न समर्थः । काऽन्यस्य वार्तेत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

अङ्गदाद्यलङ्कारेभ्यो वागलङ्कारो गरीयानित्यवश्यं स संपादनीय इत्यभिप्रायेणाह—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ॥

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ १९ ॥

केयूरा इति ॥ केयूरा बाहुभूषणानि पुरुषं न भूषयन्त्यलङ्कुर्वन्ति । चन्द्रोज्ज्वलाश्चन्द्रकान्तिसदृशा हारा मुक्तादिरचिता माला न, तथा स्नानं न, विलेपनं चन्दनादि न, कुसुमं पुष्पं न, अलङ्कृता मूर्धजाः केशा न, किं तु एका वाणी पुरुषं समलङ्करोति सम्यग्भूषयति । सा का । या संस्कृता व्याकरणादिसंस्कारयुक्ता विद्वद्भिर्धार्यते । वागतिरिक्तानि भूषणानि क्षीयन्ते खलु न तु वाग्भूषणं क्षीयतेऽतो वाग्भूषणमेव सततं निरन्तरम् । अक्षयमिति यावत् । भूषणमलङ्करणं नान्यदिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

विद्यैव नरस्य रूपादिकमस्ति तद्रहितो नरः पशुरेवेत्याह—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः ॥ २० ॥

विद्येति ॥ नामेति संभावनायाम् । नरस्य पुरुषस्य विद्यैवाधिकं श्रेष्ठं रूपमस्ति विद्यावन्तः कुरूपा अपि सर्वत्र मान्या भवन्ति न तथा केवलं सुरूपाः । किंच प्रच्छन्नं स्वान्तःस्थितत्वेनेतरानपहार्यं गुप्तं च बाह्यसाधनानपेक्षमननादिना रक्षितं च । प्रसिद्धधनं तु चोराद्यपहार्यं पेटकादिरक्षितं च । विद्या, भुज्यत इति भोगोऽन्नवस्त्रादि तत्करोतीति करी । संपादिकेति यावत् । तथा यशः कीर्तिं सुखमानन्दं च करोतीति यशःसुखकरी । तद्धेतुरित्यर्थः । "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु" इति टः । विद्यैव गुरूणामुपदेष्टॄणां गृणाति हितमुपदिशतीति गुरुरुपदेष्टी । विद्यैव विदेशगमने बन्धुजनो बन्धुवद्धितकारी । परमुत्कृष्टं दैवतं विद्यैव ॥ विद्यैव राज्ञा सुष्ठु पूजिता, धनं द्रविणं तु न । अतो विद्यया विहीनो रहितः पशुरेव । तदुक्तम् "विहिताविहितविचारशून्यबुद्धेः श्रुतिविषयैर्विधिभिर्बहिष्कृतस्य । उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥" इति तस्मात्पुरुषेण पशुत्वव्यावृत्तये विद्यैवावश्यं संपादनीयेति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥

क्षमादिगुणयुक्तस्यैतैर्वचनादिभिः किमित्याह—

क्षान्तिश्चेद्वचनेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ॥

किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥ २१ ॥

क्षान्तिश्चेदिति ॥ क्षान्तिः क्षमा चेद्वचनेन जगन्मनोहारिभाषणेन यद्वा दुर्जनोक्तनिन्द्यभाषणेन किम् । क्षमयैव सर्वं जगत्प्रसन्नं भवतीत्यर्थः । देहिनां शरीरिणां क्रोधोऽस्ति चेदरिभिः शत्रुभिः किम् । इहलोकपरलोकभ्रंशनादिसर्वं शत्रुकर्म स एव करिष्यतीत्यर्थः । ज्ञातिः स्वजातिः संनिधावस्ति चेदनलेनाग्निना किम् । अग्निकृतं तापादिकं सैव करिष्यति । यदि सुहृत्सखा हितकर्ता चेद्दिव्यौषधैरुत्तमौषधैः फलं साध्यं किम् । यद्वा सुष्ठु सन्तुष्टं हृदन्तःकरणम् । "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः । औषधैः शरीरहितं भवति तत्सुहृदा भवति । यदि दुर्जनाः खलाः सन्ति तर्हि सर्पैः किम् । दंशनं विनापि दुर्जनैः प्राणघातादिकरणे सर्पैः किं प्रयोजनमित्यर्थः । यदि अनवद्याऽनिन्द्या विद्या चेद्धनैर्द्रव्यैः किमु । धनेन यथा सुखं तथा विद्ययैव भवतीत्यर्थः । यदि व्रीडा लज्जा चेद्भूषणैर्बहिरलङ्कारैः किमु । तयैवालङ्करणकार्यं भवति । यदि सुष्ठु कीर्त्यादिवर्णनचतुरा कविता पद्यादिरचनास्ति चेत्तर्हि राज्येन किम् । तयैव राज्यादिसुखं भवतीत्यर्थः । वृत्तं पूर्वोक्तमेव ॥

उचितक्रियां कुर्वति जने न्यायमार्गस्थितिर्भवतीत्याह—

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ॥
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥ २२ ॥

दाक्षिण्यमिति ॥ स्वजने पुत्रकलत्रादौ दाक्षिण्यमौदार्यं सारल्यम् । "दक्षिणे सरलोदारौ" इत्यमरः । परजने स्वीयातिरिक्तजने दया कृपा । दुर्जने खलजने सदा शाठ्यं वञ्चकत्वम् । साधुजने प्रीतिः । नृपजने नयो नीतिः । विद्वज्जनेषु पण्डितेष्वार्जवमृजुता । शत्रुजने शौर्यं शूरत्वम् । गुरुजने महाजने क्षमा तत्कृतोपद्रवसहनम् । नारीजने स्त्रीजने धूर्तता धौर्त्यम् । एवंप्रकारेण ये पुरुषाः कलासु कुशला निपुणास्तेष्वेव लोकानां स्थितिर्न्यायमार्गसंस्था । "संस्था तु मर्यादाधारणा स्थितिः" इत्यमरः । सर्वे लोकास्तदनुरोधेन वर्तन्त इत्यर्थः । पूर्वोक्तं वृत्तम् ॥

सत्संगतिर्जाड्यहरणादिकं सर्वं करोतीत्याह—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ २३ ॥

जाड्यमिति ॥ सतां साधूनां संगतिः समागमः धियो बुद्धेर्जाड्यं मन्दतां हरति नाशयति । वाचि वाण्यां सत्यं सिञ्चति यत्संगत्या लोकाः सत्यमेव वदन्तीत्यर्थः । मानस्य संमानस्योन्नतिमुच्चतां दिशति ददाति । पापमपाकरोति दूरीकरोति । चेतश्चित्तं प्रसादयति । अहङ्काराद्यपाकरणेन प्रसन्नतां नयतीत्यर्थः । दिक्षु दिशासु कीर्तिं तनोति विस्तारयति । एवं सत्संगतिः पुंसां किं किं न करोतीति कथय वद । किं तु सर्वानर्थान्साधयतीत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् । लक्षणं पूर्वमुक्तम् ।

इदानीं कवीश्वरान्सर्वोत्कर्षत्वेन वर्णयति—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ॥
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥ २४ ॥

जयन्तीति ॥ रसेषु शृङ्गारादिषु पक्षे पारदादिषु सिद्धाः सिद्धिमन्तः पूर्णाः । सज्जा इति यावत् । ते कवीश्वराः कवीन्द्राः सुकृतिनो धन्याः सन्तः "सुकृती पुण्यवान्धन्यः" इत्यमरः । जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । ते के । येषां यशःकाये यशोरूपे देहे जरा च मरणं च ताभ्यां जातं भयं नास्ति । यथा सिद्धौषधरससेवनेन प्रसिद्धदेहो जरामरणभयरहितः सन्न नश्यति तथा कवीनां शृङ्गारादिरसपूर्णनानाविधकाव्यवचनजन्यं यशः कदापि न नश्यतीति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

भगवत्कृपयैव पुत्रादयः सच्चरितादियुक्ता भवन्ति नान्यथेत्याह—

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः ॥
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना ॥ २५ ॥

सूनुरिति ॥ सूनुः पुत्रः सत् चरितमाचरणं यस्य । सत्क्रियावानित्यर्थः । अतिशयेन प्रिया प्रियतमा पत्नी सती पतिव्रता । "सती साध्वी पतिव्रता" इत्यमरः । स्वामी पालकः प्रसादे प्रसन्नतायामूर्ध्वं मुखं यस्य । सर्वदा प्रसादकर्तेत्यर्थः । मित्रं सखा स्निग्धं वात्सल्यादिगुणयुक्तम् । परिजनः परिवारोऽवञ्चकः । मनोऽन्तःकरणं निःशेषेण गतो रागद्वेषादिजन्यक्लेशस्य लवो लेशो यस्मात् । आकारो हस्तपादाद्यवयवो मूर्तिर्वा रुचिरः सुन्दरः । विभव ऐश्वर्यं स्थिरश्चिरकाल-

स्थायी । मुखमाननं विद्ययाऽवदातं शुद्धम् । "अवदातः सिते पीते शुद्धे" इत्यमरः । इदं पूर्वोक्तं सर्वं पिष्टपं जगद्धरत्युद्धरति तच्छीलस्तस्मिन् ताच्छील्ये णिनिः । "जगत्स्यात्पिष्टपे क्लीबं वायौ ना जङ्गमे त्रिषु" इति मेदिनी । "विष्टप" इत्यपि पाठः । इष्टं ददातीतीष्टदो हरिस्तस्मिन् तुष्टे संतुष्टे सति देहिना शरीरिणा सम्यक्प्राप्यते । नान्यथेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

प्राणिहिंसाद्यकरणमेव कल्याणमार्ग इत्याह—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥ २६ ॥

प्राणाघातादिति ॥ प्राणस्य स्वस्यान्यस्य वाऽघातो हननं तस्मान्निवृत्तिर्निवर्तनं, परेषां धनस्य द्रव्यस्य हरणे संयमश्चित्तनिग्रहः । परधनहरणे प्रवृत्त्यभाव इत्यर्थः । सत्यवाक्यं यथार्थभाषणं, काले पुण्यकाले शक्त्या यथाशक्त्या प्रदानं ब्राह्मणादिभ्यो दानं, परेषामन्येषां युवतिजनस्य तरुणीजनस्य कथासु मूकभावस्तूष्णींभावः । वाचा परस्त्रीकथानुद्घाटनमित्यर्थः । तृष्णाया आशायाः स्रोतः प्रवाहस्तस्य विभङ्गो नाशः, गुरुषु महाजनेषु विनयो नम्रता, सर्वभूतेषु सर्वप्राणिष्वनुकम्पा दया, एषः सर्वशास्त्रेषु अनुपहतोऽकुण्ठितः । अप्रतिषिद्ध इति यावत् । विधिर्विधानं यस्यैतादृशः सामान्यः सर्वलोकसाधारणः श्रेयसां कल्याणानां पन्था मार्गो नान्य इत्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् । "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" इति तल्लक्षणात् ॥

नीचमध्यमोत्तमानां क्रियारम्भे वैचित्र्यमाह—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २७ ॥

प्रारभ्यत इति ॥ नीचैरज्ञैर्विघ्नस्यान्तरायस्य "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः । भयं भीतिस्तेन, कर्म न प्रारभ्यते खलु निश्चयेन । मध्या मध्यमाः प्रारभ्य प्रारम्भं कृत्वा विघ्नेन विहताश्चालिताः सन्तो विरमन्ति विरामं प्राप्नुवन्ति । कर्म न कुर्वन्तीत्यर्थः । उत्तमजनास्तु प्रारभ्यारम्भं कृत्वा विघ्नैः पुनःपुनर्वारं-

वारं प्रतिहन्यमानाश्चाल्यमाना अपि न परित्यजन्ति । समये समये विघ्ने प्राप्तेऽपि तन्निवृत्युपायं कुर्वन्ति । नारब्धं त्यजन्तीत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

साधुवदेव वर्तितव्यं नासाधुवदिति बोधयितुं साध्वाचारप्रशंसामाह—

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ॥
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ २८ ॥

असन्त इति ॥ असन्तो दुर्जनाः, अभ्यर्थितुं याचितुं योग्या अभ्यर्थ्या न । कृशं क्षीणं धनं यस्य स सुहृदपि न याच्यो न प्रार्थनीयः । प्रिया हिता न्यायादनपेताऽरहिता न्याय्या वृत्तिर्जीविका, मलिनं निन्द्यं कर्म असोः प्राणस्य भङ्गो नाशस्तस्मिन्नप्यसुकरं दुष्करम् । प्राणभङ्गसमयेऽपि निन्द्यकर्मानाचरणमित्यर्थः । विपदि विपत्काले उच्चैरुन्नतं स्थेयम् । स्वविपदप्रकटनमित्यर्थः । महतां पदं स्थानमनुविधेयमनुसरणीयम् । इदं पूर्वोक्तं षड्रूपं विषममतिकठिनं असिधारेव खड्गधारेव तीक्ष्णतरं व्रतमाचरणं सतां केनोद्दिष्टमुपदिष्टं न केनापि । अपि तु तेषां स्वभावसिद्धमित्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

अतिदुःखमापन्नोऽपि मानी महाजनः स्वमहत्त्वविरुद्धं नीचं कर्म न करोतीति सिंहान्योक्त्याह—

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽतिकष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥ २९ ॥

क्षुत्क्षामोऽपीति ॥ क्षुधा क्षुधया क्षामो दुर्बलोऽपि जरया कृशोऽपि शिथिलः शैथिल्यं प्राप्तः प्राणः शक्तिर्यस्य । "शक्तिः पराक्रमः प्राणः" इत्यमरः । कष्टां दशामापन्नः प्राप्तोऽपि विपन्ना नष्टा दीधितिर्दीप्तिर्यस्य सोऽपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि नाशोन्मुखेषु सत्स्वपि मत्ता मदोन्मत्ताश्च ते इभेन्द्रा गजेन्द्रास्तेषां विभिन्ना विदारिता ये कुम्भा गण्डस्थलानि तत्संबन्धी यः कवलो मांसपिण्डस्तस्य ग्रासो ग्रसनं । भक्षणमिति यावत् । तस्मिन्नेव बद्धैका मुख्या स्पृहा वाञ्छा येन एतादृशो माने महान्तस्तेषामग्रेसरः केसरी सिंहो जीर्णं विरसं तृणमत्ति खादति किम् । अपि तु नेत्यर्थः । मानी सिंहः स्वभक्षणीयं मांसं विहाय प्राणान्तसमयेऽपि यथा जीर्णतृणादनरूपं नीचं कर्म न करोति तथा मानि-

भिर्महद्भिरपि प्राणान्तसमयेऽपि नीचं कर्म न कर्तव्यमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

मानी जनः पूर्वोक्तप्रकारेणाचरन्नपि स्वसत्त्वानुरूपं फलं प्राप्नोतीति श्वसिंहदृष्टान्तेनाह—

स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये ॥
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥३०॥

स्वल्पमिति ॥ स्नायुरङ्गप्रत्यङ्गसन्धिबन्धनशिराविशेषः वसा मेदश्च ताभ्यामवशेषमवशिष्टमत एव मलिनं निर्मांसं मांसरहितमपि स्वल्पं गोर्वृषभस्यास्थि लब्ध्वा श्वा कुक्कुरो यद्यपि परितोषं संतोषमेति प्राप्नोति परंतु तदस्थि तस्य शुनः क्षुधायाः शान्तये निवृत्त्यर्थं न भवति । सिंहस्तु अङ्कमुत्सङ्गमागतमपि जम्बुकं शृगालम् "शृगालजम्बुकक्रोष्टु" इत्यमरः। तुच्छत्वबुद्ध्या त्यक्त्वा द्विपं गजमेव निहन्ति । कृच्छ्रं दुःखं गतोऽपि सर्वो जनः सत्त्वस्य स्वस्वभावस्यानुरूपमनुकूलं फलं वाञ्छति इच्छत्येव । "सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः" इति मेदिनी । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥

क्षुद्रजनस्य तुच्छत्वं महाजनस्य धीरत्वं श्वगजदृष्टान्तेन दर्शयन्नाह—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ॥
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ३१ ॥

लाङ्गूलेति ॥ श्वा कुक्कुरः पिण्डं ग्रासं ददातीति पिण्डदस्तस्य पुरतः पिण्डलोभेन लाङ्गूलस्य पुच्छस्य चालनं तथा अधोऽधोभागे चरणयोः पादयोरवपातः पातनं तथा भूमौ पृथिव्यां निपत्य पतित्वा वदनं मुखमुदरं च तयोर्दर्शनं च कुरुते । गजपुङ्गवो गजश्रेष्ठस्तु धीरं गभीरं यथा स्यात्तथा विलोकयत्यवलोकयति चाटुशतैः प्रियवाक्यशतैः प्रार्थितः सन् भुङ्क्ते । एवं क्षुद्रजनः श्ववल्लोभेन मुखचालनादि करोति । महाजनस्तु गाम्भीर्येण पश्यन्नत्यादरेण प्रियवचनश्लाघितः सन् भुङ्क्ते इति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

वंशोन्नतिकारक एव पुरुषो गरीयान्नान्य इत्याह—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥ ३२ ॥

परिवर्तिनीति ॥ परिवर्तिन्यागमापायवति संसारे को न जायते जातः को वा न मृतः परंतु येन जातेनोत्पन्नेन वंशः कुलं समुन्नतिमुत्कर्षं याति प्राप्नोति स जातः अन्यो जातोऽप्यजातप्राय इत्यर्थः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

महतां द्विधा वर्तनं पुष्पस्तबकदृष्टान्तेनाह—

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ॥
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥ ३३ ॥

कुसुमेति ॥ कुसुमानां पुष्पाणां स्तबको गुच्छः। समूह इति यावत्। तस्येव प्रशस्तं मनोऽस्यास्तीति तस्य विचारवतः पुरुषस्य द्वाववयवौ यस्याः सा द्वयी द्विप्रकारिका "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" इत्ययच् "टिड्ढा—" इति ङीप्। वृत्तिर्वर्तनं स्थितिरित्यर्थः। द्विप्रकारत्वं च श्रद्धालौ श्रोतरि सति हितोपदेशकरणमेकम्। तदभावे तूष्णींभावेन स्थितिर्द्वितीयम्। कथम्। यथा सति ग्रहीतरि कुसुमस्तबकेन सर्वलोकस्य मूर्ध्नि मस्तकेऽवशीर्यते अथवा ग्रहीतरि असति वने विशीर्यते नश्यति तथा मनस्विनः श्रोतरि सति हितोपदेशकरणेन पूज्या भवन्त्यन्यथा तूष्णींभावेनावतिष्ठन्त इति भावः। अयमेव श्लोकः पाठभेदेन चतुरधिकशतश्लोके दृश्यते अर्थतात्पर्यं त्वेकमेव परंतु बहुपुस्तकेषु दृष्टत्वात्तथैव स्थापितो न तु निष्कासितः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

दुर्जनः स्वपराक्रमख्यापनार्थमतितेजस्विनं पुरुषं पीडयति नाल्पतेजसमिति राहुदृष्टान्तेनाह—

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्करौ
भ्रान्तः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥ ३४ ॥

सन्त्यन्ये इति ॥ बृहस्पतिर्गुरुः प्रभृतिर्मुख्यो येषां ते पञ्च वा षड्वा पञ्चषाः। "संख्ययाव्ययासन्ना" इति बहुव्रीहिः "बहुव्रीहौ संख्येये" इति समासान्तो डच्। अन्येऽपि संभाविता मान्या ग्रहाः सन्ति, परंतु शीर्षमेव मस्तकमेवाव-

शेषावशिष्टाऽऽकृतिराकारो यस्य स दानवपतिरेव राहुर्यतो विशेषोधिको यो विक्रमः पराक्रमस्तस्मिन् रुचिः प्रीतिर्यस्य तथाभूतोऽतस्तान् प्रति न वैरायते वैरं न कुरुते "शब्दवैरकलह-" इति क्यङ् । किंतु भ्रान्तो भ्रमणं कुर्वन् "गत्यर्थ-" इत्यादिना कर्तरि क्तः । भासं दीप्तिं कुरुतस्तौ द्वौ दिनस्य दिवसस्येश्वरः सूर्यः निशाया रात्र्याः प्राणेश्वरश्चन्द्रस्तावेव पर्वणि पूर्णिमायाममावास्यायां च ग्रसते भक्षयते । पीडयतीति यावत् । पश्येति जनं प्रति संबोधयति । यथाऽन्यान् ग्रहान्विहाय राहुरतितेजस्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ पीडयति तथा दुर्जनोऽप्यल्पं जनं विहाय स्वपराक्रमख्यापनार्थं तेजस्विनं पुरुषं पीडयतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

महतां चरित्रं निर्मर्यादमस्तीत्याह—

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३५ ॥

वहतीति ॥ शेषः सहस्रशीर्षोऽनन्तः फणानां फटानां फलकं पट्टिका तस्यां स्थिता ताम् । भुवनस्य जगतः श्रेणीं पङ्क्तिं वहति धारयति । स शेषः कमठपतिना कूर्मरूपेण भगवता मध्येपृष्ठं । पृष्ठस्य मध्ये इत्यर्थः । सदा सर्वकालं विधार्यते । तमपि कमठपतिं पयोधिः समुद्रः अनादरादनायासेन क्रोडमुत्सङ्गः "क्रोडमङ्कस्तथोत्सङ्गः" इति हलायुधः । तस्याधीनं स्वाधीनं कुरुते । अभ्यन्तरे धारयतीत्यर्थः । अहहेत्याश्चर्ये । महतां चरित्रस्य विभूतय ऐश्वर्याणि निःसीमानो निरवधयः सन्तीति । अनेन सर्वथा तृष्णात्याग उचित इति व्यज्यते । हरिणी वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

क्लेशयुक्तं पितरं विहायान्यत्र स्वप्राणरक्षाकरणं नोचितमित्याह—

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ ३६ ॥

वरमिति ॥ पितरि हिमाद्रौ क्लेशस्य दुःखस्य विवशेऽधीने सति पयसां पत्युः समुद्रस्य पयसि जले तुषाराद्रेर्हिमालयस्य सूनोर्मैनाकस्यासौ संपातः पतनं नोचितो न योग्यो भवति । किंतु उद्गच्छन्यो बहलोऽतिशयितो दहनोऽग्निस्तस्यो-

द्गार उद्गिरणं तेन गुरुभिः । "रुचिभिः" इति पाठे रुचिः कान्तिर्येषां तैरित्यर्थः । मदेन सहितः समदो यो मघवानिन्द्रस्तेन मुक्तं त्यक्तं कुलिशं वज्रं तस्य प्रहारैः पक्षाणां छेदश्छेदनं वरं श्रेष्ठो भवतीति । अनेन स्वस्य आपत्प्राप्तावप्यापद्गतस्य पितुस्त्यागो नोचित इति ध्वन्यते । शिखरिणी वृत्तम् । लक्षणं पूर्वमुक्तमेव ॥

तेजस्वी चेतनः पुरुषः परकृतविकारं न सहत इति सूर्यकान्तमणिदृष्टान्तेनाह—

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ॥
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥ ३७ ॥

यदचेतनोऽपीति ॥ यद्यस्मादचेतनोऽपि चेतनारहितोपि इनकान्तः सूर्यकान्तमणिः सवितुः सूर्यस्य पादैः किरणैः पक्षे चरणैः स्पृष्टः सन् प्रज्वलति प्रदीप्तो भवति तत्तस्मात्तेजस्वी पुरुषः परेण कृता या विकृतिर्विकारस्तां कथं सहते । न सहत इत्यर्थः । आर्या वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

पराक्रमोद्दीपकस्य तेजसो हेतुर्वयो न किंतु स्वभाव एवेति सिंहशिशुदृष्टान्तेनाह—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ॥
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥ ३८ ॥

सिंह इति ॥ शिशुरपि बालोऽपि सिंहः प्रशस्ताः कपोलाः कपोलभित्तयः "प्रशंसावचनैश्च" इति समासः । भित्तिशब्दः प्रशस्तवचनः । तदुक्तं गणरत्नमहोदधौ । "मतल्लिकोद्भमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः" इति । यद्वा प्रदेशवाचकः । "भित्तिः प्रदेशे कुड्ये च" इति विश्वः । मदेन गजमदेन मलिनाः कपोलभित्तयः प्रशस्तकपोलाः कपोलप्रदेशा वा येषां तेषु गजेषु निपतति वधाय चलति इयं सत्त्ववतां बलवतां प्रकृतिः स्वभाव एव । वयोऽवस्था तेजसो हेतुर्न खलु निश्चयेन । आर्या वृत्तम् ॥

द्रव्यं विना सर्वे गुणास्तृणवत्तुच्छप्राया इत्याह—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ॥
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥ ३९ ॥

जातिरिति ॥ जातिर्ब्राह्मणादिस्वजाती रसातलं यातु गच्छतु । गुणानां

गणः समूहस्तस्य रसातलस्याप्यधोऽधोभागे गच्छतात् । शीलं सद्वृत्तम् "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः । शैलस्य पर्वतस्य तटात्पततु । अभिजनो वंशः । "संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ" इत्यमरः । वह्निनाऽग्निना संदह्यतां भस्मीक्रियताम् । "दह भस्मीकरणे" धातुः । शौर्ये शूरत्वरूपे वैरिणि शत्रौ वज्रं कुलिशमाशु शीघ्रं निपततु । एवं सर्वस्य हानिर्भवतु परंतु नोऽस्माकं केवलमर्थो धनमस्तु । एकेन मुख्येन येन द्रव्येण विना इमे पूर्वोक्ताः समस्ता गुणास्तृणस्य लवो लेशस्तत्प्रायास्तत्सदृशा अतितुच्छा भवन्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य सर्वापेक्षया श्रेष्ठत्वमाह द्वाभ्याम्—

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ॥
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्

तानीति ॥ सकलानीन्द्रियाणि वागादीनि तान्येव पूर्वसिद्धान्येव । एवमग्रेऽपि । कर्म क्रिया तदेव । अप्रतिहताकुण्ठिता बुद्धिः सैव. वचनं वाक्यं तदेव, स एव पुरुषः अर्थस्य द्रव्यस्योष्मा तेन विरहितः सन् क्षणेन क्षणमात्रेणान्य इव भवतीति एतत् विचित्रमाश्चर्यम् । एकेनार्थेन विना सर्वाणीन्द्रियादीनि व्यर्थानि भवन्ति । तस्मात्पुरुषेणार्थोऽवश्यं संपादनीय इति भावः । अनेन व्यतिरेको दर्शितः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

किंच अन्वयमाह—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ॥
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥ ४१ ॥

यस्येति ॥ यस्य नरस्य वित्तं द्रव्यमस्ति स एव नरः कुलीनः सत्कुलोत्पन्नः स एव पण्डितः बुद्धिमान् स एव श्रुतवान् शास्त्रज्ञः "श्रुतमाकर्णिते शास्त्रे" इति मेदिनी । स एव गुणं जानातीति गुणज्ञः गुणवेत्ता । स एव वक्ता वाग्मी । स च दर्शनीयो दर्शनयोग्यः । रूपवानिति यावत् । सर्वे पूर्वोक्ता गुणाः काञ्चनं सुवर्णमेवाश्रयन्ति । इदं सर्वेषां धनानामुपलक्षणम् । धनसत्त्वे एव सर्वे गुणाः प्रकाशन्त इत्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् । "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति ॥

राजादयो दौर्मन्त्र्यादिभिर्नश्यन्तीत्याह—

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥

ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ ४२ ॥

दौर्मन्त्र्यादिति ॥ नृपती राजा दुर्मन्त्रिणो भावो दौर्मन्त्र्यं तस्मात् । दुर्मन्त्रसेवनादित्यर्थः । नश्यति स्वराज्याद्भ्रष्टो भवति । यतिः संन्यासी सङ्गात्स्त्र्यादिसङ्गात् नश्यति । एवमुत्तरत्रापि नश्यतीति संबध्यते । सुतः पुत्रो लालनाच्छिक्षाद्यकरणादित्यर्थः । विप्रो ब्राह्मणोऽनध्ययनात्स्वाध्यायापठनात्, कुलं प्रतिष्ठितवंशः कुतनयात्कुमार्गगामिनः पुत्रात्, शीलं सद्वृत्तम् "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः । खलस्य दुर्जनस्योपासनं सेवनं तस्मात्, ह्रीर्लज्जा मद्यान्मदिरायाः, कृषिः प्रसिद्धा अनवेक्षणाद्वारंवारमनवलोकनात्, स्नेहः प्रेम प्रवासाश्रयादन्यत्र बहुदिवसवासात्, मैत्री मित्रत्वमप्रणयादविनयात्, समृद्धिरैश्वर्यमनयादनीतेः, धनं त्यागादपात्रेषु दानात्प्रमादादनवधानान्नश्यतीति । अनेन राजादिभिर्दुर्मन्त्र्यादिसेवनं न कार्यमिति ध्वन्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

दानभोगाभ्यां विहीनस्य धनस्य सर्वथा नाशो भवतीत्याह—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ॥
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ ४३ ॥

दानमिति ॥ दानं सत्पात्रेषु, भोगः स्वाश्रितैः सह, नाशश्चोरादिभ्यः, एतास्तिस्रो वित्तस्य द्रव्यस्य गतयो भवन्ति । तत्र प्रकारत्रैविध्यमाह । यः पुरुषः सत्पात्रेभ्यो न ददाति स्वयं न भुङ्क्ते उपभोगं न कुरुते तस्य पुरुषस्य द्रव्यस्य तृतीया गतिर्नाशो भवति । तस्मात्सति धने पुरुषेण नाशभयाद्दानभोगाववश्यं कर्तव्याविति व्यज्यते । आर्या वृत्तम् ॥

याचकेषु बहुदानं कुर्वन्संपदा क्षीणोऽपि जनो विशेषेण शोभत इति मण्यादिदृष्टान्तोपन्यासपूर्वकमाह—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना-
स्तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥ ४४ ॥

मणिरिति ॥ शाणो घर्षणप्रस्तरस्तत्रोल्लीढो घर्षितः । कृशीकृत इति यावत् । मणिर्हीरकादिः, हेतिना खड्गादिना निहतः कृतक्षतः समरविजयी सङ्ग्रामे जयशीलो योद्धा, मदेन गजमदेन क्षीणो नागो हस्ती, शरदि शरत्काले श्यानानि संकुचितानि । शुष्काणीति यावत् । पुलिनानि वालुकामयप्रदेशा यासु

ताः सरितो नद्यः, कलया षोडशभागेन शेषोऽवशिष्टश्चन्द्रः, सुरते पुरुषेण मृदिता आलिङ्गनचुम्बनादिनोपमर्दिताङ्गी बालललना नवयौवना स्त्री, एवमर्थिषु याचकेषु गलितः संक्रामितो विभव ऐश्वर्यं यैस्ते एवंविधा जनाः । "नृपाः" इत्यपि पाठः । तनिम्ना कार्श्येन । क्षीणत्वेनेति यावत् । अनेन पुरुषेण दानमवश्यं कर्तव्यमिति बोधितमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

वस्तुनो लघुत्वमहत्त्वहेतुरवस्थैव नान्यदित्याह—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्संपूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम् ॥
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयाऽर्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥ ४५ ॥

परिक्षीण इति ॥ कश्चिदेकः पुरुषः परिक्षीणो दरिद्रः सन् यवानां प्रसृतये अर्धाञ्जलिपरिमितधान्यार्थं स्पृहयति स्पृहां करोति । दरिद्रावस्थायां तामेव यवप्रसृतिं महतीं मन्यत इत्यर्थः । स एव पश्चादनन्तरं धनादिभिः संपूर्णः परिपूर्णः सन् धरित्रीं पृथ्वीं तृणसमां तृणतुल्यां गणयति गणनां करोति । धनिकावस्थायां पृथ्वीमपि तुच्छां मन्यत इत्यर्थः । अतो हेतोः अवस्थैव गुरुलघुतया गुरुत्वेन लघुत्वेन च वस्तूनि प्रथयति विस्तारयति संकोचयति च । ननु अर्थेषु स्वरूपतो गुरुत्वं लघुत्वं चास्ति किमवस्थयेत्याशङ्क्याह । धनिनामिति । धनिनामर्थेषु विषये अनैकान्त्यात् स्वरूपतो गुरुत्वलघुत्वयोः परस्परव्यभिचारात् । यश्च स्वरूपतो लघुः स दरिद्रावस्थायां गुरुर्भवति । यश्च स्वरूपतो गुरुः स धनिकावस्थायां लघुर्भवत्यतोऽवस्थैव गुरुत्वलघुत्वकारिणीति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

राज्ञां पृथ्वीपालनप्रकारं बोधयति—

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥ ४६ ॥

राजन्निति ॥ हे राजन्, यदि एतां क्षितिः पृथ्वी तद्रूपां धेनुं दुधुक्षसि दोग्धुमिच्छसि तर्हि तेन दोहनेन यद्वा तेन दुधुक्षाया हेतुनाद्य वत्समिवामुं लोकं पुषाण पोषय । तस्मिंश्च लोके अनिशं निरन्तरं सम्यक् उत्तमप्रकारेण परिपोष्यमाणे सति नानाफलैः सस्यादिभिः कल्पलतेव भूमिः फलति फलं ददाति ।

अनेन पृथ्वीदोहनपूर्वकं प्रजापालनमेव राज्ञा कर्तव्यमिति तं प्रति नीतिर्बोधितेति वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

राजनीतिर्नैकविधा किंत्वनेकविधाऽस्तीति वेश्यादृष्टान्तेन वर्णयति—

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४७ ॥

सत्येति ॥ क्वचित्सत्या सत्यमिश्रा । क्वचिदिति सर्वत्र योजनीयम् । अनृता असत्यमिश्रा, परुषा निष्ठुरा, "निष्ठुरं परुषं ग्राम्यम्" इत्यमरः । प्रियवादोऽस्यामस्तीति प्रियवादिनी । प्रियभाषणयुक्तेत्यर्थः । हिंस्रा घातुका, "शरारुर्घातुको हिंस्रः" इत्यमरः । दयालुर्दयाशीला, अर्थपरा धनतत्परा, वदान्या दानशौण्डा, "स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे" इत्यमरः । नित्यं व्ययो धनापगमो यस्याम् । प्रचुरोऽधिको नित्यं धनागमो धनप्राप्तिर्यस्याम् । वेश्याङ्गनेव पण्यस्त्रीव नृपनीती राजनीतिरनेकरूपाऽनेकप्रकारा अस्ति । समये समये सत्यभाषणादियुक्ता यथा वेश्याऽनेकप्रकारा तथा राजनीतिरप्यनेकप्रकारेति भावः । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥

आज्ञादिषड्गुणा राजपुरुषेऽपेक्षितास्तद्विना तेषां राजाश्रयो व्यर्थ इत्याह—

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च ॥
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥ ४८ ॥

आज्ञेति ॥ दुर्जनानां आज्ञा शासनं "निर्देशः शासनं च सः । शिष्टिश्चाज्ञा" इत्यमरः । कीर्तिर्यशः सर्वदिक्षु, ब्राह्मणानां पालनं रक्षणं, दानं सत्पात्रेभ्यः, भोगः स्रक्ताम्बूलादेः स्वस्मिन्, आपद्भ्यो मित्राणां संरक्षणं च, एते पूर्वोक्ताः षड्गुणा येषां न प्रवृत्ता न प्राप्ताः तेषां पार्थिवस्य राज्ञ उपाश्रयेणाश्रयेण कोऽर्थः किं प्रयोजनं । न किमपीत्यर्थः । शालिनी वृत्तम् ॥ "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" इति तल्लक्षणात् ॥

स्वप्रारब्धसंचितमर्थं पुरुषा लभन्ते नाधिकमिति घटदृष्टान्तेनाह—

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ॥

तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥ ४९ ॥

यद्धात्रेति ॥ धात्रा ब्रह्मणा निजभालपट्टे स्वकपाले लिखितं स्तोकं लघु महद्बहु वा यद्धनं तन्मरुस्थलेऽपि निर्जलदेशेऽपि प्राप्नोति । ततो लिखिता-दधिकं मेरौ काञ्चनगिरावपि न प्राप्नोति । तत्तस्मात् धीरो भव धैर्यमालम्ब्य तिष्ठ । वित्तवत्सु धनिषु कृपणां दीनां वृत्तिं जीविकां वृथा व्यर्थं मा कृथा मा कुरु । हे जन । त्वं पश्य । घटः कूपे स्वल्पोदके पयोनिधावपि तुल्यं स्वप्रमा-णानुरूपं जलं गृह्णाति । नाधिकमित्यर्थः । धनेच्छुना पुरुषेण लाभस्य प्रारब्धाधी-नत्वाद्धनिषु कृपणया वृत्त्या न वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

स्वाश्रिते जने तद्दैन्योक्तिप्रतीक्षा न कर्तव्येति मेघान्योक्त्या दर्शयति—

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ॥
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ॥ ५० ॥

त्वमेवेति ॥ हे अम्भोदवर हे मेघश्रेष्ठ, अस्माकं चातकानां कार्पण्योक्तिं दैन्योक्तिं किं प्रतीक्षसे इमे दीना भूत्वा मां प्रार्थयिष्यन्ति तदाऽहं वृष्टिं करो-मीति किमिच्छसि, यतस्त्वमेव चातकानां पक्षिविशेषाणामाधार आश्रयोऽसीति केषां गोचरः प्रत्यक्षं न, किंतु सर्वेषामस्तीति । तस्मात्स्वाश्रितजनदैन्योक्ति-प्रतीक्षाकरणमनुचितमिति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

पुरुषेण कस्यापि पुरतो दीनवचनं न वक्तव्यमिति चातकान्योक्त्या दर्शयति—

रेरे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वे तु नैतादृशाः ॥
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥ ५१ ॥

रेरे चातकेति ॥ रेरे इति वीप्सा नीचसंबोधने । हे चातक हे मित्र, सावधानमनसा अव्यग्रचित्तेन क्षणं क्षणमात्रं श्रूयताम् । हि यस्माद्गगने अम्भो जलं ददातीत्यम्भोदा मेघा बहवः सन्ति, परंतु सर्वे एतादृशाः करुणा-वन्तो न । कुतः केचिद्वृष्टिभिर्वर्षणैर्वसुधां पृथ्वीमार्द्रयन्ति जलयुक्तां कुर्वन्ति । केचिद्वृथा व्यर्थं गर्जन्ति गर्जनां कुर्वन्ति न वर्षन्ति । तस्माद्यं यं मेघं पश्यसि तस्य तस्य पुरतोऽग्रे दीनं वचो वाक्यं मा ब्रूहि मा वद । अनेन ये दान-

शीलास्तान्प्रति याचना कर्तव्या नेतरान्प्रतीति सूचितमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

दुर्जनस्य स्वभावसिद्धलक्षणमाह—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा ॥

स्वजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ५२

अकरुणेति ॥ सर्वप्राणिषु अकरुणत्वं निर्दयत्वम्। अकारणविग्रहः कारणं विना वैरम्। परस्य धने द्रव्ये तथा परस्य योषिति स्त्रियां स्पृहेच्छा। स्वजनाः बन्धुजनाश्च तेषु सहिष्णोर्भावः सहिष्णुता न सहिष्णुता असहिष्णुता असहनता। दुरात्मनां दुर्जनानामिदं पूर्वोक्तं दोषचतुष्टयं प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धम्। नान्यतः प्राप्तमित्यर्थः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति तल्लक्षणात् ॥

विद्यालङ्कृतस्यापि दुर्जनस्य सङ्गो न कर्तव्य इति सर्पदृष्टान्तेनाह—

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ॥

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥ ५३ ॥

दुर्जन इति ॥ दुर्जनोऽसज्जनो विद्ययाऽलङ्कृतोपि सन् परिहर्तुं त्यक्तुं योग्यः परिहर्तव्योऽस्ति। न सहवासयोग्य इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। असौ प्रसिद्धः सर्पः मणिना भूषितोऽपि भयं करोतीति भयंकरः "मेघर्तिभयेषु कृञः" इति खच्। "अरुर्द्विष—" इति मुम्। न किं, अपि तु भयंकर एव। मणिना भूषितोऽपि सर्पो यथा भयंकरस्तथा विद्वानपि दुर्जनोऽतस्तस्य सङ्गः सर्वथा न कर्तव्य इति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

गुणिनां सर्वे गुणा दुर्जनैर्दोषत्वेनैव गण्यन्ते इति वक्तुं तत्तद्गुणेषु तत्तद्दोषारोपप्रकारमाह—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं

शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ॥

तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरिता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे

तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ५४ ॥

जाड्यमिति ॥ ह्रीर्लज्जास्तीति तस्मिन्पुरुषे जडस्य भावो जाड्यमारोपयन्तीति शेषः। एवमेवोत्तरत्रापि यथायथं बोध्यम्। व्रते रुचिः प्रीतिर्यस्य तस्मिन्पुरुषे दम्भः परप्रतारणार्थमनुष्ठानम्। शुचौ शुद्धपुरुषे कितवस्य धूर्तस्य

भावः कैतवं धूर्तता, शूरे शौर्यादिगुणयुक्ते निर्घृणता निर्दयता ऋजौ सरले विमतिता बुद्धिहीनता, प्रियमालपति तच्छीले पुरुषे दैन्यं दीनता, तेजस्विनि तेजोविशिष्टे अवलिप्तता गर्विष्ठता, "अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने भूषणेऽपि च" इति मेदिनी। वक्तरि वचनपटौ निन्दितमुखमस्य तस्य भावो मुखरता अबद्धमुखरता । अबद्धवक्तृत्वमिति यावत् । "दुर्मुखे मुखराबद्धौ" इत्यमरः । स्थिरे निश्चले अशक्तिः शक्तिराहित्यम् । तत्तस्मात् गुणिनां को नाम स गुणो भवेत् । यो दुर्जनैर्दुष्टजनैर्नाङ्कितोऽनारोपितदोष इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

हेयोपादेयतया दोषान्गुणांश्च दर्शयति—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ॥
सौजन्यं यदि किं निजैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥ ५५ ॥

लोभश्चेदिति ॥ लोभः प्राप्तेप्यर्थेऽधिकप्राप्तीच्छा चेत् अगुणेन गुणराहित्येन किम् । एकस्मिँल्लोभे सति सर्वगुणानां व्यर्थत्वादित्यर्थः । तदुक्तं भागवते "यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः । लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्" इति । पिशुनस्य दुर्जनस्य भावः पिशुनता दुर्जनता । "पिशुनो दुर्जनः खलः" इत्यमरः । सर्वेषां पापानां पिशुनतायामेवान्तर्भावादित्यर्थः । सत्यं यथार्थभाषणं चेत्तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना किम् । सत्येनैव कृच्छ्रादिफलप्राप्तिरित्यर्थः । तदुक्तं श्रुतौ "सत्यं परं परꣳ सत्यꣳ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सताꣳ हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते । सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति" इति । यदि मनोन्तःकरणं शुचि शुद्धं चेत्तीर्थेन तीर्थस्नानेन किम् । तीर्थस्नानजन्यफलस्य तेनैव जननादित्यर्थः । सुजनस्य भावः सौजन्यं यदि चेत् निजैरात्मीयैः किम् । सुजनतया सर्वेषामात्मीयत्वसंपादनादित्यर्थः । "गुणैः" इति पाठे इतरैर्गुणैरित्यर्थः । सौजन्येनैवेतरगुणानां कार्यकरणादित्यर्थः । यदि सुष्ठु महिमा माहात्म्यम् । ऐश्वर्यमिति यावत् । चेत् मण्डनैरितरभूषणैः किम् । तस्यैव सर्वभूषणकार्यकारित्वादित्यर्थः । यदि सद्विद्या उत्तमविद्या चेत् धनैः किम् । सर्वधनेषु विद्याधनस्य प्राधान्यादित्यर्थः । यद्यपयशोऽपकीर्तिश्चेन्मृत्युना किम् । तस्यैव मृत्युकार्यकारित्वादित्यर्थः । पूर्वोक्तं वृत्तम् ॥

दुष्परिहराणि मानसिकानि दुःखानि कथयितुं तानि गणयित्वा दर्शयति—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥ ५६ ॥

शशीति ॥ शशी चन्द्रो दिवसे धूसरः प्रभाहीनः, कामिनी स्त्री गलितं नष्टं यौवनं यस्याः सा, सरः सरोवरं विगतं वारिजं कमलं यस्मात्तत्, शोभना आकृतिः करचरणाद्यवयवो यस्य तस्य मुखमाननं न विद्यन्ते अक्षराणि वर्णा यस्मिंस्तत् । अक्षररहितमित्यर्थः । प्रभुः स्वामी धने परायणस्तत्परः, सज्जनः साधुजनः सततं निरन्तरं दुर्गतो दारिद्र्यं प्राप्तः खलो दुर्जनः नृपस्य राज्ञोऽङ्गने चत्वरे गतः प्राप्तः, "अङ्गनं चत्वराजिरे" इत्यमरः । एतानि सप्त शल्यानि मे मनसि वर्तन्ते । पृथ्वी वृत्तम् । लक्षणं पूर्वमुक्तमेव ॥

अत्यन्तकोपाविष्टानां राज्ञां स्वीयः कोऽपि नास्तीत्यग्निदृष्टान्तेनाह—

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ॥
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥ ५७ ॥

न कश्चिदिति ॥ चण्डोऽत्यन्तः कोपः क्रोधो येषां तेषां भुवं भुञ्जन्ति ते भूभुजो राजानस्तेषामात्मीयः स्वकीयः कश्चित्कोऽपि नास्ति । नामेति प्रसिद्धम् । तत्र दृष्टान्तः, जुहोति हविर्ददातीति जुह्वानस्तं होतारमपि तेन स्पृष्टः कृतस्पर्शः पावकोऽग्निर्दहत्येव न तु तमुपेक्षत इत्यर्थः । तथा राजानोऽपीति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

सेवाधर्मोऽतिकठिन इत्याह—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ५८ ॥

मौनान्मूक इति ॥ सेवाधर्मः परममत्यन्तं गहनो दुरधिगमोऽस्ति । यतो योगिनामप्यगम्यो ज्ञातुमशक्यः । तमेवाह । मौनान्मौनधारणान्मूकोऽस्तीत्युच्यत इति शेषः । एवमेवाग्रेऽपि । मौनधारिणं पुरुषं मूकत्वेन गणयन्तीत्यर्थः । प्रवचने पटुः समर्थश्चेत् वातं न सहते वातुलो वातरोगी । "वातूलो वातुलोऽपि स्यात्" इति द्विरूपकोशाद्ध्रस्वमध्योऽपि । 'वात सुखसेवनयोः' अदन्तः । 'बाहुलका-

दुलच्' इति रामाश्रमीकारः। "वातुलो वातलेऽपि स्यात्" इति हेमचन्द्रः। अथवा जल्पको वाचालः। वाग्मिनं पुरुषं वाचालत्वेन वातरोगित्वेन वा गणयन्तीत्यर्थः। पार्श्वे पार्श्वभागे वसति चेत् धृष्टोऽविनीतः। "धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च" इत्यमरः। लज्जारहितो वा। "स्यादधृष्टे तु शालीनः" इत्यमरकोशेऽधृष्टशब्देन सलज्जस्य ग्रहणादर्थाद्धृष्टशब्देन निर्लज्जस्य ग्रहणम्। सर्वदा समीपे वसन्तं पुरुषं धृष्टत्वेन निर्लज्जत्वेन गणयन्तीत्यर्थः। दूरतो वसतीति पूर्वस्यैवानुषङ्गः। चेत् तदा अप्रगल्भोऽप्रौढः। दूरे वसन्तं पुरुषमप्रौढत्वेन गणयन्तीत्यर्थः। क्षान्त्या क्षमया युक्त इति शेषः। चेत् भीरुर्भयशीलः। क्षमाशीलं पुरुषं भीरुत्वेन गणयन्तीत्यर्थः। यदि न सहते तदा प्रायशो बाहुल्येन नाभिजातः अज्ञोऽकुलीनो वा। "अभिजातस्तु कुलजे बुधे" इत्यमरः। असहनशीलं पुरुषमज्ञत्वेनाकुलीनत्वेन वा गणयन्तीत्यर्थः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" इति तल्लक्षणात् ॥

नीचसेवाकारिणः सुखिनो न भवन्तीत्याह—

> **उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य**
> **प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ॥**
> **दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य**
> **नीचस्य गोचरगतैः सुखमाप्यते कैः ॥ ५९ ॥**

उद्भासितेति ॥ उद्भासिताः प्रकाशिता अखिलाः खला येन तस्य विशृङ्खलस्य प्रतिबन्धरहितस्य प्राग्जाते पूर्वजन्मनि जातमिदानीं विस्तृतं निजं स्वकीयमधमं निन्द्यं कर्म तस्मिन्वृत्तिर्वर्तनं यस्य, दैवाददृष्टादवाप्तः प्राप्तो विभव ऐश्वर्यं येन तस्य, गुणान् द्वेष्टीति गुणद्विट् तस्यास्य नीचस्य जनस्य गोचरगतैश्चक्षुर्विषयगतैः कैः पुरुषैः सुखमाप्यते प्राप्यते। न कैश्चिदित्यर्थः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥—

खलसज्जनयोर्मित्रता दिनपूर्वार्धपरार्धविभागसंबन्धिच्छायेव संकोचविकासशालिन्यस्तीति दर्शयति—

> **आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ॥**
> **दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ६० ॥**

आरम्भगुर्वीति ॥ आरम्भे गुर्वी महती, क्रमेण क्षयिणी प्रतिक्षणं क्षयशीला, पुरा पूर्वं लघ्वी, पश्चात् वृद्धिरस्या अस्तीति वृद्धिमती, दिनस्य दिवसस्य पूर्वार्धं च परार्धं च ताभ्यां भिन्ना, छायेव खला दुर्जनाश्च सज्जनाः साधवश्च

तेषां मैत्री मित्रता भवति। यथा दिनपूर्वार्धे आरम्भे छाया महती क्रमेण दिनवृद्ध्या क्षयिणी तथा खलानां मैत्री आरम्भे महती परिणामे लघ्वी भवतीत्यर्थः। यथा दिनपरार्धे आरम्भे लघ्वी छाया पश्चाद्दिनह्रासे वृद्धिमती भवति तथा सज्जनानां मैत्री आरम्भे लघ्वी परिणामे क्रमेण महती भवतीति भावः। उपजातिर्वृत्तम्॥

पिशुनाः कारणं विना जगति वैरिणो भवन्तीति लुब्धकधीवरदृष्टान्तपूर्वकं दर्शयति—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्॥
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥ ६१॥

मृगमीनेति॥ जगति लोके लुब्धको व्याधः "व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः" इत्यमरः। धीवरः कैवर्तः "कैवर्ते दाशधीवरौ" इत्यमरः। पिशुनो दुर्जनस्ते च निष्कारणं कारणं विना वैरिणः शत्रवो भवन्ति। केषामित्याकाङ्क्षायामाह मृगमीनेति। तृणं च जलं च संतोषश्च तैर्विहिता वृत्तिर्जीविका येषां तेषाम् "वृत्तिर्वर्तनजीवने" इत्यमरः। मृगा हरिणाश्च मीना मत्स्याश्च सज्जनाः साधवश्च तेषाम्। अत्र लुब्धकधीवरौ दृष्टान्तभूतौ पिशुनश्च दार्ष्टान्तिकभूतः। तथा च यथा लुब्धकधीवरौ मृगमीनयोर्निष्कारणवैरिणौ तथा पिशुनः सज्जनानां निष्कारणवैरी भवतीति तात्पर्यम्। आर्या वृत्तम्॥

वाञ्छादिगुणविशिष्टा नरा अतिपूज्या भवन्तीति दर्शयन्नाह—

वाञ्छा सज्जनसंगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
येष्वेते निवसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥ ६२॥

वाञ्छेति॥ एते पूर्वोक्ता निर्मला निर्दोषा गुणा येषु निवसन्ति तिष्ठन्ति तेभ्यो नरेभ्यो नमो नमस्कारोऽस्तु। ते नरा नमस्कारार्हाः। पूज्या इत्यर्थः। एते के तानाह—वाञ्छेति। सज्जनानां साधूनां संगमे सहवासे वाञ्छा इच्छा, परेषां गुणस्तस्मिन्प्रीतिरभिरुचिः, गुरौ नम्रता नम्रत्वम्, विद्यायां वेदशास्त्रादिविद्यायां व्यसनमासक्तिः, "व्यसनं त्वशुभे सक्तौ" इति मेदिनी। स्वस्याऽऽत्मनो योषिति स्त्रियां रती रागः "रतिः स्मरस्त्रियां रागे" इति हेमचन्द्रः। लोके अपवादो निन्दा तस्माद्भयं भीतिः, "अपवादौ तु निन्दाज्ञे" इत्यमरः। शूलिनि शिवे, "शिवः शूली महेश्वरः" इत्यमरः। भक्तिः परमानुरक्तिः "भक्तिः

परानुरक्तिरीश्वरे" इति शाण्डिल्यसूत्रात्। आत्मनो मनसो दमने निग्रहे शक्तिः सामर्थ्यम्, खले दुर्जने संसर्गः सहवासस्तस्य मुक्तिस्त्याग इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

महतां स्वभावसिद्धान् गुणानाह—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः॥
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥६३॥

विपदीति॥ इदं पूर्वोक्तं सर्वं महात्मनां महतां प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं निष्पन्नम्। न त्वन्यतः शिक्षितमित्यर्थः। इदं किम्। विपदि विपत्तौ धीरस्य भावो धैर्यं धीरत्वम्, अथाभ्युदये ऐश्वर्ये क्षमा क्षान्तिः सदसि सभायां वाक्पटुता वाक्पाटवम्, युधि सङ्ग्रामे विक्रमः पराक्रमः यशसि सत्कीर्तावभिरुचिः प्रीतिः श्रुतौ वेदादिषु व्यसनमासक्तिरिति। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्॥

साधूनां महत्त्वमेव प्रकारान्तरेणाह—

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं नाप्युपकृतेः॥
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥ ६४॥

प्रदानमिति॥ प्रदानं ब्राह्मणेभ्यो दानं प्रच्छन्नं गुप्तम्। न तु प्रसिद्धमित्यर्थः। गृहमुपगते प्राप्तेऽतिथौ संभ्रमविधिरादरविधानम्, "संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि" इति मेदिनी। प्रियं हितं कृत्वा मौनं तूष्णीमवस्थानम्। वाचाऽनुद्घाटनमित्यर्थः। उपकृतेरुपकारस्यापि। अपि समुच्चये सदसि सभायां न कथनं कथनाभावः। स्वयं कृतस्याप्युपकारस्यानुद्घाटनमित्यर्थः। लक्ष्म्याः संपत्तेरनुत्सेकोऽगर्वः। सत्यां संपत्तौ गर्वाभाव इत्यर्थः। परेषां कथाः निरभिभवोऽभिभवरहितः सारः सारांशो यासु ताः। "चिरविभवसाराः" इति पाठे चिरं विभव एव सारो यासु ताः। इदं पूर्वोक्तं सतां विषममसिधाराव्रतं केनोद्दिष्टमिति। एतस्य व्याख्यानमष्टाविंशतिश्लोके कृतमस्ति। शिखरिणी वृत्तम्। लक्षणं तूक्तमेव॥

सत्पात्रे दानाद्येव महतां भूषणं नान्यदिति दर्शयति—

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम्॥
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम्॥ ६५॥

करे इति ॥ इदं पूर्वोक्तं ऐश्वर्येण विनापि ऐश्वर्यमन्तरापि प्रकृत्या स्वभावेन महान्तस्तेषां मण्डनं भूषणं नान्यदित्यर्थः । इदं किम् । करे हस्ते श्लाघ्यः स्तुत्यस्त्यागः सत्पात्रे दानं तदेव हस्तभूषणम् । न तु कैतवादिभ्यो दानमित्यर्थः । एवमुत्तरत्राऽपि बोध्यम् । शिरसि मस्तके गुरोः पादयोः प्रणयिता नम्रता । गुरुपादयोर्मस्तकस्य नम्रीकरणमित्यर्थः । मुखे सत्या यथार्था वाणी, भुजयोर्बाह्वोर्विजयि जयशीलमतुलमनुपमं वीर्यं बलम्, हृदि अन्तःकरणे स्वच्छा निर्मला वृत्तिर्वर्तनम्, अधिगतं प्राप्तमेकं मुख्यं व्रतमीश्वरप्राप्तिचिन्तनरूपो नियमः स एव तस्य फलं वा येन तत् एवंविधं श्रुतं शास्त्राद्यध्ययनम्, शास्त्राध्ययनस्य मुख्यं फलमीश्वरज्ञानमिति तात्पर्यम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥

संपदापदोर्महतामन्तःकरणस्थितिमाह—

संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ ६६ ॥

संपत्स्विति ॥ महतां चित्तमन्तःकरणं संपत्सु संपत्तिषु उत्पलवत्कमलवत्कोमलं मृदु भवति, उत्सेकरहितमित्यर्थः । आपत्सु च महांश्चासौ शैलः पर्वतस्तस्य शिलानां संघातः समूहस्तद्वत्कर्कशं कठिनं विपत्काले धीरत्वं भजत इत्यर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

संसर्गवशादेव गुणवैचित्र्यं भवतीत्युदकदृष्टान्तेन दर्शयति—

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामाऽपि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ॥
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥ ६७ ॥

संतप्तेति ॥ संतप्ते अयसि लोहे संस्थितस्य पयसो जलस्य नामाऽपि न ज्ञायते, "श्रूयते" इति पाठेऽपि स एवार्थः । संतप्तलोहसंपर्काज्जलं समूलं नश्यतीत्यर्थः । तदेव जलं नलिन्याः कमलिन्याः पत्रे पर्णे स्थितं सन्मुक्ताकारतया राजते शोभते । नलिनीपत्रसंसृष्टं तदेव मौक्तिकवद्भासत इत्यर्थः । तदेव स्वात्यां स्वातीनक्षत्रे सागरे समुद्रे या शुक्तिस्तस्या मध्ये पतितं सन्मौक्तिकं जायते । शुक्तिसंसर्गात्तदेव मौक्तिकं भवतीत्यर्थः । एवं प्रायेण प्रायशोऽधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतः सहवासाज्जायते । यथा तप्तलोहसंसर्गादेकस्यैवोदकस्य परिणामे वैचित्र्यं भवति तथाऽधमादिसहवासाद्गुणवैचित्र्यं भवति ।

तस्मात्पुरुषैरुत्तमसंसर्गः कर्तव्यो नाधममध्यमयोरिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

आचरणवशात्पुत्रादिलक्षणमाह—

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ॥
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ ६८ ॥

यः प्रीणयेदिति । यत् एतत्पूर्वोक्तं त्रयं जगति लोके पुण्यकृतः सुकृतिनो लभन्ते प्राप्नुवन्ति नान्य इत्यर्थः । एतत्त्रयं किम् । यः सुचरितैः शोभनाचरणैः पितरं जनकं प्रीणयेत्संतोषयेत्स एवं पुत्रो नान्य इत्यर्थः । यद्भर्तुरेव हितं प्रियमिच्छति तदेव कलत्रं भार्या नान्येत्यर्थः । "कलत्रं श्रोणिभार्ययोः" इत्यमरः । यदापदि विपत्तौ सुखे च समा समाना क्रिया यस्य तदेव मित्रं नान्यदित्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गभेदेन मुख्यान्देवादीनेव सुखहेतूनाह—

एको देवः केशवो वा शिवो वा ह्येकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ॥
एको वासः पत्तने वा वने वा ह्येका भार्या सुन्दरी वा दरी वा ॥६९॥

एक इति ॥ केशवो विष्णुर्वाऽथवा शिवः शंकरो वा एको मुख्यो देवो ज्ञेय इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि यथायोग्यं बोध्यः । हिः पादपूरणे । प्रवृत्तिमार्गे निवृत्तिमार्गे चोभयोरपि सुखजनकत्वादित्यर्थः । भूपती राजा वा यतिः संन्यासी वा एकं मुख्यं मित्रं नान्यदित्यर्थः । उभयत्रोभयोर्मित्रकार्यकारित्वादिति भावः । पत्तने नगरे वा वनेऽरण्ये वा एको मुख्यो वासो वसतिर्नान्यत्रेत्यर्थः । प्रवृत्तौ नगरे निवृत्तावरण्ये वासः सुखद इति भावः । सुन्दरी रमणी वा दरी पर्वतगुहा वा एका मुख्या भार्या पत्नी नान्येत्यर्थः । प्रवृत्तौ सुन्दरस्त्री निवृत्तौ गुहा च सुखदेति भावः । शालिनी वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

नम्रत्वादिगुणैः साधवो जगति पूज्या भवन्तीत्याह—

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्संपादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ॥
क्षान्त्यैवाऽऽक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्मुखान्दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥७०॥

नम्रत्वेनेति ॥ नम्रस्य भावो नम्रत्वं तेनोन्नमन्त उन्नतिं गच्छन्तः । जगति यद्वस्तु नम्रीभूतं तदुन्नतिं न गच्छति सन्तस्तु नम्रीभावेन्नोन्नतिं गच्छन्ति । इदमेवाश्चर्यमिति भावः । एवमेवोत्तरत्रोहनीयम् । तथा परेषां गुणास्तेषां कथनैः स्वान्स्वकीयान् गुणान् ख्यापयन्तः प्रकाशयन्तः सन्तः स्वार्थान्संपादयन्तः । तथा परेषामर्थे विततपृथुतरारम्भयत्नाः आरभ्यन्त इत्यारम्भः कर्तव्यकृत्यानि । महान्तश्च ते आरम्भाश्च महारम्भास्तेषु यत्नः । पृथुतरश्चासौ महारम्भयत्नश्च । विततो विस्तृतः । सर्वत्र प्रख्यात इति यावत् । पृथुतरोऽतिशयेन महान् एतादृशो महारम्भयत्नो येषां ते । परार्थे कर्तव्यकृत्येष्वतिशयेन यत्नकारिण इत्यर्थः । तथा आक्षेपेण भर्त्सनेन रूक्षाण्यक्षराणि वर्णास्तैर्मुखरं वाचालं मुखं येषां तान् "आक्षेपो भर्त्सनाकृष्टिः" इति मेदिनी। दुर्मुखान् दुष्टान् क्षान्त्या क्षमयैव दूषयन्त एतादृशाः आश्चर्येण सहिता चर्या आचरणं येषां ते सन्तः साधवो जगति बहुमता बहुमान्याः सन्तः कस्य नाभ्यर्चनीयाः पूज्या न भवन्ति । अपि तु सर्वेषामपि पूज्या भवन्तीत्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् । "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" इति तल्लक्षणात् ॥

परोपकारिणां स्वभावं वृक्षादिदृष्टान्तपूर्वकं वर्णयति—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमे नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः ॥
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७१॥

भवन्तीति ॥ सत्पुरुषाः सज्जनाः समृद्धिभिरैश्वर्यैरनुद्धता भवन्ति, परोपकारिणां परानुपकुर्वन्ति ते परोपकारिणस्तेषामेष स्वभाव एवास्ति । तत्र दृष्टान्तावाह—तरवो वृक्षाः फलानामुद्गमे प्रादुर्भावे नम्रा भवन्ति, घना मेघाः नवानि नूतनानि अम्बूनि जलानि तैर्भूमिं विलम्बन्ते इति भूमिविलम्बिनो भवन्ति । यथा फलोद्गमादौ वृक्षादयो नम्रीभवन्ति तथा ऐश्वर्यप्राप्तावपि सत्पुरुषा नम्रीभवन्तीति भावः । वंशस्थं वृत्तम् । "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति तल्लक्षणात् ॥

कर्णादीनां शास्त्रश्रवणादिगुणवतामेव श्रेष्ठत्वमित्याह—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ॥
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥ ७२ ॥

श्रोत्रमिति ॥ श्रोत्रं कर्णः श्रुतेनैव शास्त्रश्रवणेनैव विभाति शोभते । अस्योत्तरत्रापि संबन्धः । कुण्डलेन कर्णभूषणेन न शोभते । तथा पाणिर्हस्तो

दानेन विभाति कङ्कणेन न, तथा करुणापराणां कृपापराणां कायो देहः परेषु उपकारैर्विभाति चन्दनेन न विभाति। तस्माच्छास्त्रश्रवणादिकं पुरुषैरवश्यं कर्तव्यमिति भावः। उपजातिर्वृत्तम्। लक्षणं तूक्तमेव॥

सन्मित्रलक्षणमाह—

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति॥
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥ ७३॥

पापादिति॥ सन्तः साधव इदं पूर्वोक्तं सन्मित्रलक्षणं वदन्ति कथयन्ति। इदं किम्। पापात्पापकर्मणो निवारयति निवारणं करोति, हिताय हिताचरणाय योजयते, गुह्यं गोप्यं गूहति गोपयति, गुणान् प्रकटीकरोति, आपद्गतं विपद्गतं काले समये न जहाति न त्यजति, काले द्रव्यादिदानसमये द्रव्यादिकमपि ददाति। वसन्ततिलकावृत्तम्॥

सन्त इतरप्रार्थनानपेक्षया परहितायोद्योगं कुर्वन्तीति सूर्यादिदृष्टान्तेनाह—

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्॥
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिताभिहिताभियोगाः॥ ७४॥

पद्माकरमिति॥ सन्तः स्वयं परहितेऽभिहितः कथितोऽभितो योग उपायो युक्तिर्वा येषां ते। यद्वाऽभियोग उत्साहपूर्वको यत्नो येषां ते एवंविधा भवन्तीति शेषः। "योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु" इत्यमरः। "उत्साहपूर्वके यत्ने योगः" इति कोशान्तरं च। तत्र दृष्टान्तानाह। नाभ्यर्थितोऽन्येन केनाप्यप्रार्थितः दिनकरः सूर्यः पद्मानां कमलानामाकरं समूहं विकचीकरोति प्रफुल्लं करोति। "प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः" इत्यमरः। नाभ्यर्थित इति सर्वत्र संबध्यते। नाभ्यर्थितश्चन्द्रः कैरवाणां कुमुदानां चक्रवालं मण्डलं विकासयति। नाभ्यर्थितो जलधरो मेघोऽपि जलं ददातीति। पूर्वोक्तमेव वृत्तम्॥

क्रियाभेदेन सत्पुरुषादीनां चातुर्विध्यमाह—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥ ७५॥

एत इति ॥ ये स्वार्थं परित्यज्य त्यक्त्वा परेषामर्थान् घटयन्ति त एते सत्पुरुषा उत्तमपुरुषा भवन्तीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । तु पुनः ये स्वार्थस्याविरोधेनानुकूल्येन परार्थमुद्यममुद्योगं बिभ्रति ते सामान्याः । मध्यमा इत्यर्थः । ये स्वार्थाय स्वार्थं कर्तुं परहितं निघ्नन्ति नाशयन्ति तेऽमी मानुषेषु मनुष्येषु राक्षसा राक्षसतुल्या विचारशून्याः । अधमा इत्यर्थः । ये निरर्थकं निष्प्रयोजनं परहितं निघ्नन्ति ते के इति न जानीमहे । अतिनिन्द्या इत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सतां मैत्री संतापप्राप्तावपि न नश्यतीति पयोदृष्टान्तेनाह—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ॥
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥ ७६ ॥

क्षीरेणेति ॥ सतां साधूनां मैत्री ईदृशी क्षीरनीरसदृश्यखण्डिता । अस्तीति शेषः । तदेव विवृणोति । पुरा पूर्वं क्षीरेण दुग्धेनात्मानं गतं प्राप्तमुदकं जलं तस्मै ते प्रसिद्धा अखिलाः संपूर्णा गुणा माधुर्यादयो दत्ताः । अग्निसंयोगे सति क्षीरे तापमवेक्ष्य दृष्ट्वा तेन पयसा जलेन स्वस्यात्मा देहः कृशानावग्नौ हुतः । तत्तापेन शुष्कमभवदित्यर्थः । तत्क्षीरं मित्रस्य जलस्यापदं जलशोषणरूपामापत्तिं दृष्ट्वा पावकमग्निं गन्तुमुन्मन उत्कण्ठितमभवत् । उत्सिक्तमभूदित्यर्थः । तदेव क्षीरं तेन जलेन युक्तं सत् तु पुनः शाम्यति । उत्सिक्तं दुग्धं जलप्रक्षेपेण शाम्यतीति लोकप्रसिद्धम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

महात्मानो बहूनामाश्रयभूता भवन्तीति समुद्रान्योक्त्याह—

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते ॥
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ७७ ॥

इत इति ॥ इत एकस्मिन्प्रदेशे केशवो विष्णुः स्वपिति निद्राति । इतस्तदीयद्विषां भगवद्वैरिणां दैत्यानां कुलं समूहस्तिष्ठतीति शेषः । इतश्च शरणार्थिनां शरणागतानां शिखरिणां पर्वतानां गणाः समूहाः शेरते । इतोऽपि वडवानलो वडवाग्निः समस्ताः सांवर्तकाः प्रलयकारिणोऽग्नयस्तैः सह तिष्ठति । अहो इत्याश्चर्ये । सिन्धोः समुद्रस्य वपुः शरीरं विततं विस्तृतमूर्जि-

तमतिबलिष्ठं भरं भारं सहत इति भरसहं चास्तीति । महात्मानः समुद्रवदु-पकारिणामनुपकारिणां च सर्वेषामाश्रयभूता भवन्तीति भावः । पृथ्वी-वृत्तम् । लक्षणं तूक्तमेव ॥

तृष्णात्यागादिना साधुत्वं भवतीति जनमुपदिशति—

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ॥
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान्गुणा-
न्कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥ ७८ ॥

तृष्णामिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सतां साधूनां लक्षणम् । भवतीति शेषः । ए-तत्किम् । तृष्णां स्पृहां छिन्धि, क्षमां क्षान्तिं भज सेवस्व, पापे पापकर्मणि रतिं रागं मा कृथाः मा कुरु, सत्यं ब्रूहि वद, साधोः सज्जनस्य पदवीं मार्ग-मनुयाहि अनुगच्छ, विद्वज्जनान्सेवस्व, मान्यान्मानार्हान्मानय, विद्विषोऽप्यनुनय सांत्वय, "प्रणतिः स्यादनुनयः प्रणिपातश्च सांत्वनम्" इति हलायुधः । स्वा-न्गुणान्प्रख्यापय, कीर्तिं यशः पालय, दुःखिते दयां कुरु । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

प्रकारान्तरेणापि साधूनां लक्षणं कथयंस्तेषां दौर्लभ्यमाह—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ॥
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ ७९ ॥

मनसीति ॥ मनसि अन्तःकरणे, वचसि वाण्यां, काये देहे, पुण्यं सुकृ-तमेव पीयूषममृतं तेन पूर्णाः परिपूर्णाः । वाक्कायमनोभिः पुण्यमेव संपाद-यन्ति न पापमित्यर्थः । उपकारश्रेणिभिरुपकारपङ्क्तिभिस्त्रिभुवनं प्रीणयन्तस्तर्प-यन्तः । सर्वदोपकारमेव कुर्वन्ति नापकारमित्यर्थः । परेषां गुणास्तेषां परमा-णून् पर्वतीकृत्य तत्प्रमाणान्कृत्वा नित्यं निजहृदि स्वहृदये विकसन्तः प्रकाश-मानाः । सर्वदा परगुणेष्वेव दत्तदृष्टयो न दोषेष्वित्यर्थः । एवंविधाः सन्तः सज्जनाः कियन्तो द्वित्रा विरलाः सन्तीति । मालिनी वृत्तम् ॥

साधवः स्वनिष्ठान्गुणान्परेषु संक्रामयन्तीति मलयान्योक्त्याह—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ॥

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥ ८० ॥

किं तेनेति ॥ यत्राश्रितास्तरवो वृक्षास्ते तरव एव भवन्ति । तेन हेमगिरिणा सुवर्णाचलेन वा अथवा रजताद्रिणा किं, न किमपीत्यर्थः । वयं तु मलयमेव मलयाचलमेव महान्तं मन्यामहे । कुतः । यस्याश्रयेण कङ्कोलाश्च निम्बाश्च कुटजाश्च तेऽपि चन्दनाश्चन्दनवृक्षाः स्युर्भवन्तीति । चन्दनवृक्षवद्भासन्त इत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

धीराः पुरुषा अवश्यसंपाद्यत्वेन निश्चितमर्थं संपादयितुं यत्नं कुर्वन्तोऽमध्ये विघ्नैरभिभूता अपि निश्चितार्थप्राप्तिं विना न विरमन्तीत्यमुमर्थं समुद्रमथनप्रवृत्तदेवदृष्टान्तेनाह—

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ॥
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८१॥

रत्नैरिति ॥ धीरा गम्भीराः पुरुषा निश्चितार्थान्निश्चितमर्थमप्राप्य न विरमन्ति न विश्राम्यन्ति । आरब्धं यत्नं न त्यजन्तीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह रत्नैरिति । देवा महार्हैर्महामूल्यै रत्नैर्न तुतुषुः संतोषं न प्रापुः । अमृतमथनार्थं प्रवृत्ता देवा मध्ये उत्पन्नैरपि रत्नैर्न तुतुषुरित्यर्थः । तथा भीमं घोरं विषं तेन भीतिं भयं न भेजिरे न सिषिवुः । महाभयजनकेनोत्पन्नेन विषेणाऽपि भयं न प्रापुरित्यर्थः । किं तु सुधाममृतं विना विरामं विश्रान्तिं न प्रययुर्न प्रापुः । प्राप्तव्यत्वेन निश्चितार्थरूपसुधाप्राप्तिं विना यत्नं न त्यजन्तीत्यर्थः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥

स्वकार्ये दत्तदृष्टिर्विवेकी पुरुषो मध्ये प्राप्तं सुखदुःखादिकं न गणयेदिति बोधयन्नाह—

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ॥
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥ ८२ ॥

क्वचिदिति ॥ क्वचित्कदाचिद्भूमौ पृथिव्यां शय्या शयनम् । करोतीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनम्, क्वचिच्छाकाहारी शाकभोजी, क्वचिदपि च शाल्योदने रुचिर्यस्य सः । शाल्योदनभोजीत्यर्थः । क्वचित्कन्थां प्रावरणविशेषं धारयतीति धारी तथाविधः, क्वचिदपि च दिव्यं

च तदम्बरं वस्त्र तस्य धरो धारकः, कार्यार्थी कार्येच्छुः, प्रशस्तं मनोऽन्तः-करणं यस्य सः । विवेकीति यावत् । एवंविधः पुरुषः दुःखं न गणयति सुखं च न गणयतीति । शिखरिणी वृत्तम् ॥

सुजनतादिसर्वभूषणापेक्षया शीलमेवोत्तमं भूषणमित्याह—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ८३ ॥

ऐश्वर्यस्येति ॥ सुजनता सौजन्यमैश्वर्यस्य भूषणमलंकरणम् । भवतीति शेषः। एवमुत्तरत्रापि बोध्यम्।सत्यैश्वर्ये सौजन्यं संपादनीयमित्यर्थः । शौर्यस्य वीर्यस्य वाक्संयमो वाङ्नियमः । शौर्ये सति वाचा तदुद्घाटनं न कार्यमित्यर्थः । ज्ञानस्य तत्त्वज्ञानस्योपशमः शान्तिः । तत्त्वज्ञाने सति शान्तिरवश्यं संपादनीयेत्यर्थः । श्रुतस्यानेकशास्त्रश्रवणस्य विनयो नम्रता । शास्त्रश्रवणेन विनयोऽवश्यं संपादनीय इत्यर्थः । वित्तस्य द्रव्यस्य पात्रे सत्पात्रे व्ययो दानम् । सति वित्ते सत्पात्रे दानमवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः । तपसोऽक्रोधः क्रोधराहित्यम् । तपः कुर्वता क्रोधो न कार्य इत्यर्थः । प्रभवितुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्य क्षमा, निग्रहानुग्रहसमर्थेन क्षमाऽवश्यं संपादनीया, धर्मस्य स्वधर्माचरणस्य निर्व्याजता निष्कपटता । दम्भेन स्वधर्माचरणं न कार्यमित्यर्थः । सर्वेषामपि जनानां सर्वेषां गुणानां कारणमिदं शीलं स्वभावः परं श्रेष्ठं भूषणमस्ति । सर्वे एते गुणाः स्वभावानुरोधेन भवन्ति न तु बलात्कारेणेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

धीरपुरुषा निन्दादिभिर्न्यायमार्गान्न प्रच्यवन्तीत्याह—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ८४ ॥

निन्दन्त्विति ॥ नीत्यां नये निपुणाः कुशलाः पुरुषा निन्दन्तु निन्दां कुर्वन्तु, यदि वा अथवा स्तुवन्तु । लक्ष्मीः संपत् यथेष्टं यथेच्छं समाविशत्वागच्छतु वा गच्छतु । अद्यैव मरणं मृत्युरस्तु युगान्तरेऽन्ययुगे वाऽस्तु, तथाऽपि धीरा गम्भीराः पुरुषा न्यायादनपेतोऽरहितस्तस्मात्पथो मार्गात् न्यायमार्गं विहायाऽन्यत्रैकमपि पदं चरणं न प्रविचलन्ति न गच्छन्ति । अनेन सत्स्वपि निन्दादिषु न्यायमार्गो न हातव्य इति सूचितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

प्रारब्धमेव जनस्य वृद्धिक्षययोः कारणमस्तीति सर्पदृष्टान्तेनाह—

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ॥
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥ ८५ ॥

भग्नाशस्येति ॥ हे लोकाः यूयं नृणां मनुष्याणां वृद्धावैश्वर्ये क्षये च दैवमेव कारणं हि निश्चितं पश्यत । एतदेव दृष्टान्तेनोपपादयति । केनचिन्मंत्रिणा सर्पं धृत्वा करण्डे निक्षिप्तस्तस्य स्थितिमाह–करण्डे पीडिता तनुर्देहो यस्यात एव भग्ना नष्टा आशा बहिर्निष्क्रमणाशा यस्य तस्य, क्षुधा क्षुधया कृत्वा म्लानानि क्षीणानीन्द्रियाणि यस्यैवंविधस्य भोगिनः सर्पस्य मुखे आखुर्मूषको विवरं करण्डस्य छिद्रं कृत्वा स्वयं निपतितो न केनाऽपि पातितः । असौ सर्पस्तु तस्य मूषकस्य पिशितेन मांसेन तृप्तः सन् तेनैव मूषकविहितेन पथा मार्गेण सत्वरं बहिर्यातो निर्गतः । तथा करण्डस्थितं सर्पमजानन्मूषकः करण्डस्य बिलं कृत्वाऽन्तः प्रविष्टः स्वादृष्टवशादेव तन्मुखे पतित्वा मृतः । सर्पस्तु स्वादृष्टवशादेव तन्मांसेन तृप्तः सन् तत्कृतेन बिलद्वारेण बहिर्निर्गत्य सुखितोऽभूत्तथा सर्वोऽपि जनः स्वादृष्टवशादेव सुखदुःखादिकं भुङ्क्त इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

आलस्यं विहायोद्यमकर्ता लोके सुखं प्राप्नोतीत्याह—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान्रिपुः ॥
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति ॥ ८६ ॥

आलस्यमिति ॥ अलसस्य भाव आलस्यं व्यापारराहित्यं, मनुष्याणां शरीरे तिष्ठतीति शरीरस्थो महान् रिपुः शत्रुर्हि निश्चितमस्ति । उद्यमेनोद्योगेन समः सदृशो बन्धुर्नास्ति । तमुद्यमं कुर्वाणः पुरुषो नावसीदति । दारिद्र्यादि दुःखं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

वृक्षादिवदापद आगमापायित्वात्तया सन्तो न संतप्यन्त इत्याह—

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न ते विपदा ॥ ८७ ॥

छिन्नोऽपीति ॥ तरुर्वृक्षश्छिन्नोऽपि पुना रोहति प्रादुर्भूतो भवति, तथा क्षीणोऽपि क्षीणकलोऽपि चन्द्रः पुनरुपचीयते वृद्धिं प्राप्नोति, इत्यनेन प्रकारेणापद आगमापायित्वं विमृशन्तो विचारयन्तस्ते प्रसिद्धाः सन्तः साधवो विपदा आपदा न संतप्यन्ते दुःखं न प्राप्नुवन्तीति । आर्या वृत्तम् ॥

दैवे प्रतिकूले सति पौरुषं निरर्थकं भवतीतीन्द्रदृष्टान्तपूर्वकं दैवस्य श्रैष्ठ्यमाह—

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ॥
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्युक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ८८ ॥

नेतेति ॥ बृहस्पतिर्गुरुर्यस्येन्द्रस्य नेता। नायकोऽस्तीति शेषः। एवमुत्तरत्रापि बोध्यम्। प्रहरणमायुधं वज्रं कुलिशम्, सुरा देवाः सेनायां समवेताः सैनिकाः, दुर्गं स्वर्गः, हरेर्विष्णोरनुग्रहः कृपा, किलेति प्रसिद्धम्। वारणो हस्ती ऐरावतः, इति पूर्वोक्तप्रकारेण ऐश्वर्यं च बलं च ताभ्यामन्वितोऽपि बलभिदिन्द्रः। "मघवा" इत्यपि पाठः। संगरे सङ्ग्रामे परैः शत्रुभिः भग्नः, तत्तस्मात् ननु निश्चितं दैवमेव शरणं रक्षितृ इति युक्तम्। "व्यक्तम्" इति पाठे स्पष्टमित्यर्थः। तस्माद्वृथा दैवहीनं पौरुषं पुरुषप्रयत्नं धिग्धिगिति। दैवहीनः पुरुषप्रयत्नो निष्फल इत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सर्वकृत्यस्य कर्माधीनत्वेऽपि सुधीभिर्यद्यत्कर्तव्यं तद्विचारपूर्वकमेव कर्तव्यमिति बोधयन्नाह—

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥
तथाऽपि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥ ८९ ॥

कर्मायत्तमिति ॥ यद्यपि पुंसां फलं सुखदुःखादिकं कर्मायत्तं कर्माधीनमस्ति। यादृशं कर्म तादृशं सुखदुःखादिकं भवतीति भावः। सती असती वा बुद्धिः कर्मानुसरत्यनुगच्छतीति कर्मानुसारिण्यस्ति, तथाऽपि सुधिया सुष्ठु विचार्यैव कर्म कुर्वता भाव्यम्। बुद्धिमता पुरुषेण यद्यत्कर्म कर्तव्यं तत्तद्विचारपूर्वकमेव कर्तव्यमित्यर्थः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

भाग्यहीनः पुरुषो यत्रकुत्राऽपि गतो दुःखमेव लभत इति खल्वाटदृष्टान्तेनाह—

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापितो मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ॥
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ ९० ॥

खल्वाट इति ॥ प्रायो बाहुल्येन यत्र प्रदेशे भाग्यरहितो भाग्यहीनः पु-

रुषो गच्छति तत्र तं प्रत्यापदो विपत्तयो यान्ति आगच्छन्ति । "तत्रापदां भाजनम्" इति पाठे आपदां विपत्तीनां भाजनं पात्रं भवतीत्यर्थः । तदेव दृष्टान्तेनोपपादयति । खल्वाटो निष्केशशिराः पुरुषो बहिरटन् दिवसेश्वरस्य सूर्यस्य किरणैर्मस्तके शिरसि संतापितः सन् अनातपमुष्णरहितं देशं वाञ्छन्निच्छन्विधिवशाद्दैववशात्तालस्य तालवृक्षस्य मूलं गतः । तत्राऽपि तस्मिंस्थलेऽपि प्रारब्धवशादकस्मात्पतता महाफलेनास्य खल्वाटस्य शिरः सशब्दं यथा स्यात्तथा भग्नमभूदिति शेषः । "तत्राप्याशु" इति पाठे शीघ्रमित्यर्थः । यथा सूर्यकिरणसंतप्तः खल्वाटश्छायाप्रदेशे गतोऽपि तालफलेन भग्नशिरा अभवत्तथा भाग्यहीनः पुरुषो यत्र कुत्रापि गतो दुःखमेव लभत इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सर्वत्र दैवमेव बलीय इति सदृष्टान्तमाह—

गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम् ॥
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥९१॥

गजभुजङ्गमेति ॥ गजो हस्ती, भुजङ्गमः सर्पः, तयोरपि बन्धनं भवति । शशी चन्द्रः, दिवाकरः सूर्यस्तयोर्ग्रहेण राहुणा पीडनम् । मतिमतां बुद्धिमतां दरिद्रतां दारिद्र्यं विलोक्य दृष्ट्वा विधिर्दैवं बलवान्बलिष्ठोऽस्तीति मे मतिर्निश्चयोऽस्ति । अहो इति वितर्के । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति तल्लक्षणात् ॥

उत्तमपुरुषाणामपि लोकेऽल्पायुषं दृष्ट्वा तान्सृजतो ब्रह्मणोऽपि विचारशून्यत्वं दर्शयन्नाह—

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ॥
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥ ९२ ॥

सृजतीति ॥ तावदादौ ब्रह्मा अशेषा ये गुणास्तेषामाकरं खनिः । अशेषगुणपरिपूर्णमित्यर्थः । भुवोलङ्करणं शोभाकरं पुरुषरत्नं सृजति सृष्ट्वा च तदपि पुरुषरत्नमपि तत्क्षणभङ्गि तत्क्षणनाशशीलं अल्पायुः करोति चेत् । अहह इति खेदे । कष्टं यथा स्यात्तथा इयं विधेर्ब्रह्मणोऽपण्डितस्य भावोऽपण्डितताऽज्ञानिताऽस्ति । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥

जन्मकाले विधिना ललाटलिखितस्यान्यथा करणेऽपि न समर्थ इति करीरादिदृष्टान्तेनाह—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ॥

धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥ ९३ ॥

पत्रमिति ॥ करीरसंज्ञको भाषायां (नेवती) इति प्रसिद्धो यो विटपो वृक्षस्तस्मिन् यदा यदि पत्रं पर्णं नैव भवति तर्ह्ययं वसन्तस्याखिलवृक्षपत्रकुसुमादिप्रदस्य वसन्तर्तोर्दोषोऽपराधः किम् । नास्तीत्यर्थः । यदि उलूको (घुबड) इति प्रसिद्धः पक्षिविशेषो दिवाऽपि दिवसेऽपि नावलोकते इदं सूर्यस्य दूषणं किम् । तथा धारा जलधाराश्चातकस्य पक्षिविशेषस्य मुखे नैव पतन्ति तर्हि मेघस्य सर्वतो वृष्टिकरस्य जलदस्य दूषणं किम् । किं तु पूर्वं यद्विधिना ब्रह्मणा जन्मकाले ललाटे लिखितं तन्मार्जितुं दूरीकर्तुं कः क्षमः समर्थः । न कोऽपीत्यर्थः । वसन्तादीनां पत्रसमृद्ध्यादिसाधकत्वेऽपि करीरादिषु पत्राद्यभावे दैवातिरिक्तं कारणं नास्ति । तस्माद्दैवमेव सर्वत्र प्रबलमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

प्राचीनं कर्म प्रशंसति द्वाभ्याम्—

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ॥
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ ९४ ॥

नमस्याम इति ॥ वयं देवान्नमस्यामः । उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयस्त्वाद्द्वितीया । ननु निश्चितं तेऽपि देवा अपि हतो नष्टो यो विधिर्ब्रह्मा तस्य वशगा अधीनाः सन्ति । विधिर्ब्रह्मा वन्द्योऽस्ति सोऽपि प्रतिनियतं शास्त्रनियमितं यत्कर्म तस्यैकं मुख्यं फलं ददातीति । तथाविधकर्मानुरोधि फलदातेत्यर्थः । फलमपि कर्मण आयत्तमाधीनमस्ति तर्हि अमरगणैर्देवैः किं, विधिना च किम् । न किमपीत्यर्थः । विधिरपि येभ्यः कर्मभ्यो न प्रभवति न पर्याप्तो भवति । कर्माणि परावर्तयितुं विधिरपि समर्थो न भवतीत्यर्थः। "नमः स्वस्ति—" इत्यत्रालमिति पर्यायग्रहणाच्चतुर्थी । तस्मात्सर्वापेक्षया कर्मैव प्रबलमिति तात्पर्यम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥

किं च—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ॥
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ ९५ ॥

ब्रह्मेति ॥ येन कर्मणा ब्रह्माण्डमेव भाण्डं भाजनं तस्योदरे मध्ये ब्रह्मा कुलालवत्कुम्भकारवन्नियमितो नियन्त्रितः । जगन्निर्माणकार्यनिर्णय इत्यर्थः । यथा कुम्भकारो नानाविधघटरचनां करोति तथा ब्रह्मापि नानाविधसृष्टिरचनां करोतीत्यर्थः । एवमुत्तरत्राऽपि बोध्यम् । येन विष्णुर्देश दशाधावतारा मत्स्यादिजन्मानि तद्रूपं गहनं दुःखं यस्मिंस्तथाविधे महासंकटे क्षिप्तः पातितः । प्रेरित इति यावत् । "गहनं कलिले त्रिषु । नपुंसकं गह्वरे स्याद्दुःखकाननयोरपि" इति मेदिनी । तथा येन कर्मणा रुद्रः शिवः कपालं नरकपालं तेन युक्तो यः पाणिपुटको हस्तसंपुटकस्तस्मिन्या भिक्षा तदर्थं भ्रमणं कारितः । भिक्षाया आधारस्यावश्यकत्वात्तत्सापेक्षितत्वेन देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिवत्समासः । तथा सूर्यो नित्यमेव गगन आकाशे भ्राम्यति भ्रमणं करोति तस्मै कर्मणे नमोऽस्तु । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

भाग्यमेव सर्वत्र समये समये फलति नाकृत्यादय इति वृक्षदृष्टान्तपूर्वकमाह—

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ॥
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ ९६ ॥

नैवेति ॥ आकृतिः स्वरूपं नैव फलति । उत्तमाप्याकृतिरिष्टफलं न जनयतीत्यर्थः । एवमेव सर्वत्रोहनीयम् । कुलं सत्कुलं नैव, शीलं सद्वृत्तं नैव, विद्यापि शास्त्राभ्यासोऽपि नैव, यत्नेन प्रयत्नेन कृतापि सेवा शुश्रूषा न, किंतु पूर्वमाचरितं यत्तपस्तेन संचितानि पुरुषस्य भाग्यानि काले समये फलन्ति । खलु निश्चयेन । अत्र दृष्टान्तः । यथा वृक्षाः काले समय एव फलन्ति नान्यत्र तद्वत् । तस्माद्भाग्यमेव सर्वत्र फलदायकं नान्यदिति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

पूर्वसंचितपुण्यानि सर्वत्र पुरुषं रक्षन्तीत्याह—

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ॥
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥ ९७ ॥

वन इति ॥ पुरा पूर्वं कृतानि पुण्यानि सुकृतानि वनेऽरण्ये, रणे संग्रामे, शत्रवश्च जलं चाग्निश्च तेषां मध्ये, महार्णवे महासमुद्रे, पर्वतस्य मस्तके शिखरे वा, "पर्वतसंकटे" इति पाठे पर्वते संकटे चेत्यर्थः । सुप्तं निद्रितं,

प्रमत्तं मद्यादिना; विषमे निम्नोन्नतभूमौ स्थितं पुरुषं रक्षन्ति । तस्मात्पुण्यमेव सदा नरैः कार्यमिति भावः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥

सत्क्रियैव पुरुषेण कर्तव्येति तत्फलप्रदर्शनपूर्वकमाह—

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ॥
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥९८॥

या साधूंश्चेति ॥ या सत्क्रिया खलान् दुर्जनान् साधून्सज्जनान्करोति, मूर्खान्विदुषः पण्डितान्करोति, द्वेषिणः शत्रून् हितान् हितकरान् करोति, परोक्षं प्रत्यक्षं कुरुते, हालाहलं विषविशेषं अमृतं तत्क्षणात्क्षणमात्रेण करोति, तस्माद्धे साधो वाञ्छितमिच्छितं फलं भोक्तुं भगवतीमैश्वर्यवतीं तां सत्क्रियामाराधय, विपुलेषु गुणेषु व्यसनैरासक्तिभिरास्थां यत्नं मा कृथा मा कुरु । "आस्थानीयत्नयोरास्था" इत्यमरः । एतादृशीं सत्क्रियां विहाय गुणास्थया तद्विरुद्धो यत्नः पुरुषेण न कार्य इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

धीमता पुरुषेण यद्यत्कार्यं कर्तव्यं तस्य परिणामपर्यन्तं विचारं कृत्वा तत्कर्तव्यमित्याह—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ ९९ ॥

गुणवदिति ॥ आदौ प्रथमं गुणा विद्यन्ते यस्मिंस्तद्गुणवत् वा अथवा अगुणवत्तद्रहितं कार्यं कुर्वता पण्डितेन यत्नतः परिणतिः परिणामोऽवधार्या विचार्या । प्रथममेवारभ्यमाणस्य कर्मणः परिणामे सुखदत्वं दुःखदत्वं वेति विचारणीयमित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—अतिरभसेनातित्वरया कृतानां कर्मणां विपाकः परिणाम आविपत्तेर्मरणपर्यन्तं हृदयं दहतीति हृदयदाही शल्येन शङ्कुना तुल्यः । "वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना" इत्यमरः । बाणाग्रजन्यव्रणतुल्यदुःखवदिति यावत् । भवतीति । मालिनी वृत्तम् । लक्षणं पूर्वमुक्तमेव ॥

एतस्यां कर्मभूमौ जन्म प्राप्य पुरुषेण तप एव कर्तव्यं नान्यदित्यभिप्रायेणाह—

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलकणांश्चन्दनैरिन्धनाद्यैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ॥

कृत्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्ता-
त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः १००

स्थाल्यामिति ॥ यो मनुजो मनुष्य इमां कर्मभूमिं सदाचरणं कर्तुं योग्यां भूमिं प्राप्य तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि न चरति न करोति स मन्दभाग्यो भाग्यहीनः पुरुषो वैदूर्यप्रचुरा वैदूर्यमयी तस्यां स्थाल्यां पाकभाजने इन्धनेष्वाद्यानि मुख्यानि तैश्चन्दनैस्तिलकणान्पचति विक्लेदयति, तिलकणपाचनार्थं स्थालीचन्दनादिसंपादनं यथा व्यर्थं तद्वदन्यत्कर्म करोतीत्यर्थः। तथार्कमूलस्यार्कवृक्षमूलस्य हेतोः सुवर्णस्येमानि सौवर्णानि तैर्लाङ्गलाग्रैर्हलाग्रैर्वसुधां पृथ्वीं विलिखति कर्षति। अर्कमूलसंपादनार्थं स्वर्णलाङ्गलेन भूमिखननं यथा व्यर्थं तद्वदित्यर्थः। तथा कर्पूरखण्डान्कर्पूरवृक्षशकलानि कृत्वा कोद्रवाणां कोरदूषकाणां (हरीक) इति ख्यातानां आसमन्तात् वृतिमावरणमिह कुरुते। कोद्रवरक्षणार्थं कर्पूरवृक्षच्छेदनं यथा व्यर्थं तद्वदित्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सर्वस्य कर्माधीनत्वात्कृतेऽपि महति यत्ने यदवश्यं भावि तद्भवत्येवेत्याह—

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकला विद्याः कलाः शिक्षताम् ॥
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं महा-
न्नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥१०१॥

मज्जत्विति ॥ महान्पुरुषोऽम्भसि जले मज्जतु, मेरोः शृङ्गं यातु, आहवे संग्रामे शत्रून् जयतु, वणिजः कर्म वाणिज्यम्, कृषिसेवनमादिर्यासां ताश्च सकला विद्याः कलाश्च शिक्षताम्, प्रयत्नं कृत्वा खगवत्पक्षिवद्विपुलं विस्तीर्णमाकाशं प्रयातु, तथापि भवितुं योग्यं भाव्यं न भाव्यमभाव्यं भवनानर्हं इह लोके कर्मवशतः कर्माधीनत्वात् न भवति। भाव्यस्य भवितुं योग्यस्य नाशः कुतः स्यात्। न कुतश्चिदित्यर्थः। तदुक्तम् "यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा" इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

प्राचीनकर्मवशात्सर्वमघटमानमपि सिद्ध्यतीत्याह—

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः सुजनतामुपयान्ति तस्य ॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥ १०२ ॥

भीममिति ॥ यस्य नरस्य पुरुषस्य विपुलं बहु पूर्वसुकृतं पूर्वपुण्यमस्ति तस्य भीमं भयंकरमपि वनमरण्यं प्रधानं श्रेष्ठं पुरं नगरं भवति । तथा सर्वे जना लोकास्तस्य सुजनस्य भावः सुजनता तां सौजन्यमुपयान्ति प्राप्नुवन्ति । तद्विषये सौजन्यवन्तो भवन्तीत्यर्थः । तथा कृत्स्ना संपूर्णा भूः पृथ्वी सन्त उत्तमा निधयः रत्नानि च तैः पूर्णा परिपूर्णा भवति । पूर्वकर्मानुकूल्ये वसुधान्वर्था सती यत्र कुत्रापि निध्यादिकं ददातीत्यर्थः । तस्मात्पुरुषेण पुण्यकर्मैव कर्तव्यमिति तात्पर्यम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

पुरुषस्य कर्तव्याकर्तव्ये प्रश्नोत्तराभ्यामाह—

को लाभो गुणिसंगमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥ १०३ ॥

को लाभ इति ॥ लाभोऽभीष्टप्राप्तिः कः ? गुणिनां गुणिपुरुषाणां संगमः संगतिः । पुरुषेण गुणवद्भिरेव सङ्गः कर्तव्य इत्यर्थः । असुखं दुःखं किम् ? प्राज्ञेभ्य इतरैर्मूर्खैः संगतिः । पुरुषेण मूर्खैः सह संगतिः कदापि न कार्येत्यर्थः । हानिः का ? समयस्य यस्मिन्काले यदवश्यं कर्तव्यं तस्य कालस्य च्युतिरतिवाहनम् । पुरुषेण समये समये दत्तावधानेन भाव्यमित्यर्थः । निपुणता का ? धर्मस्य तत्त्वे रहस्ये रतिः प्रीतिः । सर्वदा पुरुषेण धर्माचरणमेव कर्तव्यं नाधर्माचरणमित्यर्थः । शूरः कः ? विजितानीन्द्रियाणि येन स तथाविधः । पुरुषेण जितेन्द्रियेण भाव्यमित्यर्थः । प्रियतमा अतिप्रिया स्त्री का ? अनु पत्यनुरोध एव व्रतं नियमो यस्याः सा । स्वानुकूलायाः स्त्रियः संग्रहः कर्तव्यो नाननुकूलाया इत्यर्थः । धनं किम् ? विद्या शास्त्राद्यभ्यासः । पुरुषेण सदा शास्त्राभ्यास एव कर्तव्य इत्यर्थः । सुखं किम् ? अप्रवासगमनं प्रवासगमनाभावः । प्रवासगमनं यथा न स्यात्तथा पुरुषेण स्थेयमित्यर्थः । राज्यं किम् ? आज्ञैव फलं लाभो यस्य तदेव । येन राज्येनाज्ञा सफला भवेत्तादृशं राज्यं कर्तव्यमित्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

विवेकिपुरुषस्य द्वे गती भवत इति मालतीकुसुमदृष्टान्तपूर्वकमाह—

मालती कुसुमस्येव द्वे गती ह मनस्विनः ॥
मूर्ध्नि सर्वस्य लोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥ १०४ ॥

मालतीति ॥ मालत्या जातिलतायाः कुसुमं पुष्पं तस्येव मनस्विनो विवे-

किनः पुरुषस्य द्वे गती दशे "गतिः स्त्री मार्गदशयोः" इति मेदिनी। भवतः। ह-स्फुटम्। कथम्। यथा तेन कुसुमेन सर्वलोकस्य मूर्ध्नि मस्तके स्थीयते, वा अथवा वनेऽरण्य एव शीर्यते शीर्णं भूयते तद्वन्मनस्विनो गृहे लोकमान्या वने अरण्यवासिनो वा भवन्तीत्यर्थः। अनुष्टुब् वृत्तम्॥

पृथिव्यां सुजनस्थितेर्दौर्लभ्यमाह—

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः॥
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा॥ १०५॥

अप्रियेति॥ न प्रियाणि मनःसंतोषकराणि च तानि वचनानि तैर्दरिद्रा हीनास्तैः प्रियवचनैर्हितकारकवचनैराढ्याः पूर्णास्तैः, स्वदाराभिः स्वकीयस्त्रियैव परितुष्टाः संतुष्टास्तैः, परेषां परिवादो निन्दा तस्याः सकाशान्निवृत्ताः, पराङ्मुखास्तैः, एतादृशैः पुरुषैर्वसुधा पृथ्वी क्वचित्क्वचिन्मण्डितालङ्कृतास्ति। एवंविधाः पुरुषास्त्वतिदुर्लभा इति भावः। आर्या वृत्तम्॥

धैर्यावलम्बिनः पुरुषस्य धैर्यं नाशयितुं कोऽपि न शक्नोतीत्यग्निदृष्टान्तपूर्वकमाह—

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्॥
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥१०६॥

कदर्थितस्येति॥ कदर्थितस्याप्यतिदुःखितस्यापि धैर्येण धीरतया वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य धैर्यावलम्बिनः पुरुषस्य धैर्यरूपो यो गुणस्तं प्रमार्ष्टुं नाशयितुं कैरपि न शक्यते। तत्र दृष्टान्तमाह–अधोमुखस्येति। अधोमुखं यस्य तस्य कृतस्य। अधोमुखीकृतस्येति यावत्। वह्नेरग्नेः शिखा ज्वाला कदाचिदेव कदाप्यधो न याति किंतूर्ध्वमेव गच्छति। तस्माद्धीरो जनो दुःखितोऽपि धैर्यं न त्यजतीति भावः। उपजातिर्वृत्तम्॥

धीरः पुरुषः सर्वं जगद्वशीकरोतीत्याह—

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः॥
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥ १०७॥

कान्ताकटाक्षेति॥ यस्य पुरुषस्य चित्तमन्तःकरणं कान्तायाः स्त्रियाः कटाक्षा अपाङ्गदर्शनानि तान्येव विशिखा बाणास्ते न लुनन्ति न छिन्दन्ति। तथा यस्य चित्तं कोपः क्रोध एव कृशानुरग्निस्तस्य तापः संतापो न निर्द-

हति भस्मीकरोति । तथा भूरि बहवो विषया लोभ एव पाशा बन्धनानि तैर्यस्य चित्तं न कर्षन्त्याकर्षन्ति स धीरो जनः कृत्स्नं सर्वमिदं लोकत्रयं जयति वशीकरोति । अनेन कामादयः पुरुषेण त्याज्या इति सूचितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

एक एव शूरः पुरुषः सर्वं जगज्जयतीति सूर्यदृष्टान्तपूर्वकं दर्शयति—

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ॥
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा ॥ १०८ ॥

एकेनेति ॥ स्फारं विस्तीर्णं स्फुरितं देदीप्यमानं तेजो यस्य तेन भास्करेण सूर्येणेवैकेनाद्वितीयेन शूरेण वीरपुरुषेण महीतलं पृथ्वीतलं पादेन चरणेन पक्षे पादैः किरणैश्चाक्रान्तं व्याप्तं क्रियते । यथा सूर्यः स्वपादैः सर्वं जगद्व्याप्तं करोति तथा शूरः पुरुषः स्वपादेनाक्रान्तं करोतीति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

लोकवल्लभशीलवतः पुरुषस्य सर्वेऽप्यनुकूला भवन्तीत्याह—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥ १०९ ॥

वह्निरिति ॥ यस्य पुरुषस्याङ्गे शरीरे अखिललोकानां वल्लभतममतिशयेन प्रियं शीलं सद्वर्तनं समुन्मीलत्युज्जृम्भते, तस्य वह्निरग्निरुष्णस्वभावोऽपि जलायते जलमिवाचरति । जलवच्छीतलो भवतीत्यर्थः।"कर्तुः क्यङ्सलोपश्च" इत्याचारार्थे क्यङ् । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । तथा जलनिधिः समुद्रो दुष्पारोऽपि कुल्यायते कुल्याल्पा सरित्तद्वदाचरति । दुस्तरोऽपि सुतरो भवतीत्यर्थः । तत्क्षणात्क्षणमात्रान्मेरुर्मेरुपर्वतः स्वल्पशिलायते सुष्ठु अल्पा या शिला तद्वदाचरति । महानपि पर्वतः स्वल्पपाषाणतुल्यो भवतीत्यर्थः । मृगपतिः सिंहोऽतिक्रूरोऽपि सद्यः कुरङ्गायते कुरङ्गो हरिणस्तद्वदाचरति । क्रौर्यं त्यजतीत्यर्थः । सर्पोऽतिक्रूरोऽपि माल्यगुणायते मालागुण इवाचरति । स्वक्रौर्यं त्यजतीत्यर्थः । विषरसः पीयूषवर्षायते पीयूषरसोऽमृतरसस्तस्य वर्षो वर्षणं तद्वदाचरति । स्वीयं मारकं गुणं त्यजतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

तेजस्विनः पुरुषाः स्वीयां प्रतिज्ञां न त्यजन्तीति स्वजननीदृष्टान्तपूर्वकमाह—

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ॥

तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति

सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ ११० ॥

इति श्रीमद्राजर्षिप्रवरभर्तृहरिकृतं नीतिशतकं संपूर्णम् ॥

लज्जेति ॥ सत्यमेव व्रतं तस्मिन्व्यसनमासक्तिर्येषां ते एवंविधास्तेजस्विनः प्रभाववन्तः पुरुषाः सुखं यथा स्यात्तथा असून् प्राणानपि त्यजन्ति । पुनः स्वां स्वकीयां जननीं मातरमिव प्रतिज्ञां न त्यजन्ति । कीदृशीं प्रतिज्ञां मातरं च । असत्कर्मणि प्रवृत्तिलक्षणलज्जारूपो यो गुणौघो गुणप्रवाहस्तस्य जननीमुत्पादिकाम् । पुनः कीदृशीम् । अत्यन्तं शुद्धं हृदयमन्तःकरणं यस्यां यस्या वा ताम् । पुनः कीदृशम् । अनुवर्तमानां अनुलक्षेण वर्तमानाम् । अनेन सत्यभाषिणा पुंसा प्राणा अपि त्याज्याः परंतु स्वीयप्रतिज्ञा न त्याज्येति सूचितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

नीत्याख्यशतकव्याख्यामर्थद्योतनिकाभिधाम् ॥

कृष्णोऽहं कृतवांस्तेन प्रीयतां विश्वसृड्विधिः ॥ १ ॥

इति कृष्णसूरिविरचितायामर्थद्योतनिकाभिधायां टीकायां नीतिशतकं संपूर्णम् ॥

निर्णयसागरस्थविक्रेयसंस्कृतपुस्तकानि ।

	मू.	मा.व्य.
अभिनवकादम्बरी काव्यम्—धुण्डिराजकृतम्.	०≡	०॥
अमरुशतक—अमरुककविविरचित, अर्जुनवर्मदेवशर्मप्रणीत टीकेसहित.	·॥=	०–
आर्यासप्तशती—गोवर्धनाचार्यकृत, अनन्तपण्डितकृतया व्यङ्ग्यार्थदीपनया टीकया सहिता.	१॥	०=
ऋतुसंहारकाव्यम्—कालिदासकृतं, मणिरामकृत-टीकासहितं शृङ्गारतिलककाव्यं च	·।·	०–
कथाकौतुकम्—पण्डितश्रीवरविरचितम्	·॥।·	०–
कथासरित्सागरः—महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचितः, एतस्मिन् पृथक् पृथक् मनोहराः १२४ कथाः सन्ति.	५	·।≡
कादम्बरीकथासारकाव्यम्—श्रीमदभिनन्दकृतम्. ...	·॥·	०–
किरातार्जुनीयं काव्यम्—भारविकृतं, मल्लिनाथकृतया घण्टापथटीकया सहितम्....	१॥	०=
कुमारसंभवं काव्यम्—कालिदासकृतं, मल्लिनाथकृतया (१–७ सर्गपर्यन्तं), सीतारामकृत (८–१७ सर्गपर्यन्तं), संजीविन्या टीकया सहितं च....	२	·।·
गङ्गावतरणम्—श्रीनीलकण्ठदीक्षितविरचितम्.	·॥·	०–
गाथासप्तशती—श्रीसातवाहनविरचिता, गङ्गाधरभट्टकृत-टीकासहिता.	१॥	०≡
जयन्तविजयम्—श्रीमदभयदेवविरचितम्.	१	०–॥
दशावतारचरितकाव्यम्—क्षेमेन्द्रविरचित.	१	०–॥
देलरामाकथासार—राजानकभट्टाह्लादकविरचित	·।=	०–
नीतिशतकम्—भर्तृहरिकृतम्, कृष्णशास्त्री महाबल-कृतटीकासहिता.	·।·	०॥·
नैषधीयचरितम्—श्रीहर्षविरचितम्, नैषधीयप्रकाशाख्य (नारायणी) टीकासहितम्.	५	·।=
पतञ्जलिचरितम्—श्रीरामभद्रदीक्षितप्रणीतम्.	·॥=	०–
पुष्पबाणविलासः—श्रीकालिदासकृतः, पण्डितवरश्रीवेङ्कटसार्वभौमविरचितव्याख्यासहितः	०≡	०–

इमान्यन्यानि च पुस्तकानि व्ही. पी. द्वारा, मूल्ये प्रेषिते बाऽस्मत्सकाशे मिलिष्यन्ति.

श्रीः

भर्तृहरिविरचितं

वैराग्यशतकम् ।

महाबलोपाह्वकृष्णशास्त्रिविरचितया

व्याख्यया समलंकृतम् ।

तृतीयं संस्करणम् ।

तच्च

मुंबय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालयाधिपतिना स्वकीयमुद्रणालये

मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम् ।

शकाब्दाः १८२८—सन १९०६.

श्रीः

भर्तृहरिविरचितं

वैराग्यशतकम् ।

महाबलोपाह्वकृष्णशास्त्रिविरचितया

व्याख्यया समलंकृतम् ।

तृतीयं संस्करणम् ।

तच्च

मुंबय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालयाधिपतिना स्वकीयमुद्रणालये

मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम् ।

शकाब्दाः १८२८—सन १९०६.

॥ श्रीः ॥

विद्वदभ्यर्थना.

स्वस्तिश्रीमत्समस्तजगदाधारपरमकरुणावतारस्य घनश्यामकल्पविटपिविशङ्कटविटपतटप्रकटप्रोत्कटसुमनःसमानमृदुलभक्तावतंसमनःसिंहासनकृताधिवासनस्य भगवतो नारायणस्य लीलातः प्रवर्तमानायामस्यां पञ्चम्यां भूतसृष्टौ समस्तकविकलाकोविदस्याप्यवगतसकलशास्त्रस्य निजयशःसुधाधवलितविशुद्धविज्ञानविलसितविबुधजनमानसमन्दिरस्य नितान्तशौर्यौदार्यधैर्यवीर्यगाम्भीर्यसौशील्यादिगुणमणिगणाभरणविभूषितकलेवरस्य, पवित्रचरित्रपवित्रीकृतधरित्रीवलयस्य, सकलावनीशवन्दितचरणस्य, दिगन्तरलुठत्कीर्ते राजर्षिप्रवरस्य, श्रीमतो भर्तृहरिमहीपालस्य, निजानुभवपुरःसरं संसारतत्त्वार्थसारोपदेशदेशिकीभूतमिदं शतकत्रयात्मकं नीतिशृङ्गारवैराग्यविषयनिबद्धं काव्यं समस्तजनकल्याणाय संप्रसार्यमाणं विबुधजनचेतोमहानन्दं समुत्पादयतीति हि तावद्भूयोभूयो जोघुष्यत एव सरलबुद्धिभिर्विद्वद्भिः ॥

तदेतत्काव्यमनन्वितटीकार्थमस्ताव्यस्तनिर्गलितनिरर्गलविषयमासीत् । तादृशाव्यवस्थया ग्रन्थदोषं पर्यालोच्य सहृदयसूचनया प्रेरितोऽहं गोदावरीतीरविलसच्छ्रीनासिकक्षेत्रनिवासिभिर्महाबलोपनामधेयैः कृष्णशास्त्रिभिर्नवीनां काव्यार्थानुगतां टीकां कारयित्वा प्राचीनलिखितपञ्चषट्पुस्तकानि मेलयित्वा ग्रन्थं शोधयित्वा सुविमलकीलकाक्षरैरङ्कित्वा विदुषामग्रतः प्रसिद्धिमनैषम् । तद्धि सुधियो मदीयं प्रयासमभिनन्दनेन कृतार्थयन्त्वित्याशासे ॥

अथ भर्तृहरिकृतं

वैराग्यशतकं प्रारभ्यते।

अथ श्रीमद्राजर्षिप्रवरो भर्तृहरिर्द्वितीयं परिणामे वैराग्यजनकं, शृङ्गारशतकं विधायेदानीं वैराग्यशतकं चिकीर्षुर्वैराग्यफलस्य ज्ञानस्य दाता शिवापेक्षयान्यो नास्तीति तं वर्णयति—

चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन्।
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥ १ ॥

चूडोत्तंसितेति ॥ चूडायां केशपाश उत्तंसिता भूषणीभूता चारू रमणीया या चन्द्रकलिका चन्द्रकला तस्याश्चञ्चन्त्यो देदीप्यमाना याः शिखाः किरणास्तैर्भास्वरः शोभायमानः। "घृणिज्वाले शिखे अपि" इत्यमरः। लीलया दग्धो विलोलश्चञ्चलः कामशलभः कामपतङ्गो येन सः। श्रेयः सर्वेषां कल्याणं तस्य दशा अवस्था तदर्थं अग्रे स्फुरन्प्रकाशमानः। लोकानां कल्याणं कर्तुं प्रकटीभूत इत्यर्थः। अन्तरभ्यन्तरे स्फूर्जत्प्रकाशमानोऽपारः पाररहितो यो मोहः स एव तिमिरमन्धकारः। अज्ञानमिति यावत्। तस्य प्राग्भारोऽतिशयस्तमुच्चाटयन्समूलं नाशयन् एवंविधो भक्तचेतसि ज्ञानं प्रदीपयति प्रकाशयतीति ज्ञानप्रदीपः। "प्रज्ञाप्रदीप" इति पाठेऽप्ययमेवार्थः। हरः शिवो योगिनां चेत एव सद्म गृहं तस्मिन्विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

प्रायशो लोके सुभाषितचातुर्यरसज्ञानामभावात्स्वीयं सुभाषितचातुर्यं निन्दयन्नाह कविः—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गेषु भाषितम् ॥ २ ॥

बोद्धार इति ॥ बोद्धारो ज्ञानिनः मत्सरेण अन्यस्मिन् दोषदर्शनरूपमात्सर्येण ग्रस्ता व्याप्ताः, तथा प्रभवः राजानः स्मयेनाहमेव गुणी नान्य इति गर्वेण दूषिता दोषयुक्ताः, अन्ये पूर्वोक्तातिरिक्तास्ते अबोधेन अज्ञानेनोपहता नष्टाः सन्तीति किमपि न जानन्तीत्यर्थः। अतः सर्वं भाषितं सुभाषितं अङ्गे-

ष्वेव जीर्णं लीनं भवतीति शेषः। फलाभावाद्बहिर्न प्रकटितमित्यर्थः। "जीर्णमङ्गे सुभाषितम्" इति पाठे सुभाषितमिति स्पष्टोऽर्थः संपद्यते। अनुष्टुब् वृत्तम्॥

महता पुण्येन संपादिता अपि लौकिका विषयाः सुखजनका न भवन्तीत्याह—

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्॥ ३॥

न संसारेति॥ अहं संसारे उत्पन्नं चरितं जगद्व्यापारं कुशलं सुखकरं नानुपश्यामि। ननु पुण्यकर्म सुखकरं स्यादित्याशङ्क्याह—विपाक इति। पुण्यानां पुण्यकर्मणां विपाकः परिणामो विमृशतो विचारयतो मे भयं जनयत्युत्पादयति। कुत इत्याह—महद्भिः पुण्यौघैः पुण्यसमूहैः चिरं चिरकालं परिगृहीता महान्तो विषया विषयिणामनुरागिणां व्यसनं दुःखं दातुमिव जायन्ते। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इति वचनात्। प्राप्तानामपि स्वर्गादिविषयाणां क्षयिष्णुत्वादित्यर्थः। महता यत्नेनाचर्यमाणस्य सकामपुण्यस्य क्षयिष्णुफलजनकत्वेन दुःखदत्वेऽपि सद्गुरूपदेशादिनाचीर्यमाणस्य निष्कामधर्मस्य सुखदत्वादिवशब्दः। अत एव विषयिणामित्युक्तम्। शिखरिणी वृत्तम्॥

तृष्णाविषयीभूतानां पदार्थानां महता यत्नेनापि संपादयितुमशक्यत्वात् तामेव प्रार्थयन्नाह—

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने क्षपाः
संप्राप्तश्च वराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुंच माम्॥ ४॥

उत्खातमिति॥ क्षितितलं निधेर्निक्षेपस्य शङ्कया उत्खातं खनितम्। निधिलाभतृष्णयेत्यर्थः। तथा गिरेः पर्वतस्य संबन्धिनो धातवः स्वर्णादयो ध्माता अनेकौषधियोगेन तापिताः। स्वर्णादिलाभेच्छयेत्यर्थः। तथा सरितां नदीनां पतिः समुद्रो निस्तीर्णो लङ्घितः। रत्नादिवाञ्छयेत्यर्थः। तथा नृपतयो राजानो यत्नेन संतोषिताः संतोषं प्रापिताः। बहुलाभस्पृहयेत्यर्थः। तथा मन्त्रस्याराधने तत्परेण सक्तेन मनसा श्मशाने क्षपा रात्रयो नीताः। एवंविधे कृतेऽपि

यत्ने मया वराटकोऽपि कपर्दिकापि न संप्राप्तोऽतो हे तृष्णे, अधुना त्वमेव मां मुञ्च त्यज । त्वत्परिहारस्योपायान्तरासाध्यत्वात्त्वामेवाहं प्रार्थय इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

प्रार्थनयाप्यमुञ्चतीं तृष्णां बुद्ध्वा पुनस्तामेव निन्दयन्नाह द्वाभ्याम्—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशङ्कया काकव-
त्तृष्णे जृम्भसि पापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यसि ॥ ५ ॥

भ्रान्तमिति ॥ अनेका दुर्गा दुर्घटप्रदेशास्तैर्विषमं देशं भ्रान्तं भ्रमणं कृतम् । मयेति शेषः । "गत्यर्था" इति भावे क्तः । तथापि किंचिदपि फलं न प्राप्तम् । तथा उचितं योग्यं, जातिर्ब्राह्मणादिः कुलमुत्तमकुलं तयोरभिमानं त्यक्त्वा सेवा कृता सापि निष्फला जातेति शेषः । तथा परगृहेषु मानेन विवर्जितं यथा स्यात्तथा आशङ्कया भयेन काकवत् ध्वाङ्क्षवद्भुक्तम् । "शङ्काभासे वितर्के च" इति मेदिनी । तथापि पापकर्मणि निरते सक्ते एवंविधे हे तृष्णे, जृम्भसि विकसिता भवसि, अद्यापि न संतुष्यसि संतोषं न प्राप्नोषि । एतदपेक्षयाप्यधिकां कां कां विपत्तिं दातुमिच्छसीत्यहं न जाने इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

किंच—

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै-
र्निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा ॥
कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥ ६ ॥

खलोल्लापा इति ॥ खलानां दुर्जनानामुल्लापा नीचभाषणानि तेषां खलानामाराधनं सेवनं तस्मिन्परास्तत्परास्तैरेवंविधैरस्माभिरिति शेषः । कथमपि महासङ्कटेन सोढा मर्षिताः, हसितं तदुपहसितमपि अन्तरभ्यन्तरे तत्कृतकटुभाषणैरुत्थितं बाष्पं नेत्राश्रु निगृह्य निरुध्य शून्येन स्तब्धेन । कार्याकार्यविचारशून्येनेति यावत् । एवंविधेन मनसा सोढमिति लिङ्गविभक्तिविपरिणामेनान्वयः । तथा चित्तस्यान्तःकरणस्य स्तम्भो रोधः वृत्तिनिरोधेन स्थिरीकरणमिति यावत् । कृतः । तथा प्रहसिते परोपहसिते धीर्बुद्धिर्येषां तेषां परोपहसितकर्तॄणामञ्जलिर्नमस्कारोऽपि कृतः, तथाऽपि मोघा निष्फला आशा यस्या

एवंविधा निष्फला हे आशे, त्वं अतः कारितान्नर्तनादपरमन्यत् मां किं नर्तयसि नर्तनं कारयसि । शिखरिणी वृत्तम् ॥

जगतो मोहं वर्णयति—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥ ७ ॥

आदित्यस्येति ॥ इदं जगत् मोहमयीं मोहप्रचुरां प्रमाद एव मदिरा तां पीत्वा उन्मत्तभूतं कर्तव्याकर्तव्यविचारशून्यम् । अभूदिति शेषः । तदेव वि-वृणोति—आदित्यस्य सूर्यस्य गतागतैरस्तोदयरूपैर्गमनागमनैः अहरहः प्रति-दिनं पुरुषस्य जीवितमायुः संक्षीयते नश्यति, तथा बहवोऽनेकाः कार्यभाराः कार्यातिशयास्तैर्गुरुभिर्महद्भिः व्यापारैर्व्यवहारैः कालः कियान् गतश्चेति न वि-ज्ञायते पुरुषेणेति शेषः । तथा जन्मोत्पत्तिः जरा च विपत्तिरापत्तिश्च मरणं च तेषां समाहारस्तत् दृष्ट्वा स्थितस्यापि पुरुषस्य त्रासो जन्मादिजन्यं भयं नो-त्पद्यते । जन्मादिविपत्तीर्दृष्टवतोऽपि पुरुषस्य तत्प्रयुक्तं भयं न भवतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

विचारवतो जनस्य स्थितिं वर्णयन्नाह—

दीनादीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्येत चेद्गेहिनी ॥
याच्ञाभङ्गभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥ ८ ॥

दीनादीनेति ॥ चेद्यदि दीनेभ्योऽपि अतिशयितानि दीनानि मुखानि येषां तैः, क्षुधितैः क्षुधायुक्तैः अतएव क्रोशद्भिराक्रोशद्भिः शिशुकैर्बालकैः सदैव निरन्तरमेव आकृष्टं जीर्णमम्बरं वस्त्रं यस्याः सा । यद्वा दीनेति पृथक्पदम् । आकृष्टजीर्णाम्बरा अतएव दीनेत्यर्थः । निरन्ना शिशुभ्योऽपि देयान्नरहिता अतएव विधुरा विकला । किंकर्तव्यतामूढेति यावत् । "विधुरं स्यात्प्रविश्लेषे न द्वयोर्विकले त्रिषु" इति मेदिनी । एवंविधा गेहिनी भार्या दृश्येत दृष्टिगोचरा भवेत् तथापि को मनस्वी जनः याच्ञाया भङ्गस्तस्य भयेन गद्गदं यथास्यात्तथा गलन्ति मुखाद्बहिर्निर्गतानि, त्रुट्यन्ति स्खलन्ति अत एव विलीनानि लुप्तानि अक्षराणि वर्णा यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा स्वस्य

दग्धं यज्जठरमुदरं तस्यार्थे वदेत्। अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । विचारवान्जनः पूर्वार्धोक्तविशेषणविशिष्टां भार्यां दृष्ट्वापि दुष्टजठरभरणार्थं कस्याप्यग्रे न याचत इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

शरीरिणां मरणस्यातिभयहेतुत्वं वर्णयन्नाह—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥ ९ ॥

निवृत्तेति ॥ यद्यपीति सर्वत्र संबध्यते । भोगस्य विषयभोगस्येच्छा निवृत्ता, पुरुषस्य पुरुषत्वस्य बहुमानोऽभिमानो विगलितो नष्टः, समानाः स्वसमानवयसः पुरुषाः सपदि तत्कालम् । शीघ्रमिति यावत् । स्वर्याताः स्वर्गं प्राप्ताः मृता इति यावत्। सुहृदोऽवशिष्टसंबन्धिनो जीवितसमं स्वसमानं येषां ते स्वजीविततुल्याः आसन्निति शेषः । उत्थानमासनाच्चलनं शनैः । मन्दमभवदिति शेषः । च पुनर्नयने लोचने घनं निबिडं यत्तिमिरं रोगविशेषस्तेन रुद्धे । अवलोकनासमर्थे इति यावत् । जाते । अत्र सर्वत्र वृद्धत्वमेव हेतुः। तदपि एतादृशीमवस्थां प्राप्तोऽप्ययं कायो देहः मरणरूपो योऽपायो नाशस्तेन चकितो भीतो भवति। मरणं नेच्छतीत्यर्थः। यतो धृष्टः। अहो इत्याश्चर्ये। तस्मान्मरणभयसदृशमन्यद्भयं नास्तीति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

इतरपश्वादिवृत्त्यपेक्षया मनुष्यवृत्तेर्वैराग्यजनकत्वेन श्रैष्ठ्यं दर्शयन्नाह—

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुजः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
यामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥ १० ॥

हिंसेति ॥ हिंसया शून्यं रहितं, अयत्नेनाश्रमेण लभ्यं लब्धुं योग्यमेवंविधं व्यालानां सर्पाणामशनं भोजनं धात्रा ब्रह्मणा मरुद्वायुरूपं कल्पितं कृतम्, तथा पशवस्तृणाङ्कुरान् भुञ्जति ते भुजः, तथा स्थलीमकृत्रिमभूमिं शेरते त एवंविधाः सृष्टाः। मनुष्यातिरिक्तानां प्राणिनामुपलक्षणमिदम् । संसार एवार्णवः समुद्रस्तस्योल्लङ्घने क्षमा समर्था धीर्येषां तेषां नृणां सा वृत्तिर्निष्कामयजनयाजनादिका कृता । सा का । यां सततमन्वेषयतां मृगयतां पुरुषाणां सर्वे गुणाः सत्त्वादिगुणकार्याणि जन्ममरणादिरूपसंसारप्रयोजकानि समाप्तिं लयं प्र-

यान्ति गच्छन्ति । तस्मादीश्वरेण पश्वादीनां साधरण्येन वृत्तिकल्पनेऽपि नृणां संसारोल्लङ्घनक्षमबुद्धिप्रदानात्तैस्तु यया वृत्त्या संसारोच्छेदः स्यात्सैव वृत्तिराश्रयणीयेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

इह कर्मभूमौ मनुष्यजन्म प्राप्य भगवद्ध्यानयागादिकर्मकान्तालिङ्गनरूपत्रितयमकुर्वतः पुरुषस्य जन्मनो वैयर्थ्यं प्रतिपादयन्नाह—

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥ ११ ॥

न ध्यातमिति ॥ संसारस्य विच्छित्तये नाशाय ईश्वरस्य जगन्नियन्तुः परमेश्वरस्य पदं चरणं न ध्यातं न ध्यानविषयीकृतम् । अस्माभिरिति शेषः । एवमुत्तरत्रापि । ईश्वरध्यानं कृत्वा मोक्षसुखं न साधितमिति भावः । तथा स्वर्गस्य द्वारं तस्य यत्कपाटं तस्य पाटन उद्घाटने पटुः समर्थो यो धर्मो यागादिः सोऽपि नोपार्जितो न संपादितः । न कृत इति यावत् । यागादिना स्वर्गसुखं न साधितमिति भावः । तथा नार्याः पीनौ पुष्टौ यौ पयोधरौ स्तनौ तयोरूर्वोः सक्थ्नोश्च युगलं युग्मं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं नाश्लेषितम् । स्त्रिया आलिङ्गनादिना विषयसुखमपि न साधितमित्यर्थः । किंतु मातुर्जनन्याः केवलं यौवनं तारुण्यमेव वनं तस्य छेदे वयं कुठाराः कुठारसदृशा जाताः स्मेति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

इह संसारे यथेच्छं भोगादीनामप्राप्त्या जन्मनो वैयर्थ्यमाह—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥ १२ ॥

भोगा इति ॥ भोगा विषयभोगा न भुक्ता न सेविताः । अस्माभिरिति शेषः । एवमुत्तरत्र । किंतु वयमेव भुक्ताः निगीर्णा इति यावत् । कालेनेति शेषः । तथा तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि न तप्तं न कृतं किं तु वयमेव तप्ताः दुःखं प्राप्ताः । दुःखनाशहेतुभूतं तपो न तप्तमित्यर्थः । तथा कालो घटिकादिर्न यातो न गतः किं तु वयमेव याताः । यस्मिन्काले यदुचितं कर्म तद्विहीना जाता इत्यर्थः । तथा तृष्णा स्पृहा न जीर्णा किं तु वयमेव जीर्णाः शिथिला जाताः । तृष्णाशान्तिर्न जातेत्यर्थः । तस्मात्केनापि प्रकारेण न जन्मनः साफल्यमभूदिति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥

फलाभिसंधिपूर्वकं सकामं कर्माचरद्भिरस्माभिः परमार्थहेतुभूतं निष्कामं कर्म कदापि नाचरितमित्याह—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनाः क्लेशान्न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैःफलैरञ्चितम् ॥ १३ ॥

क्षान्तमिति ॥ क्षमया हेतुना परदत्तदुःखादिकं न क्षान्तं न सोढम् । मयेति शेषः । एवं सर्वत्र । किंतु भयादिहेतुना क्षान्तमित्यर्थः । गृहे उचितं योग्यं सुखं संतोषतः संतोषेण न त्यक्तं किंतु पराधीनत्वादिना त्यक्तम् । दुःसहाः शीतं शैत्यं वातो वायुः तपन ऊष्मा च ते सोढाः क्षान्ताः परंतु क्लेशाद्दुःखात्तपो न तप्तम् । अहर्निशं वित्तं द्रव्यं ध्यातं चिन्तितं परंतु नियमिता ये प्राणास्तैः शम्भोः पदं न ध्यातम् । किंतु तत्तत्कर्म कृतम् । तत्किम् । यदेव मुनिभिस्तत्तत्फलैस्तेषां तेषां कर्मणां तानि तानि वा फलानि तैरञ्चितं पूजितम् । आदरपूर्वकं कृतमिति यावत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

आमरणपर्यन्तं केनापि प्रकारेण तृष्णापूर्तेरभावात्तद्विषये यत्नो न कार्य इति सूचयन्नाह—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥ १४ ॥

वलिभिरिति ॥ मुखमाननं वलिभिराक्रान्तं व्याप्तम् । शिरो मस्तकं पलितैः सितकेशैरङ्कितं चिह्नितमभूदिति शेष उभयत्रापि । गात्राणि हस्ताद्यवयवाः शिथिलायन्ते । स्वक्रियाकरणेऽसमर्था भवन्तीत्यर्थः । परंतु एका तृष्णा तरुणायते तरुणीवाचरति । कदापि शान्ता न भवतीत्यर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

कर्मवशात्स्वस्मिन्प्राप्तं दौर्गत्यं न शोचनीयमिति श्लेषमर्यादया चन्द्रसूर्यदृष्टान्तपूर्वकं सूचयन्नाह—

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः ।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥ १५ ॥

येनैवेति ॥ येनैवाम्बरखण्डेन वस्त्रखण्डेन, पक्षे आकाशभागेन । निशि रात्रौ चन्द्रमाः संवीतो वेष्टितस्तेनैव अम्बरखण्डेन दिवा दिवसे भानुः सूर्योऽपि संवेष्टितो भवति । एतयोः सर्वजगन्निर्वाहकरणयोरपि सूर्याचन्द्रमसो-

दौर्गत्यं एकवस्त्रखण्डेन निर्वाहकारणरूपं दैन्यमस्ति । अहो इत्याश्चर्यमेतत् । एवं समर्थयोरप्येतयोरेतादृशदौर्गत्यसत्त्वे कास्माकं कथेति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

पुरुषस्य स्वयमेव विषयत्यागोऽत्यन्तसुखहेतुरिति सूचयन्नाह—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥ १६ ॥

अवश्यमिति ॥ विषया भोग्यपदार्थाश्चिरतरं बहुकालमुषित्वापि वासं कृत्वापि अवश्यं यातारो गन्तारो गमिष्यन्त्येव तेषामनित्यत्वात् । एवंसति बुद्ध्या विषयत्यागे स्वयं गमने च वियोगे विश्लेषे को भेदः । न कोपीत्यर्थः । यद्येन भेदेन जनः स्वयममून् विषयान्न त्यजति । विषयाणां इच्छया गमने पुरुषेण बुद्ध्या त्यागे वियोगे भेदाभावेऽपि स्वयं गमने दुःखहेतुत्वं बुद्ध्या त्यागे च सुखहेतुत्वमिति सूचयितुं फलभेदं दर्शयति—व्रजन्त इति । एते प्रसिद्धा विषयाः स्वातन्त्र्यात्स्वेच्छया व्रजन्तो गच्छन्तः सन्तो मनसोऽतुलोऽनुपमो यो परितापस्तस्मै भवन्ति । मनसो दुःखदा भवन्तीत्यर्थः । स्वयं पुरुषेण त्यक्तास्तु अनन्तमपारं शमसुखं शान्तिसुखं विदधति कुर्वते । हि निश्चयेन । तस्माद्विषयत्यागस्य शान्तिसुखहेतुत्वात्तत्त्यागोऽवश्यं पुरुषेण कर्तव्य इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

तृष्णाशान्तेरत्यन्तसुखहेतुत्वमाह—

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा
परिष्वङ्गे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः ।
जराजीर्णैश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण-
स्तृषापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥ १७ ॥

विवेकेति ॥ विवेकस्य व्याकोशो विकसनं यस्मिंस्तस्मिन् शमे विदधति कुर्वति सति, तुङ्गे उन्नते तृषायाः परिष्वङ्गे आश्लेषे शाम्यति सति, सा परिणतिः सुखविशेषरूपः परिणामः प्रसरतितरामतिशयेन विस्तारं प्राप्नोति । सा का । यस्यां परिणतौ विषये जरया जीर्णमैश्वर्यं, ग्रसनं अन्नादिभक्षणं तन्निमित्तो गहनो गम्भीरो य आक्षेपो निन्दा च ताभ्यां कृपण एवंविधो म-

रुतां देवानामधिपतिरिन्द्रोऽपि यस्यां परिणतौ तृषापात्रं तृष्णाभाजनं भवतीति । यस्यां परिणतौ विषये साक्षादिन्द्रोऽपि स्पृहां करोतीत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

विषयवासनापरित्यागस्यात्यन्तदुर्घटत्वमाह—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हाहा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥ १८ ॥

भिक्षेति ॥ भिक्षाया अशनं भोजनं, तदपि नीरसं रसरहितं, तदपि एकवारं न द्विवारम्, तथा शय्या च शयनं च भूर्भूमिः न तूलादि, तथा परिजनः परीवारो निजदेहमात्रं स्वदेहमात्रं न स्त्रीपुत्रादि, तथा वस्त्रमाच्छादनं जीर्णानि यानि शतखण्डानि तत्प्रचुरा कन्था न तदतिरिक्तं किंचित् । तथापि एवं सत्यपि विषया भोग्यपदार्थवासना न परित्यजन्ति । हाहा । अतिकष्टमित्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

कविजनैरतिरमणीयत्वेन वर्णितमपि स्त्रीणां रूपं विचारे कृते वस्तुतोऽपि निन्द्यमिति वर्णयन्नाह—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥ १९ ॥

स्तनाविति ॥ मुहुः सदैव निन्द्यं कुत्सितं रूपं कविजनविशेषैः कविश्रेष्ठैर्गुरु महत् । अतिरमणीयमिति यावत् । कृतं कल्पितमित्यर्थः । कथमित्याह— स्तनाविति । वस्तुतो मांसस्य ग्रन्थी एवंविधौ स्तनौ कुचौ कनकस्य सुवर्णस्य कलशौ घटाविति उपमितौ । कनककलशोपमानेन वर्णिताविंत्यर्थः । तथा वस्तुतः श्लेष्मणोऽगारं गृहं एवंविधं यन्मुखमाननं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् । चन्द्रोपमानेन वर्णितमिति यावत् । तथा वस्तुतः स्रवत्प्रस्रवद्यन्मूत्रं तेन क्लिन्नमार्द्रं यज्जघनं कटिपुरोभागः तदेव करिवरो हस्तिश्रेष्ठस्तस्य करः शुण्डादण्डस्तं स्पर्धते तच्छीलम् । तत्सदृशत्वेन वर्णितमिति यावत् । कविजनैरतिरम्यत्वेन वर्णितस्यापि स्त्रीरूपस्यातिकुत्सितत्वेन तद्विषयेऽत्यन्ताभिलाषो न करणीय इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

मोहस्य दुर्निवारत्वं वर्णयन्नाह—

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येतद्वयमिह विपज्जालजटिला-
न्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥ २० ॥

अजानन्निति ॥ शलभः पतङ्गः माहात्म्यमर्थादग्नेः अजानन्न जानन्सन् तीव्रस्तीक्ष्णो दहनोऽग्निस्तस्मिन्पततु, तथा स प्रसिद्धो मीनो मत्स्योऽपि पिशितं मांसं बडिशेन मत्स्यवेधनेन युतमिति अज्ञानादश्नाति चेदश्नातु भक्षयतु । वयं तु इह संसारे विशेषेण विजानन्तो ज्ञानवन्तोऽपि विपज्जालेनापज्जालेन जटिलान्व्याप्तान्कामान् विषयाभिलाषान्न मुञ्चामो न त्यजामः । किंत्वाश्रयामः, एतद्विषयाश्रयणं गहनो दुर्ज्ञेयो मोहस्य महिमास्ति । अहहेति खेदे । शिखरिणी वृत्तम् ॥

खलानामविनीतं चरितमतिदुःसहमित्याह—

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
शयनमवनिपृष्ठे वल्कले वाससी च ।
निधुवनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥ २१ ॥

फलमिति ॥ अशनाय भोजनाय फलमलं पर्याप्तम् । ओदनादि नापेक्षितमित्यर्थः । अलमित्यस्योत्तरत्राप्यन्वयः । पानाय तृषाशान्तये स्वादु मृष्टं तोयमुदकं न मद्यादि । अवनिपृष्ठे भूपृष्ठे शयनं न पर्यङ्कादौ । वाससी वस्त्रे वल्कले न कौशेयादी । अतो निधुवनं मैथुनमेव मधु मद्यं तस्य पानं तेन, यद्वा निधुवनं मधु च ताभ्यां, "धनलवमधु" इति पाठे धनस्य लवो लेशः स एव मधु तस्य पानं तेन भ्रान्तानि सर्वाणि इन्द्रियाणि येषां तेषां दुर्जनानामविनयमनम्रतापूर्वकमाचरणं अनुमन्तुमनुमोदितुमहं नोत्सहे । समर्थो न भवामीत्यर्थः । वन्यफलादिना जीवनादिकं वरं न तु खलसहवास इति भावः । मालिनी वृत्तम् ॥

अधुनातनानां जनानां जगत्संबन्धि यत्किंचिदंशे स्वामित्वमुपलभ्य तद्विषय उन्मादपूर्वकमभिमानकरणमनुचितमित्याह—

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।

इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥ २२ ॥

विपुलेति ॥ विपुलं महत् हृदयं येषां तैः। उदारमनस्कैरिति यावत्। धन्यैः पुण्यवद्भिः कैश्चिद्ब्रह्मादिभिः पुरा इदं जगज्जनितमुत्पादितम् । अपरैर्विष्ण्वादिभिर्विधृतं धारितम्। पालितमिति यावत् । अन्यैः परशुरामादिभिश्च विजित्य जित्वा तृणं यथा तृणमिव । यथाशब्द इवार्थे । "व वा यथा तथैवैवं साम्ये" इत्यमरः। कश्यपादिभ्यो दत्तम्। इह हि अस्मिँल्लोकेऽन्ये धीरा बलिप्रभृतयश्चतुर्दश भुवनानि भुञ्जत उपभुञ्जते । अत्र भुजधातुरुपभोगार्थो न पालनार्थः। तथापि कतिपयानि च पुराणि नगराणि तेषां स्वाम्ये स्वामित्वे सति पुंसां एष मदज्वरः कः। अत्यन्तमयोग्य इत्यर्थः । ब्रह्मादिभिरपि जगज्जननादि कार्ये कृतेऽपि तादृश उन्मादो न कृतस्तदपेक्षया क्षुद्रजनानां जगत्संबन्धि यत्किंचिदंशलाभेन तद्विषय उन्मादपूर्वकमभिमानकरणमनुचितमिति किमु वक्तव्यमिति भावः । हरिणी वृत्तम्। "रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गौ यदा हरिणी तदा" इति तल्लक्षणात् ॥

कंचिद्राजानं प्रति कस्यचिद्वैराग्यवतः पुरुषस्योक्तिवर्णनेन निःस्पृहत्वस्य श्रेष्ठत्वं सूचयन्नाह—

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥ २३ ॥

त्वमिति ॥ हे राजन्, त्वं राजा राजत्वेनोन्नतश्चेत् वयमपि उपासितः सेवितो यो गुरुस्तस्माल्लब्धा या प्रज्ञा कार्याकार्यविवेकवती बुद्धिस्तया योऽभिमानो गर्वस्तेनोन्नता उन्नतिं प्राप्ताः स्मः । त्वं विभवैर्गजतुरगाद्यैश्वर्यैः ख्यातोऽसि, नोऽस्माकमपि यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति विस्तारयन्ति । त्वमिव वयमपि लोके प्रसिद्धा इत्यर्थः। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण हे मानद मानं द्यति खण्डयति तत्संबुद्धिः हे मानद, उभयोरप्यावयोरन्तरं भेदोऽतिदूरमतिशयेन नास्ति । तस्माद्यदि त्वमस्मासु विषये पराङ्मुख आदररहितस्तर्हि वयमपि एकान्ततोऽत्यन्तं निःस्पृहा वाञ्छारहिताः स्मेति शेषः । अत्यन्तनिःस्पृहत्वाद्वयं त्वदीयादरापेक्षां सुतरां न कुर्म इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

लोके भूपतित्वाभिमानोऽतितुच्छत्वाद्वृथैवेत्याह—

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम्।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥ २४ ॥

अभुक्तायामिति ॥ यस्यां क्षणमपि क्षणमात्रकालमपि अभुक्तायां सत्यां नृपशतैरनेकनृपैर्न यातं न गमनं कृतं, किं तु, अनन्ताः पूर्वे नृपतयो भुक्त्वैव याताः न तु चिरकालं स्थिता इत्यर्थः । अचिरस्थायिसंभोगवत्यास्तस्या लाभे न किंचित्फलमित्याह—भुव इति । तस्याः पृथिव्या लाभे क्षितिभुजां क इव बहुमानः । न कोऽपीत्यर्थः । सत्यपि संभोगलाभे न सर्वस्याः किं तु तल्लेशमात्रस्य सः । तथा च तल्लाभेन महान्संतोषो न विधेय इत्याह—तदंशस्येति । तस्याः पृथिव्या अंशस्याप्यंशे तथा तस्यांशस्यावयवलेशस्तस्मिन् वयं पतयः स्वामिन इति जडा मूर्खाः विषादे कर्तव्ये सति प्रत्युत विपरीतं मुदं हर्षं विदधति कुर्वते । यत्किंचिदंशे पतित्वलाभेन हर्षकरणमनुचितमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

परिच्छिन्नैश्वर्यवद्भ्यो राजभ्यो धनादियाचनमत्यन्तमनुचितमिति सूचयंस्तेभ्यो धनाकाङ्क्षिणः पुरुषान्निन्दयन्नाह—

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणु-
रङ्गीकृत्य स एव संयुगशतै राज्ञां गणैर्भुज्यते ।
नो दद्युर्ददतेऽथवा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान्वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये॥२५॥

मृत्पिण्डेति ॥ सर्वोऽप्ययं मृत्पिण्डः पृथ्वीरूपो यतो जलरेखया समुद्रेण वलयितो वेष्टितोऽस्तीति शेषः । "परिवृत" इति पाठेऽपि स एवार्थः । ननु इति वितर्के । अयं अणुरल्पोऽस्ति न त्वपरिच्छिन्नः । स एव संयुगशतैः सङ्ग्रामशतैरङ्गीकृत्य स्वीकृत्य राज्ञां गणैः समूहैर्भुज्यते । "भागीकृत्य तमेव संयुगशतै राज्ञां गणा भुञ्जते" इति पाठे संयुगशतैस्तमेव भागीकृत्य विभागं कृत्वा राज्ञां गणाः समूहा भुञ्जत इत्यर्थः । ते राजानः पूर्वं नो दद्युरथवेदानीं किमपि यत्किंचिद्ददते अतएव क्षुद्रास्तुच्छा दरिद्राः कृपणाः सन्ति । तथापि ये पुरुषास्तेभ्योऽपि धनकणान्द्रव्यलेशान्वाञ्छन्ति । "धनलवम्" इत्यपि पा-

ठः । तान्पुरुषाधमान्पुरुषापसदान् धिग्धिगिति । धिग्योगे द्वितीया । ते पुरुषा अतिनिन्द्या इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

विद्वदवमानिनः केवलं नटादिसत्कारकारिणः कुत्सितस्य राज्ञः सेवाया अत्यन्तानौचित्यमिति सूचयन्नाह—

न नटा न विटा न गायना न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः ।
नृपसद्मनि नाम के वयं कुचभारानमिता न योषितः ॥ २६ ॥

नेति ॥ वयं नटाः शैलूषा न । "शैलालिनस्तु शैलूषाः" इत्युपक्रम्य "भरता इत्यपि नटाः" इत्यमरः । विटा जाराः । परस्त्रीवशीकरणे समर्था इति यावत् । "वेश्यापतिर्भुजङ्गः स्याद्विटः पालविकः स्मृतः" इति हलायुधः । गायना गायन्ती ते गायना गानकर्तारः । "ण्युट् च" इति कर्तरि ण्युट् । परेषां द्रोहे निबद्धा बुद्धिर्येषां ते न । "न च सत्येतरपक्षपातिनः" इति पाठे सत्यादितरदसत्तस्मिन्पक्षपातोऽस्त्येषां ते । असत्पक्षपातिन इति यावत् । कुचभारेण स्तनभारेण आनमिता नम्रा योषितः स्त्रियोऽपि न, "स्तनभारोन्नमिता" इत्यपि पाठः । अतो नृपसद्मनि राजगृहे उक्तानामेतेषां मध्ये वयं के । न केऽपीत्यर्थः। कथमपि न मानार्हा इत्यर्थः । यत्र राज्ञः सभायां नटादीनामेव संमानार्हत्वं न विदुषां तस्य राज्ञ आराधनमस्मादृशामनुचितमिति भावः । वैतालीयं वृत्तम् । "षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः" इति ॥

कालवशेन विद्याया उत्तरोत्तरं ह्रासं वर्णयन् मूर्खराजसेवाविषये परमादरमविधाय संसारोच्छेदहेतुभूतां विद्यामेव संपादयेदिति सूचयन्नाह—

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्ध्यै विषयिणाम् ।
इदानीं तु प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा-
नहो कष्टं सापि प्रतिदिनमधोधः प्रविशति ॥ २७ ॥

पुरेति ॥ पुरा पूर्वं विद्वत्ता, उपशमः शान्तिरस्त्येषां तेषां आसीत् । "अमलिनधियां" इति पाठे न मलिना कामक्रोधादिना कलुषिता धीर्बुद्धिर्येषां तेषामित्यर्थः । क्लेशस्य संसारजन्यदुःखस्य हतिर्नाशस्तस्यै आसीत् । संसारदुःखनाशसमर्थाऽसीदित्यर्थः । असावेव कालेन गता प्राप्तापि सती विषयिणां विषयसंबन्धि यत्सुखं तस्य सिद्ध्यै आसीत् । विषयसुखसिद्धिप्रदे-

वासीदित्यर्थः । इदानीं तु वर्तमानकाले तु क्षितितलं भुञ्जन्ति तान् क्षितितलभुजो राज्ञः, "क्षितिलवभुज" इति पाठे क्षितेः पृथिव्या लवं लेशम् । एकदेशमिति यावत् । भुञ्जन्ति तानित्यर्थः । शास्त्रविमुखान् शास्त्रपराङ्मुखान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा सापि विद्वत्ता प्रतिदिनमहरहः अधोधः प्रविशति गच्छति । अत्यन्तनीचस्थितिं प्राप्तेत्यर्थः । इत्यहो कष्टम् । विद्यायाः समूलोच्छेददशामालोच्य तद्रक्षणविषये पुरुषेण यत्नोऽवश्यं विधेय इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

जन्मप्रभृति मरणपर्यन्तं श्रद्धापूर्वकं भगवदाराधनं कुर्वतां पुरुषाणामेव जन्मसाफल्यं नेतरेषामिति सूचयन्नाह—

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलङ्कारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥ २८ ॥

स जात इति ॥ स पुरुषः कोऽपि जात उत्पन्न आसीत् । सफलजन्मेत्यर्थः। स कः, यस्य धवलं शुभ्रं कपालं शिरोऽस्थि मदनस्य कामस्य रिपुः शिवस्तेन अलङ्कारस्य भूषणस्य विधिर्विधानं तस्मै । अलंकरणायेति यावत् । उच्चैरुन्नतं यथा स्यात्तथा मूर्ध्नि विनिहितं धृतम् । अधुना सांप्रतं प्राणस्य त्राणे त्राणाय वा प्रवणा नम्रा मतिर्येषां तैरतएव नमद्भिर्नमस्कारं कुर्वद्भिः अन्यैर्जातैः कैश्चिन्नृभिर्हेतुभिः पुंसां इतरजननमनेन संतुष्यतां पुरुषाणामयं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानः अतुलोऽनुपमो दर्पज्वरो गर्वतापस्तस्य भरोऽतिशयः कः अतिकुत्सितः । व्यर्थ इति यावत् । जन्मारभ्य मरणपर्यन्तं श्रद्धापूर्वकं भगवदाराधनमेव कुर्वतां तेन तुष्यता भगवता तेषामेव कस्यचिदवयवस्य शिरसा धारणेनानुगृहीतानामेव जन्मसाफल्यं तदितरेषां कतिपयजननमनमात्रेण संतुष्यतां तेनैव महान्तं गर्वं वहतां केनापि प्रकारेण भगवदननुगृहीतानां जन्मनः सर्वथा वैफल्यमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

कस्यचिन्निःस्पृहस्य राज्ञा सह संवादमुखेन स्वसाम्यं वदतः पथिकस्य वृत्तान्तं वर्णयन् राजसेवनस्यातितुच्छत्वं सूचयन्नाह—

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनान्धा मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न चेत्सा त्वयि मम सुतरामेष राजन् गतोऽस्मि ॥२९॥

अर्थानामिति ॥ हे राजन्, त्वमर्थानां द्रव्याणामीशिषे ईशितासि, वयमपि च गिरां वाणीनामीश्महे ईशितारः स्मः। यावत्संपूर्णमित्थमनेन प्रकारेणास्ति। त्वं शूरः शत्रुजये समर्थोऽसि, नोऽस्माकं च वादिनां प्रतिपक्षिणां दर्पज्वरोऽहङ्कारतापस्तस्य शमनविधौ नाशनविधौ अक्षयं निश्चलं पाटवं पटुत्वमस्ति। वादिविजये वयं शूरा इत्यर्थः। धनान्धा धनप्राप्त्यर्थं किं कर्तव्यं किं न कर्तव्यमितिविवेकशून्यास्त्वां सेवन्ते। मतेर्बुद्धेर्मलः कालुष्यं तस्य हतये नाशाय श्रोतुकामा उपनिषदादिश्रोतारो मामपि सेवन्ते, इति संबन्धः। एवं सत्यपि यदि मय्यपि तवाऽस्था न चेत्तर्हि ममापि त्वयि सुतरां सा नास्ति। हे राजन्, एषोऽहं गतोऽस्मि। एवं साम्योद्भावनं कुर्वता गच्छता निःस्पृहेण पथिकेनेव केनापि पुरुषेणातिगहना राजसेवा न कार्यातितुच्छत्वात्किं तु भगवद्भजनमेव कर्तव्यमिति भावः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥

दुर्वृत्तराजादिसेवनेन जीवनापेक्षया भिक्षाशनादिना जीवनं वरमिति सूचयन् कस्यचिद्वैराग्यवत उक्तिमाह—

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः॥ ३०॥

अशीमहीति ॥ वयं भिक्षामेवाशीमहि भुञ्जामहे। आशा दिगेव वासो वस्त्रं वसीमहि परिदध्महे। महीपृष्ठे पृथ्वीतले शयीमहि स्वपिमः। ईश्वरैरैश्वर्ययुक्तैः पुरुषैः किं कुर्वीमहि किं कुर्महे। प्रयोजनाभावादित्यर्थः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

इह संसारे सुखहेतुभूतानां मानादीनां नाशे सति पुनस्तत्संपादने यत्नमविधाय गङ्गया विराजमाने हिमालयकुञ्जे निवास एव विधेय इत्याह—

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थं प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः-
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरदरीकुञ्जे निवासः क्वचित्॥ ३१॥

मान इति ॥ माने म्लायिनि गलिते सति, वसुनि द्रव्ये खण्डिते नष्टे सति अर्थिनि याचके व्यर्थं सत्काररहितं यथास्यात्तथा प्रयाते गते सति, बन्धुजने क्षीणे सति, परिजने परीवारे गते सति, यौवने तारुण्ये शनैर्मन्दं मन्दं नष्टे सति सुधियां केवलमेतदेव युक्तं योग्यम्। एतत्किम्। जह्नुकन्याया भागीरथ्याः पयसा पूताः पवित्रा ग्रावाणः पाषाणा यस्मिन्नेवंविधो गिरीन्द्रो हिमालयस्तस्य कन्दरो विवरम्। "कन्दरोऽङ्कुरे। विवरे च गुहायां च" इति

मेदिनी । तस्मिन् या दरी गुहा तस्यां कुञ्जो लतापिहितप्रदेशस्तस्मिन् क्वचिन्निवासो वसतिरिति यत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

क्लेशबहुलेतरधनिकचेतःप्रसादकरणापेक्षया स्वस्वान्तःप्रसन्नताकरणमत्यन्तसुखप्राप्तिकरमिति स्वचित्तं प्रति बोधयतः कस्यचिदुक्तिमनुवदन्नाह—

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलिलम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥ ३२ ॥

परेषामिति ॥ हे हृदय हे मनः, परेषामन्येषां चेतांसि प्रतिदिवसं दिवसंदिवसं प्रति बहुधा बहुप्रकारेणाराध्य संसेव्य प्रसादं प्रसन्नतां नेतुं प्राप्तं क्लेशरूपकलिलं गहनं दुःखमरण्यं वेति यावत् । किं विशसि प्रविशसि । स्वयं उदिताः प्रादुर्भूताश्चिन्तामणेर्गुणा यस्मिन्नेवंविधे त्वयि अन्तरभ्यन्तरे प्रसन्ने सति विमुक्तस्त्यक्तः संकल्पः तेऽभिलषितमिच्छितं किं न पुष्यति । अपि तु सर्वं पुष्यत्येवेत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

प्रसन्नमनसा शिवभक्तिं कुर्वतां पुरुषाणां कदापि दुःखं न भवति किंतु सर्वदा सुखमेव भवतीति सूचयन्नाह—

स्थितिः पुण्यारण्ये सह परिचयो हन्त हरिणैः
फलैर्मेध्या वृत्तिः प्रतिदिवसतल्पानि दृषदः ।
इतीयं सामग्री भवति हरभक्तिं स्पृहयतां
वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्तैकमनसाम् ॥ ३३ ॥

स्थितिरिति ॥ पुण्यारण्ये पुण्यकारकवने स्थितिः स्थानम् , हन्तेति हर्षे । हरिणैर्मृगैः सह परिचयः संबन्धः, फलैर्वन्यफलैर्मेध्या पवित्रा वृत्तिर्जीविका, दृषदः पाषाणाः प्रतिदिवसं तल्पानि शय्याः, इति अनेन प्रकारेणेयं हरस्य शिवस्य भक्तिं स्पृहतामिच्छतां उपशान्तं रागादिरहितमेकं केवलं मनो येषां तेषां पुरुषाणां सामग्री परिकरो भवति । अतस्तेषां वनमरण्यं गेहं गृहं वा सदृशं तुल्यमस्तीति शेषः । वृत्तं पूर्वोक्तमेव ॥

आशुविनाशिनां प्राणानां रक्षणार्थं राजादीनामग्रे स्वगुणख्यापनादिकमनुचितमिति सूचयन्नाह—

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।

यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःशङ्कमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥ ३४ ॥

अमीषामिति ॥ विगतो विवेको येषां तैरस्माभिः बिसिन्याः कमलिन्याः पत्रेषु पयो जलं तुलितं बिसिनीपत्रपयो येषां तेषाम् । अचिरस्थायिनामित्यर्थः । एवंविधानां अमीषां प्राणानां कृते । प्राणरक्षणार्थमित्यर्थः । किं न व्यवसितं न कृतम् । अपि तु सर्वमेव कृतमित्यर्थः । यद्यस्मात् द्रविणस्य धनस्य मदेन गर्वेण निःशङ्कं मनो येषां तेषामाढ्यानां धनिकानामग्रे वीता गता व्रीडा लज्जा येषां तैरस्माभिर्निजगुणानां स्वकीयगुणानां कथाकथनं तद्रूपं यत्पातकं तदपि कृतमिति । शिखरिणी वृत्तम् ॥

सततमात्मापकारजनकमेव कर्म कुर्वतः पुरुषस्य पश्चात्तापपूर्वकोक्त्यनुवादेन आत्मसुखजनकमेव कर्म सदा कर्तव्यमिति सूचयन्नाह—

अनावर्ती कालो व्रजति स वृथा तन्न गणितं
दशास्तास्ताः सोढा व्यसनशतसंपातविधुराः ।
कियद्व्याचक्षामः किमिव बत नात्मन्यपकृतं
किमस्माभिर्यावत्पुनरपि तदेव व्यवसितम् ॥ ३५ ॥

अनावर्तीति ॥ न आवर्तते न परावर्तते तच्छीलोऽनावर्ती । पुनः परावर्तनरहित इति यावत् । एवंविधः कालः स वृथा निष्फलो व्रजति गच्छति । तन्न गणितम् । तथा व्यसनानां शतानि तेषां संपातः पतनं तेन विधुरा विकलाः । "विधुरं विकले त्रिषु" इति त्रिकाण्डशेषः । तास्ता दशाः सोढा मर्षिताः । कियत् व्याचक्षामः कियद्ब्रूमः । अस्माभिरात्मनि स्वस्मिन्विषये किमिव नापकृतम् । अपि तु सर्वमपकृतमेवेत्यर्थः । बत इति खेदे । यावत्संपूर्णं किं कुत्सितं पुनरपि तदेव व्यवसितं कृतम् । अपकारबुद्ध्या किमपि न त्यक्तमित्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

कालवशेन विनाशं प्राप्नुवतामचिरस्थायिनां राज्ञां सेवनादि विहाय भगवत्सेवनमेव कर्तव्यमिति सूचयन्नाह—

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च त-
त्पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥ ३६ ॥

भ्रातरिति ॥ हे भ्रातरिति सुहृद्भावेन संबोधनम् । यः पूर्वं दृष्टोऽस्माभिः

स एव महान् नृपतिः राजा, तस्य पार्श्वे तदेव सामन्तचक्रं माण्डलिकराजमण्डलम्, सापि सैव राजपरिषद्राजसभा, चन्द्रबिम्बवदाननं यासां तास्ता एव स्त्रियः, उद्रिक्त उन्मत्तः स एव राजपुत्रनिवहो राजपुत्रसमूहः, त एव बन्दिनः स्तुतिपाठकाः, ता एव कथा गोष्ठ्यः, एतत्पूर्वोक्तं सर्वं यस्य कालस्य वशात्स्मृतिपदं स्मरणमार्गमगात् । कथाशेषं जगामेत्यर्थः । अहो कष्टम् । तस्मै कालाय नमोऽस्तु । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

यस्य स्वीयदेहस्य रक्षणार्थं राजादिसेवनं विधीयते तस्य देहस्यापि विनाशित्वात्तद्विषयेऽप्यास्थां विहाय भगवदाराधने यत्नो विधेय इत्यभिप्रायवानाह—

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्म प्रतिदिवसमासन्नपतना-
द्गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥ ३७ ॥

वयमिति ॥ वयं येभ्यः पित्रादिभ्यो जातास्ते चिरं चिरकालेन परिगता नष्टाः । मृता एवेत्यर्थः । खलु निश्चयेन । यैः भ्रात्रादिभिः समं सह संवृद्धा वृद्धिं प्राप्तास्तेऽपि स्मृतिविषयतां स्मृतिगोचरतां गमिताः प्रापिताः । कालेनेति शेषः । इदानीमस्मिन्काल एते वयं प्रतिदिवसं दिवसंदिवसं प्रति आसन्नं समीपप्राप्तं यत् पतनं मृत्युः तस्माद्धेतोः सिकता वालुका विद्यन्ते यस्यां सा सिकतिला एतादृशी या नदी तस्यास्तीरसंबन्धितरुभिर्वृक्षैस्तुल्या समाना । यावस्था तां गताः प्राप्ताः स्म । वालुकामयनदीतीरसंबन्धिनो वृक्षा यथा विनाशोन्मुखास्तथा वयमपि विनाशोन्मुखा जाता इत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

पुत्रादिपरिवारसहवासस्यापि कालवशेनानियतत्वात्तद्विषयेऽप्यास्था न विधेयेति सूचयन्नाह—

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र चान्ते न चैकः ।
इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन्द्वापि चाक्षौ
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणिशारैः ॥ ३८ ॥

यत्रानेक इति ॥ यत्र क्वचिदपि गृहे अनेकः पुत्रदारादिः कालवशेन तत्रैक एव तिष्ठति । अथानन्तरं यत्राप्येकस्तदनु बहवः भवन्तीति शेषः । तत्र

चाम्ते एकोऽपि न । इत्थं अनेन प्रकारेण बहुधः कलानिमेषादयो यस्मिन् । यद्वा बहून्विषयान्कलयति स्वेच्छानुरोधेन संपादयतीति बहुकलः । एतादृशः काल इमौ प्रसिद्धौ रजनी रात्रिः दिवसो दिनं च तावेव अक्षौ पाशकौ "अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते" इत्यमरः । दोलयन्प्रक्षिपन् सन् काल्या स्वस्त्रिया मारकशक्त्या सह प्राणिन एव शाराः काष्ठादिरचितद्यूतोपकरणविशेषाः (सोंगटी इति ख्याताः) "शारः स्याच्छबले वाच्यलिङ्गः पुंसि समीरणे । अक्षोपकरणे" इति मेदिनी । तैः क्रीडति क्रीडां करोति । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" इति तल्लक्षणात् ॥

अत्यल्पायुषि अस्मिन्लोके अवश्यकर्तव्यकर्मणां बहुत्वेन कर्तुमशक्यत्वात्किं कर्तव्यमिति संदिहानो विचारं कुर्वन् तपस एवात्यन्तसुखहेतुत्वमिति स्वयमेव निर्णीय तस्यैवावश्यकर्तव्यतामभिप्रेत्याह तपस्यन्त इत्यादिश्लोकचतुष्टयेन—

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचयामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसा-
न्न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥ ३९ ॥

तपस्यन्त इति ॥ वयं कतिपया निमेषा आयुर्यस्य तस्मिन् एतादृशे अस्मिन् जने लोके किं कुर्म इति न विद्मः । इति किम् । तपस्यन्तस्तपश्चर्यां कुर्वन्तः सन्तः सुरनदी भागीरथीमधि । तत्तीर इति यावत् । निवसामो वासं कुर्मः किम् । उताथवा गुणैरुदारान्प्रौढान् दारान्स्त्रियः सविनयं नम्रतापूर्वकं परिचयाम आश्रयामः । गृहे स्थित्वा गृहस्थाश्रमधर्ममेवाचराम इत्यर्थः । अथवा शास्त्रौघान् वेदान्तादिशास्त्रसमूहान् पिबाम । सेवामह इति यावत् । उत विविधानि काव्यानि तान्येवामृतरसास्तान्वा पिबाम इति । शिखरिणी वृत्तम् ॥

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्टे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
सदा पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रजपतः ॥ ४० ॥

अहाविति ॥ अहौ सर्पे वा हारे पुष्पादि स्रजि वा, बलवति बलिष्ठे रिपौ शत्रौ वा सुहृदि मित्रे वा, मणौ हीरकादौ वा लोष्टे मृत्खण्डे वा, कुसुमशयने पुष्पपर्यङ्के वा, दृषदि पाषाणे वा, तृणे वा स्त्रैणे स्त्रीसमूहे वा

समदृशः समानदृष्टेः सदा पुण्ये पुण्यकारकेऽरण्ये वने शिवशिवशिवेति प्रजपतो जपं कुर्वतो मम दिवसा यान्तु गच्छन्तु । शिखरिणी वृत्तम् ॥

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये ॥ ४१ ॥

गङ्गातीर इति ॥ गङ्गातीरे भागीरथीतीरे हिमगिरेः शिलायां बद्धं पद्मासनं येन तस्य ब्रह्मध्यानस्याभ्यसनमाभ्यासस्तस्य विधिर्विधानं तेन योगनिद्रां समाधिं गतस्य प्राप्तस्य मम तैः सुदिवसैः भाव्यं किं ते सुदिवसा भविष्यन्ति किम् । यत्र येषु दिवसेषु ते जरठहरिणा वृद्धमृगा निर्विशङ्का भयरहिताः सन्तो मदीयेऽङ्गे शृङ्गं कण्डूयन्ते घर्षणसुखं कुर्वन्ति । यस्यां मृगैः क्रियमाणं कण्डूयनमपि न ज्ञायते तादृशी समाधिर्मम कदा भविष्यतीत्यर्थः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिवशिवशिवेत्यार्तवचसः
कदा स्यामानन्दोद्गमबहुलबाष्पाकुलदृशः ॥ ४२ ॥

स्फुरदिति ॥ शान्तो ध्वनिर्यासु एवंविधासु रजनीषु रात्रिषु स्फुरन्ती देदीप्यमाना स्फारा वृद्धिं प्राप्ता या ज्योत्स्ना चन्द्रिका तया धवलितं शुभ्रीभूतं तलं यस्य तस्मिन् । "जले" इति पाठे धवलितं जलं यस्मिन्नित्यर्थः । एवंविधे द्युसरितो भागीरथ्याः पुलिने तटे सुखेनासीनाः स्थितास्तथा भवस्य संसारस्य आभोगोऽतिशयेन सेवनं तेनोद्विग्नाः खिन्नाः अतएव शिवशिवशिवेति आर्तं दुःखकारकं वचो येषां ते तथाविधाः आनन्दस्योद्गमः प्रादुर्भावस्तेन बहुलानि यानि बाष्पाणि नेत्राश्रूणि तैराकुले दृशौ नेत्रे येषां ते एतादृशा वयं कदा स्याम भवाम । "आर्तवचसां" इति तृतीयान्तपाठे वचसा करणभूतेनेत्यर्थः । "कदा स्यामो हर्षोद्गमबहुलबाष्पप्लुतदृशः" इत्यपि क्वचित्पाठः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

आशापरित्यागस्य दुस्त्यजत्वं नदीरूपकेण वर्णयन् तत्त्यागस्यात्यन्तं सुखहेतुत्वमाह—

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।

मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ ४३ ॥

आशेति ॥ मनोरथोऽभिलाष एव जलं यस्यां सा, तथा तृष्णास्तर्षः। पिपासा इति यावत्। "तृष्णा स्त्रात्तर्षलिप्सयोः" इति मेदिनी। तरङ्गास्तैराकुला व्याप्ता। तथा। रागा अनुरागा एव ग्राहा मकरादयो विद्यन्ते यस्यां सा तथा वितर्का एव विहगाः पक्षिणो यस्यां सा, तथा धैर्यरूपो द्रुमो वृक्षस्तस्य ध्वंसिनी नाशिनी, तथा मोहा एवावर्ता जलभ्रमास्तैः सुदुस्तरा तर्तुमशक्या, तथा अतिगहना अत्यन्तं गम्भीरा, प्रकर्षेणोत्तुङ्गोन्नता या चिन्ता सैव तटं यस्याः सा एवंविधा आशानाम नदी अस्ति तस्याः पारं गताः, तथा विशुद्धं मनो येषां ते तथाविधा योगीश्वरा नन्दन्ति। हर्षं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। आशात्यागिनः पुरुषा अत्यन्तसुखानुभववन्तो भवन्तीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

मनोनियमनकर्तुः पुरुषस्य दौर्लभ्यं दर्शयन्नाह—

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात ताद-
ङ्नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढरूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलाम् ॥ ४४ ॥

आसंसारमिति ॥ हे तात, तादृक् तादृशः स पुरुषः आसंसारं संसारं यावत् इदं त्रिभुवनं चिन्वतां मृगयतामस्माकं नयनपदवीं नेत्रमार्गं वा अथवा श्रोत्रवर्त्म कर्णमार्गं नैवागतोऽस्तीति शेषः। स कः। योऽयं पुरुषः विषय एव करिणी हस्तिनी तस्यां गाढो दृढो रूढो योऽभिमानस्तेन क्षीबस्य मत्तस्यान्तःकरणमेव करी हस्ती तस्य संयम इन्द्रियनिग्रह एवालानं गजबन्धनं तस्य लीलां धत्ते धारयति। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

शिवाराधनापूर्वकं गङ्गातीरनिवासादिकं सर्वं सोढव्यं न याचनाविशिष्टं जीवनमिति सूचयन्नाह—

महादेवो देवः सरिदपि च सैवामरसरि-
द्गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥ ४५ ॥

महादेव इति । देव एको महादेव एव, सरिदपि सा प्रसिद्धा अमरसरिदेव गङ्गैव । स्नानाद्यर्थमित्यर्थः । अगारं गृहं गुहा एव कन्दर्य एव, वसनं वस्त्रमपि ताः प्रसिद्धा हरितो दिश एव । वस्त्राहित्येन निर्वाह इत्यर्थः । सुहृन्मित्रं अयं प्रसिद्धः कालो वा काल एव, दयिता भार्याऽपि वटविटपो वटवृक्षशाखा सैवास्तु । इदं सर्वं व्रतं नियमो न विद्यते दैन्यं याचनारूपं यस्मिन्नेतादृशं व्रतं भवति । याचनारहितं व्रतमित्यर्थः । इदं कियद्वा वक्ष्यामोऽपितु सर्वमुक्तमेवेत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

धनाढ्यादिसेवनापेक्षया वने स्थित्वा भगवदाराधनमेव वरमिति बोधयन्नाह—

ये वर्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाऽल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्यस्तबुद्धेः ।
तेषामन्तःस्फुरितहसितं वासराणां स्मरेयं
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥ ४६ ॥

ये वर्तन्त इति ॥ धनपतेर्धनाढ्यस्य पुरोऽग्रभागे प्रार्थना याचना तस्या यद्दुःखं तद्भजतीति भाक् तस्य मम ये वासरा दिवसा वर्तन्ते स्मेति शेषः । एवमुत्तरत्रापि । ये च विषयैः कृत्वा य आक्षेपो भर्त्सनं तेन पर्यस्ता विपरीता बुद्धिर्यस्य ममाल्पत्वं दधति स्म । तेषां वासराणाम् । तान्दिवसानित्यर्थः । अहं ध्यानस्य छेदे विच्छेदे । समाधेरुत्थाने सतीत्यर्थः । अन्तरभ्यन्तरे स्फुरितं स्फुरद्रूपं हसितं यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा स्मरेयं स्मरामि । कथमेते वासरा अतिसुखदा अतीता वासरास्त्वतिदुःखदा इत्याश्चर्यपूर्वकं स्मरामीति भावः । कीदृशोऽहम् । शिखरिणः पर्वतस्य कुहरं गुहा । "कुहरं गह्वरे छिद्रे" इति मेदिनी । तस्मिन् ये ग्रावाणः पाषाणास्त एव शय्या तस्यां निषण्ण उपविष्टः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

विद्यादिसंपादनमकुर्वतः परदत्तान्नेन जीवनं संपादयतो ममायुर्व्यर्थं गतमिति पश्चात्तापपूर्वकं वदन् विद्यादिसंपादनस्यावश्यकतां बोधयन्नाह—

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रूषाऽपि समाहितेन मनसा पित्रोर्न संपादिता ।
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेरितः ॥ ४७ ॥

विद्येति ॥ कलङ्करहिता दोषरहिता विद्या शास्त्रादिरूपा । परमार्थसाधिकेति यावत् । एवंविधा नाधिगता न प्राप्ता । न संपादितेति यावत् । अस्मा-

भिरिति शेषः । एवं सर्वत्र । च पुनः वित्तं धनमपि नोपार्जितं न संपादितम्, तथा समाहितेन स्वस्थेन मनसान्तःकरणेन पित्रोर्माता च पिता च पितरौ तयोः शुश्रूषा सेवापि न संपादिता न कृता, तथा आलोले चञ्चले आयते विस्तीर्णे लोचने नेत्रे यासां ता युवतयस्तरुणस्त्रियः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः, सांसारिकं सुखं किमपि नानुभूतमित्यर्थः । किंतु अयं कालः काकैरिवास्माभिः परपिण्डे अन्यदत्ताहारे लोलुपता लुब्धता तया प्रेरितः प्रक्षिप्तः । नीत इति यावत् । परपिण्डोपजीवनेनातिवाहित इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

संसारस्यातिदुःखदत्वं दृष्ट्वा तत्त्यागपूर्वकं वने स्थित्वा सुखदत्वाच्छिवचरणाराधनमेव कर्तव्यमित्याह—

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामावधिगतिम् ।
वयं पुण्येऽरण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणै-
स्त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥ ४८ ॥

वितीर्ण इति ॥ वयं सर्वस्वे सर्वधने वितीर्णे दत्ते सति । सर्वस्वदाने कृते सतीत्यर्थः । हरस्य शिवस्य चरणावेव चित्तस्यैकं शरणं रक्षितृ येषां ते अथवा हरचरणयोः संलग्नं यच्चित्तं तदेवैकशरणं येषां ते अथवा हरचरणयोश्चित्तं येषां ते शिवभक्तास्त एवैकं शरणं येषां ते तथाविधाः सन्तः पुण्ये पुण्यकारकेऽरण्ये परिणताः परिणामं प्राप्ता ये शरदि चन्द्रकिरणास्तैः सह त्रियामां रात्रिं नेष्यामः । चन्द्रकिरणैः पुण्ये सुखदे अरण्ये इति वा संबन्धः कर्तव्यः । चन्द्रकिरणे इति सप्तम्यन्तपाठेऽरण्यविशेषणम् । कीदृशा वयम् । तरुणा या करुणा कृपा तया पूर्णं परिपूर्णं हृदयं येषां ते । पुनः किंदृशाः । अस्मिन्संसारे विगुणो विपरीतो यः परिणामः स्वरूपान्यथाभावः स एवावधिः सीमा यस्या एतादृशीं गतिमवस्थां स्मरन्तश्चिन्तयन्तः । संसारस्य सदोषत्वं सान्तत्वं च चिन्तयन्त इत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

मनःसंतोषस्यात्यन्तसुखहेतुत्वमिति राजानं प्रत्याह—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥ ४९ ॥

वयमिति ॥ हे राजन्, इह संसारे वयं वल्कलैः परितुष्टाः स्मः । त्वं च लक्ष्म्या परितुष्टोऽसि । उभयोः परितोषः संतोषः समोऽस्ति । इह उभयोः संतोषयोर्मध्य एकस्य निर्विशेषः । भावप्रधानो निर्देशः । यद्विशेषराहित्यं स एव विशेषः । तदेवोपपादयति—यस्य तृष्णा विशाला विस्तीर्णा स तु दरिद्रो भवति । मनसि परितुष्टे सति अर्थवान्धनवान्कः दरिद्रश्च कः । न कोपीत्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥

यत्स्वच्छन्दवर्तनादिकं तन्महतस्तपसः फलमित्याह—

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश-
न्न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ५० ॥

यदेतदिति ॥ एषा उदारस्य महतः कस्य तपसः परिणतिः परिणाम एतद् चिरस्य चिरकालं विमृशन्विचारयन्नप्यहं न जाने । एषा का । स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा विहरणं विहारः । वर्तनमिति यावत् । "स्वाच्छन्द्यविहरणम्" इति पाठ अर्शआद्यच् । स्वाच्छन्द्यवत् । स्वच्छन्दयुक्तमिति यावत् । अकार्पण्यं दैन्यरहितमशनं भोजनम्, आर्यैः सद्भिः सह संवासः संगतिः, उपशमः शान्तिरेवैकं मुख्यं व्रतफलं नियमसिद्धिर्यस्मिन्नेवंविधं श्रुतं शास्त्रश्रवणम्, बहिरपि बहिर्विषयेष्वपि मन्दः स्पन्दश्चलनं यस्य एवंविधं मन इति यत् सैषा । शिखरिणी वृत्तम् ॥

निःसङ्गत्वेन दैन्यं त्यजतां कर्मनिर्मूलनं कुर्वतां पुरुषाणां धन्यत्वमाह—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमपमलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ ५१ ॥

पाणिरिति ॥ पाणिर्हस्त एव पवित्रं पात्रं भाजनं नान्यत्, भ्रमणेन परिगतं प्राप्तं भैक्षं भिक्षासमूहः अक्षय्यमव्ययमन्नम्, आशानां दिशानां दशकं विस्तीर्णं वस्त्रम्, उर्वी पृथ्वी अपमलं निर्मलं "आशासु दशकममलम्" इत्यपि पाठः । अस्वल्पं महत् तल्पं शय्या । तदुक्तं भागवते द्वितीयस्कन्धे—"सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् । सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः" इति । एवं

येषां निःसङ्गताया अङ्गीकरणं स्वीकारस्तस्य परिणतिः परिणामः, "निःसङ्गतान्तःकरण" इति पाठे निःसङ्गतायामन्तःकरणस्य परिणतिरित्यर्थः । अत एव स्वात्मनि संतोषिणः सन्तोषं प्राप्नुवन्तः, तथा संन्यस्ता दैन्यरूपा ये व्यतिकरा व्यसनानि । दुःखानीति यावत् । तेषां निकरः समूहो यैस्ते, "अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोः" इति मेदिनी । "व्यसनं विपदि भ्रंशे" इत्यमरश्च । एवंविधाः सन्तो ये पुरुषाः कर्म निर्मूलयन्ति निर्मूलं कुर्वन्ति ते धन्याः पुण्यवन्तः सन्तीति शेषः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

इतरराजाद्याराधनापेक्षया तपस एवेहाऽपरत्र श्रेयस्करत्वमाह—

दुराराध्यः स्वामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ।
जरा देहं मृत्युर्हरति सकलं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥ ५२ ॥

दुराराध्य इति ॥ स्वामी चक्रवर्ती राजा दुःखेनाप्याराधयितुं शक्यः, क्षितिभुज इतरे माण्डलिका राजानः तुरगवदश्ववच्चलं चञ्चलं चित्तं येषां ते । अस्थिरचित्ता इति यावत् । एवंविधाः सन्ति । वयं तु स्थूलेच्छा महाशयाः । उदारान्तःकरणा इति यावत् । च पुनः महति पदे सार्वभौमादिस्थाने बद्धं मनो येषां ते एवंविधाः स्मः । जरा देहं हरति नाशयति, मृत्युश्चेदं सकलं जीवितमायुर्हरति । तस्मात् हे सखे, इह जगति तपसोऽन्यत्र तपोविना विदुषः पण्डितस्याऽन्यच्छ्रेयः कल्याणं नास्ति । शिखरिणी वृत्तम् ॥

क्षणभङ्गुरविषयसुखादित्यागपूर्वकं योगाभ्यासः कर्तव्य इत्याह—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालसा तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥ ५३ ॥

भोगा इति ॥ भोगा विषयसुखानि मेघानां वितानो विस्तारस्तस्य मध्ये विलसन्ती या सौदामनी विद्युत् तद्वच्चञ्चलाः । विद्युद्वदतिशीघ्रविनाशिन इत्यर्थः । सन्तीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि शेषपूरणं कर्तव्यम् । तथा आयुर्जीवितं वायुना विघट्टिता चालिता याऽभ्रपटली मेघसमूहस्तस्मिल्लीनं यदम्बु जलं तद्वद्भङ्गुरं नाशशीलमस्ति, तथा तनुभृतां देहिनां यौवने लालसा औत्सुक्यम् ।

"लालसौत्सुक्यतृष्णातिरेकयाच्ञासु च द्वयोः" इति मेदिनी । लोला चञ्चलास्ति । यौवनस्याचिरस्थायित्वेन तदौत्सुक्यस्यापि तथात्वमित्यर्थः । इदं सर्वविषयाणामुपलक्षणम् । सर्वेऽपि विषयाश्चञ्चला इत्यर्थः । तदुक्तं भागवते सप्तमस्कन्धे । "रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा महीकुञ्जरकोशभूतयः । सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः" इति । तथा एतच्छ्लोकटीकायां तदुक्तमितिहासेषु । "धनं हि पुरुषो लोके पुरुषं धनमेव वा । अवश्यमेकं त्यजति तस्मात्किं धनतृष्णया" इति च । इति पूर्वोक्तं सर्वमाकलय्य ज्ञात्वा हे बुधाः, यूयं धैर्येण समाधिना चित्तैकाग्र्येण च या सिद्धिस्तया सुलभे सुसाध्ये । "ध्येयसमाधौ" इति पाठे ध्येयवस्तुविषये यः समाधिस्तेनेत्यर्थः । एवंविधे योगे द्रुतं शीघ्रं बुद्धिं विदध्वं कुरुध्वम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

भिक्षया जीवनं योग्यं न पुनः स्वीयेषु दैन्येनेत्याह—

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीं कपालीं-
मादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम् ।
द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणी स धन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ॥ ५४ ॥

पुण्य इति ॥ मानी अभिमानी प्राणी जन्तुः, "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुः" इत्यमरः । क्षुधया आर्तः पीडितः सन् पुण्ये पुण्यकारके ग्रामे वाथवा महति वनेऽरण्ये सितपटः शुभ्रवस्त्रं तेन छन्ना आच्छादिता पाली आसमन्तात्प्रदेशो यस्यास्ताम्, "पालिः कर्णलतायां स्यात्प्रदेशे पङ्क्तिचिह्नयोः" इत्यजयः । "कृदिकारात्" इति ङीप् । अल्पं कपालं कपाली घटशकलं ताम् । "कपालोऽस्त्री शिरोस्थि स्याद्घटादेः शकले व्रजे" इति मेदिनी । "स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षापचये यदि" इत्यमरात्स्त्रीत्वमपि अपचयेऽल्पत्वे विवक्षा चेदित्यर्थः । गौरादित्वात् ङीप् । आदाय गृहीत्वा उदरमेव दरी गुहा तस्याः पूरणाय पूरणं कर्तुं न्यायो नीतिर्गर्भे येषामेवंविधा ये द्विजा ब्राह्मणास्तैर्हुतो यो हुतभुगग्निस्तस्य यो धूमस्तेन धूम्रं धूम्रवर्णमुपकण्ठमन्तिकभागो यस्यैवंविधं द्वारंद्वारं प्रवृत्तो भवेत्तद्वरं योग्यं, परंतु पुनः अनुदिनं दिवसंदिवसं प्रति तुल्याः समाना ये कुल्याः कुलोद्भवा मान्या वा तेषु दीनो न भवेत् । "कुल्या पयःप्रणाल्याम्" इत्युपक्रम्य । "कुलोद्भवे कुलहिते त्रिषु मान्ये पुनः पुमान्" इति मेदिनी । स धन्योऽस्ति । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

योगिनां स्थितिमाह—

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किंवा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणा जनै-
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥ ५५ ॥

चाण्डाल इति ॥ अयं चाण्डालः किम्, अथवा द्विजातिर्ब्राह्मणः किम्, अथवा शूद्रः किम्, वा अथवा तापसस्तपस्वी किम्, अथवा तत्त्वविवेकेन तत्त्वविवेचनेन पेशला निपुणा मतिर्बुद्धिर्यस्य स एवंविधः कोऽपि योगीश्वरः किम्, इति पूर्वोक्तप्रकारेण उत्पन्ना ये विकल्पजल्पा विकल्पयुक्तभाषणानि तैर्मुखरा वाचालास्तैर्जनैः संभाष्यमाणा अपि योगिनः क्रुद्धा न भवंति तथा तुष्टमनसः संतुष्टान्तःकरणा एवंविधा अपि न भवन्ति किंतु स्वयं स्वेच्छया पथि मार्गे यान्ति गच्छन्ति । दुर्जनैर्भर्त्सिता अपि क्रोधहर्षरहिता योगिनः स्वाच्छन्द्येन वर्तन्त इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

अत्यन्तपापहेतुभूतविषयसेवनं परित्यज्य सुखहेतुभूतं वनवासं कुर्वतः पुरुषस्य धन्यतामाह—

सखे धन्याः केचित्त्रुटितभवबन्धव्यतिकरा
वनान्ते चित्तान्तर्विषमविषयाशीविषगताः ।
शरच्चन्द्रज्योत्स्नाधवलगगनाभोगसुभगां
नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयचित्तैकशरणाः ॥ ५६ ॥

सखे इति ॥ हे सखे हे मित्र, ये केचित्पुरुषाः शरदि शरत्काले यश्चन्द्रस्तस्य ज्योत्स्ना चन्द्रिका तया धवलः शुभ्रो यो गगनाभोग आकाशविस्तारस्तेन सुभगां मनोहरां रात्रिं नयन्ते ते धन्याः सन्तीति शेषः । किंभूताः त्रुटितश्छिन्नो भवबन्धस्य संसारबन्धस्य व्यतिकरः संबन्धो येषां ते तथा वनान्ते वनमध्ये चित्तस्यान्तर्मध्ये ये विषमा विषयास्त एव आशीविषाः सर्पा गता येषां ते, आहिताग्न्यादित्वाद्गतशब्दस्य परनिपातः । तथा सुकृतानां पुण्यानां चयः समूहस्तस्मिन्यच्चित्तं तदेव एकं शरणं येषां ते एवंविधाः । पुण्यसंपादनैकचित्ता इत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

संसारदुःखेन खिन्नः पुरुषः स्वचित्तं प्रार्थयते—

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासदादाशु च
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणम् ।

शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां मतिं
भूयो मा भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥ ५७ ॥

एतस्मादिति ॥ हे चेतः, एतस्मादायासं ददातीत्यायासदं तस्मात्, इन्द्रियाणामर्थो विषयः स एव गहनमरण्यं तस्माद्विरम निवृत्तो भव । "आयासकष्टाश्रयात्" इति पाठे आयासः श्रमः कष्टं दुःखं च तयोराश्रयादित्यर्थः। तथा आशु शीघ्रं श्रेयसः कल्याणस्य मार्गं वर्त्मभूतम्, तथा अशेषाणि यानि दुःखानि तेषां शमने यो व्यापारस्तस्मिन् दक्षं समर्थमेवंविधं शान्तं भावं स्थितिं क्षणं क्षणमात्रमुपैहि प्राप्नुहि । "स्वात्मीभावम्" इति पाठे स्वात्मीभावं स्वः स्वीयः आत्मीभावः स्वरूपस्थितिर्यस्मिन्नेवंविधं श्रेयोमार्गमुपैहीति संबन्धः। तथा कल्लोलवज्जलतरङ्गवल्लोलां चञ्चलां निजां स्वकीयां मतिं बुद्धिं संत्यज । भूयः पुनर्भङ्गुरां नाशशीलां भवे रतिं प्रेम मा भज । मा कुर्वित्यर्थः । किं तर्हि अधुनेदानीं प्रसीद प्रसन्नं भव । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

निराबाधिका वने स्थितिरेव योग्येति मन्वानस्य कस्यचित्पुरुषस्योक्तिमाह—

पुण्यैर्मूलफलैः प्रिये प्रणयिनि प्रीतिं कुरुष्वाधुना
भूशय्या नववल्कलैरकरणैरुत्तिष्ठ यामो वनम् ।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
चित्तव्याध्यविवेकविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ॥ ५८ ॥

पुण्यैरिति ॥ प्रणयिनि प्रणयवति प्रिये इति क्रियाश्चित्तवृत्तेर्वा संबोधनम् । पुण्यैः शोभनैः । "पुण्यं शोभने त्रिषु" इति मेदिनी । मूलानि च फलानि च तैः, तथा न क्रियन्त इत्यकरणैः । अकृत्रिमैरित्यर्थः । भूशय्या च नववल्कलानि च तैः कृत्वा प्रीतिं मनःसंतोषं कुरुष्व । "प्रीतिर्योगान्तरे प्रेम्णि स्मरपत्नीमुदोः स्त्रियाम्" इति मेदिनी । अनायासेनैव तत्प्राप्तिस्थानमाह—उत्तिष्ठेति । अधुना उत्तिष्ठ । वयं तत् वनमेव यामो गच्छामः । तत्किम् । यत्र यस्मिन्वने क्षुद्राणां तुच्छानामीश्वराणां धनिकानां नामापि न श्रूयते । कीदृशानामीश्वराणाम् । अविवेकेन मूढं मोहितं मनो येषां तेषाम् । तथा सदा सर्वकाले चित्तव्याधिर्मनोव्याधिरविवेकश्च ताभ्यां विह्वला व्याप्ता गीर्वाणी येषां तेषाम् । "वित्तध्यानविवेकविह्वलधियाम्" इति पाठे वित्तस्य धनस्य ध्यानं चिन्ता विवेको विचारस्ताभ्यां तत्प्राप्त्युपायविह्वला व्याकुला

धीर्बुद्धिर्येषां तेषामित्यर्थः । "चित्तव्याधिविकारविह्वलगिराम्" इति पाठे चित्तव्याधिर्मनोव्याधिस्तद्रूपो यो विकारस्तेनेत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सांसारिकविषयसुखभोगेच्छां परित्यज्य शिवभक्त्यादिकं कुर्विति स्वचेतः प्रतिबोधयन्नाह—

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरङ्गिणीतटभुवामासंगमंगीकुरु ।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु च प्रत्ययः ॥ ५९ ॥

मोहमिति ॥ हे चेतः, त्वं मोहं मार्जय । तथा चन्द्रस्यार्धः शकलः । कलेति यावत् । स एव चूडामणिः शिरोभूषणं यस्य तस्मिन् शिवे तां रतिं प्रीतिमुपार्जय संपादय । कुर्वित्यर्थः । तथा स्वर्गतरङ्गिणी भागीरथी तस्यास्तटसंबन्धि भुवस्तासामासङ्गं सङ्गतिमङ्गीकुरु स्वीकुरु । गङ्गातीरनिवासं कुर्वित्यर्थः । किंचित्कालं विषयोपभोगादिकं कृत्वा चरमे वयसि तथा करिष्यामीति मनुषे चेदतिचपले तस्मिन्नायुषि विश्वासं मा कुर्वित्याशयेनाह—को वेति । वीचिषु जलतरङ्गेषु तथा बुद्बुदेषु जलविकारेषु तथा तडिल्लेखासु विद्युल्लतासु तथा श्रीषु संपत्सु । "स्त्रीषु" इत्यपि क्वचित्पाठः । ज्वालाग्रेषु वह्निशिखाग्रेषु, तथा पन्नगेषु सर्पेषु, तथा सरिद्वेगेषु नदीवेगेषु को वा प्रत्ययो विश्वासः । न कोऽपीत्यर्थः । अयं भावः । तरङ्गादयः पदार्था यथातिचपलास्तद्वदायुषोऽतिचपलत्वेन तस्मिन् विश्वासो न कार्य इति । अत्र दृष्टान्ततयोपन्यस्तैस्तरङ्गादिभिस्तत्सदृशातिचपलस्य दार्ष्टान्तिकस्यायुषो लाभो बोध्यः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सति तथाविध ऐश्वर्ये संसारसुखाभिलाषं कुरु नोचेदीश्वरध्यानमेव कुर्विति स्वचित्तं प्रति बोधयन्नाह—

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः
पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नो चेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥ ६० ॥

अग्रे इति ॥ हे चेतः, त्वं अग्रेऽग्रभागे गीतं गानम्, तथा पार्श्वतः पार्श्वभागे दाक्षिणात्याः दक्षिणदिग्भवाः सरसाः रसिकाः कवयः, पृष्ठे पृष्ठभागे चामरं प्रकीर्णकं गृह्णन्ति तास्तासां स्त्रीणां लीलया वलयानां कङ्कणानां रणितं

शब्दः । यदि एवं पूर्वोक्तमस्ति तर्हि भवस्य संसारस्य रसस्तस्यास्वादने लम्पटत्वं लोलुपत्वं कुरु । नोचेत्पूर्वोक्तैश्वर्याभावे सहसा शीघ्रमेव निर्विकल्पे द्वैतभ्रमरहिते समाधौ प्रविश प्रवेशं कुरु । समाधिमेवाश्रयस्वेत्यर्थः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

नरके तरणे इच्छा चेत्तर्ह्यादि सुखं हित्वा करुणादिसेवनमेवावश्यं कर्तव्यमिति सूचयन्नाह—

विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात्क्षणभङ्गुरा-
त्कुरुत करुणामैत्री प्रज्ञावधूजनसंगमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥ ६१ ॥

विरमतेति ॥ हे बुधाः यूयं, क्षणभङ्गुरात्क्षणध्वंसिनो योषितां यः सङ्गस्तद्रूपात्सुखाद्विरमत विरक्ता भवत । स्त्रीसंगमे इच्छा चेत्तदर्हा स्त्रिय आह—करुणा सर्वभूतदया च मैत्री सर्वभूतेषु मित्रता च प्रज्ञा आत्मज्ञानं च ता एव वधूजनाः स्त्रीजनास्तासां संगमं संगतिं कुरुत । यतः हारेण मुक्ताहारेणाक्रान्तं व्याप्तमेवंविधं घनं निबिडं स्तनमण्डलं कुचमण्डलमर्थात्स्त्रिया एव, अथवा रणन्ती शब्दायमाना मणियुक्ता मेखला काञ्ची यस्मिन्नेवंविधं श्रोणीबिम्बं कटिमण्डलम् "बिम्बं तु प्रतिबिम्बेऽपि मण्डलं पुंनपुंसकम्" इति मेदिनी ॥ नरके शरणं रक्षितृ न भवति खलु निश्चयेन ॥ हरिणी वृत्तम् ॥

निस्पृहा लक्ष्मीमप्यतितुच्छत्वेन गणयन्तीत्याह—

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्काङ्क्षिणी मास्म भू-
र्भोगेभ्यः स्पृहयालवो न हि वयं का निस्पृहाणामसि ।
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृते
भिक्षासक्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥ ६२ ॥

मातरिति ॥ हे मातर्लक्ष्मि, त्वं अपरमन्यं कंचिद्भजस्व । मत्कांक्षिणी मदिच्छावती मास्मभूर्मा भव । हि यस्माद्वयं भोगेभ्यो भोगान् । "स्पृहेरीप्सितः" इति संप्रदानत्वम् । स्पृहयालवो वाञ्छावन्तो न । त्वं निस्पृहाणां कासि । अभिलषणीया न भवसीत्यर्थः । संप्रतीदानीं वयं सद्यस्तत्कालं पवित्रीकृते स्यूता कृतसीवना या पलाशपत्राणां पुटिका संपुटकः स एव पात्रं तस्मिन् भिक्षया प्राप्ता ये सक्तवस्तैरेव वृत्तिं जीविकां समीहामहे वाञ्छामहे । अतो नास्माकं तवोपयोग इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

अवैराग्यदशायां परस्परमकृत्रिमसुहृत्त्वाद्यभिनिवेशेन आवयोरभेदबुद्धिरासीदिदानीं वैराग्यदशायां तादृशाभिनिवेशाभावेन भेदबुद्धिर्जातेत्यमुमर्थमुभयोः प्रश्नोत्तरमुखेनाह—

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना मित्र यूयं यूयं वयं वयम् ॥ ६३ ॥

यूयमिति ॥ हे मित्र, यूयं वयमेव वयं यूयमेवेति पूर्वमावयोर्मतिरासीत् । मित्रयोः परस्परं सुहृत्त्वाभिनिवेशेनाभेदबुद्धिरासीदित्यर्थः । अधुना किं जातम् । यूयं यूयमेव वयं वयमेवेति बुद्धिर्जाता । इदानीं सुहृत्त्वाभिनिवेशाभावेन परस्परं भेदबुद्धिर्जातेत्यर्थः । तस्मादवैराग्यदशायां सुहृत्त्वाद्यभिनिवेशे सत्यपि वैराग्यदशायां स नश्यतीति भावः । तदुक्तं भारते सनत्सुजातीये । "पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत । ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥" अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

स्वस्य वैराग्यस्थितिं परस्परं संवादमुखेन वर्णयति—

बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।
संप्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥ ६४ ॥

बाले इति ॥ हे बाले, ते लीलया मुकुलितं कुड्मलितं यथा स्यात्तथा, अमी मन्थरा मन्दगामिनो दृष्टिपाता अस्मासु त्वया किं क्षिप्यन्ते । विरम, विरम, एष ते श्रमो व्यर्थ एवास्ति । कुतः संप्रतीदानीं वयमन्येऽभूम । अस्माकं बाल्यमुपरतं शान्तम् । गतमिति यावत् । अस्माकमास्था वनान्ते आसीत् । मोहः क्षीणो नष्टोऽभूत् । जगज्जालं तृणमिवालोकयामः पश्यामः । एवंविधावस्थायां तव कटाक्षक्षेपणं निरर्थकमिति भावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

तामेव वैराग्यस्थितिं प्रकारान्तरेण वर्णयति—

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल-
प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरकुसुमबाणव्यतिकर-
ज्वरज्वाला शान्ता तदपि न वराकी विरमति ॥ ६५ ॥

इयमिति ॥ इयं बाला । इन्दीवरस्य नीलकमलस्य पत्रं पर्णं तस्य प्रभां

कान्ति चोरयतीति चोरं चक्षुर्मां प्रति क्षिपति प्रेरयति, अनया किमभिप्रेतं किं वांछयते । अस्माकं मोहो गतोऽस्ति । स्मरस्य कामस्य कुसुमबाणाः पुष्प शरास्तेषां व्यतिकरो मिश्रीभावः । संबन्ध इति यावत् । तेन यो ज्वरस्तस्य ज्वाला शिखा शान्ता आसीदिति शेषः । "स्मरशबरबाण" इति पाठे स्मर एव शबर इत्यर्थः । तदपि तथापि वराकी अतितुच्छा इयं न विरमति विरामं न प्राप्नोति । सति तादृशे दृढे वैराग्ये कामिन्याः कटाक्षपातादिकं सर्वं व्यर्थमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

स्वहितमिच्छता पुरुषेण अचिरस्थायित्वेन तुच्छत्वबुद्ध्या हर्म्यादिकं सर्वं विहाय वनमेवाश्रयणीयमिति साधुवृत्तान्तप्रदर्शनेनाह—

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं
किंवा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये ।
किंतूद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ॥ ६६ ॥

रम्यमिति ॥ वसतये निवासाय हर्म्यतलं गृहतलं रम्यं मनोहरं न किम्; तथा गेयादिकं गानादिकं श्राव्यं श्रवणीयं न किम्, वाथवा प्राणसमा प्राणतुल्या प्रिया तस्याः समागमस्य सुखं प्रीतये अधिकं नैव किम् । किंतु उद्भ्रान्ता भ्रममाणाः पतन्तश्च पतङ्गाः शलभास्तत्संबन्धी यः पवनो वायुस्तेन व्यालोलाश्चञ्चला दीपाङ्कुरास्तेषां छाया कान्तिस्तद्वच्चञ्चलं सकलं पूर्वोक्तमाकलय्य ज्ञात्वा सन्तः साधवो वनान्तं वनमध्यं गताः स्मः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

अनायासेन जीवनसाधनेषु कन्दादिषु विद्यमानेषु केवलं जीवनेच्छया खलाराधनं सुतरां न कर्तव्यमित्याशयेनाह—

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमुपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोदात्तालपवित्तस्मयवशपवनानर्तितभ्रूलतानि ॥ ६७ ॥

किं कन्दा इति ॥ कन्दरेभ्यो दरीभ्यः कन्दाः जीवनसाधनभूताः प्रलयं नाशमुपगताः किम्, तथा गिरिभ्यः पर्वतेभ्यो निर्झरा उदकप्रवाहाः प्रलयमुपगताः किम् । वाथवा तरुभ्यो वृक्षेभ्यो रसेन सहितानि फलानि बिभ्रति ताः तथा वल्कलिन्यो वल्कलवत्यश्च शाखाः प्रध्वस्ता नष्टाः किम् ।

तदुक्तं भागवते द्वितीयस्कन्धे—"चीराणि किं पथि न संति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपा परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥" इति । यद्यस्माद्धेतोः प्रसभं सवेगं यथास्यात्तथा अपगतः प्रश्रयो विनयो येषां तेषां खलानां दुःखेनोपात्तं प्राप्तमल्पं वित्तं तस्य स्मयो गर्वः स एव पवनो वायुरोगस्तेन नर्तिता भ्रूलता येषु तानि एवंविधानि मुखानि लोकैर्वीक्ष्यन्तेऽवलोक्यन्ते । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

आयाससाध्यपरपिण्डोपजीवनापेक्षया हिमवत्संबन्धिवनाश्रयणेन जीवनं वरमित्याह—

गङ्गातरङ्गहिमशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥ ६८ ॥

गङ्गातरङ्गेति ॥ हिमवतो हिमाद्रेः स्थानानि प्रलयं नाशं गतानि किम् । यद्यस्माद्धेतोः मनुष्याः अवमानेनापमानेन सहितो यः परपिण्डोऽन्यदत्तपिण्डस्तस्मिन् रता भवन्तीति शेषः । कीदृशानि स्थानानि गङ्गाया भागीरथ्यास्तरङ्गा वीचयस्तत्संबन्धिनो ये हिमशीकराः शीताम्बुकणास्तैः शीतलानि । तथा विद्याधरैरध्युषितान्यधिष्ठितानि चारूणि शिलातलानि येषां तानि । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

आशुविनाशिनि शरीरे आशा न विधेयेति मेर्वादिदशाकथनपूर्वकमाह—

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निदलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः ।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकरभकर्णाग्रचपले ॥ ६९ ॥

यदेति ॥ युगान्ते योऽग्निस्तेन दलितः श्रीमान् मेरुर्यदा निपतति । यदेत्यस्य सर्वत्र संबन्धः । यदा प्रचुरा ये मकरा ग्राहाश्च तेषां निलयो गृहं येषु ते एवंविधाः समुद्रा अपि शुष्यन्ति । यदा धरणिधराणां पर्वतानां पादैर्धृताऽपि धरा अन्तं नाशं गच्छति । तदा करिणो गजस्य कलभः शिशुस्तस्य कर्णाग्रं तद्वच्चपले चञ्चले एतादृशे शरीरे का वार्ता कथा । न कापीत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

संसारहेतुभूतानि नानाविधानि कर्माण्याचरन्नतिखिन्नः पुरुषो वैराग्यपूर्वकं स्वस्मिन् कर्मनिर्मूलनसामर्थ्यं प्रार्थयन्नाह—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शंभो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥ ७० ॥

एकाकीति ॥ एकाकी संगरहितः निःस्पृहः आशारहितः, शांतः, शमादिसंपन्नः, पाणिः कर एव पात्रं भाजनं यस्य एवंविधः, दिश एवाम्बरं वस्त्रं यस्य एवंविधोऽहम् । हे शंभो कर्मणां निर्मूलनं नाशनं तत्र क्षमः समर्थ एतादृशः कदा भविष्यामि । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

संपत्त्यादीनामतितुच्छत्वं बुद्ध्वा भक्त्यादिपुरःसरं वैराग्यमेव संपादनीयमित्यर्थं बोधयन्नाह प्राप्ता इत्यादिश्लोकत्रयेण—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
संमानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥ ७१ ॥

प्राप्ता इति ॥ सकलाश्च ते कामास्तान् दुहन्ति ताः । सकलकामपूरणसमर्था इत्यर्थः । एवंविधाः श्रियः प्राप्ताः ततः किम् । न किमपि फलमित्यर्थः । एवमुत्तरत्र सर्वत्र बोध्यम् । तथा विद्विषां शत्रूणां शिरसि पदं चरणं दत्तं ततः किम्, तथा प्रणयिनः सेवकाः विभवैर्गजाद्यैश्वर्यैः संमानितास्ततः किम्, तथा तनुभृतां प्राणिनां तनुभिः शरीरैः कल्पं कल्पपर्यंतं स्थितं ततः किम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

जीर्णा कन्था ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः कि-
मेका भार्या ततः किं हयकरिसुगणैरावृतो वा ततः किम् ।
भक्तं भुक्तं ततः किं कदशनमथवा वासरान्ते ततः किं
व्यक्तज्योतिर्न चान्तर्मथितभवभयं वैभवं वा ततः किम् ॥ ७२ ॥

जीर्णेति ॥ जीर्णा कन्था लब्धेति शेषः । एवमुत्तरत्रापि शेषः पूरणीयः । ततः किं तेन किं सुखादि । न किमपीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । सितं शुभ्रं अमलं निर्मलं पटं वस्त्रमथवा पट्टसूत्रं दुकूलादिकं ततः किम् । "पटश्चित्रपटे वस्त्रेऽस्त्री" इति मेदिनी । एका अद्वितीया भार्या पत्नी ततः किम् । हया अश्वाः करिणो गजाश्च तेषां शोभना गणाः समूहास्तैरावृतो व्याप्तो वा ततः किम् । भक्तमोदनं भुक्तं ततः किम् । "भिस्सा स्त्रीभक्तमन्धोऽन्नमोदनो-

ऽग्नी सदीदिविः" इत्यमरः । अथवा वासरान्ते दिनान्ते कदशनं कुत्सितभोजनं ततः किम् । तथा व्यक्तं प्रत्यक्षं ज्योतिर्ब्रह्म यस्मिंस्तथाविधं, मथितं भवभयं संसारभयं येनैवंविधं अन्तर्हृदये वैभवं वा न ततः किम् । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥ ७३ ॥

भक्तिरिति ॥ यस्य भवे भक्तिरस्तीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि यथायोग्यं शेषः पूरणीयः । हृदि अन्तःकरणे तिष्ठतीति हृदिस्थं, मरणं च जन्म च तयोर्भयम् । तथा बन्धुषु स्नेहः प्रीतिर्न । तथा मन्मथात्कामाज्जाता मन्मथजा विकारा न । तथा विजना जनरहिता अत एव संगर्गाद्यो दोषस्तेन रहिता एतादृशा वनान्ताः सन्ति अतः पर तस्य पुरुषस्य वैराग्यं अर्थनीयं प्रार्थनीयं किमस्ति । न किमपीत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

विषयत्यागपूर्वकं ब्रह्मचिन्तनमेव श्रेयस्करं नान्यदिति चित्तं प्रति बोधयन्नाह श्लोकद्वयेन—

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य-
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥ ७४ ॥

तस्मादिति ॥ तस्माद्धेतोः हे जन, न विद्यतेऽन्तो यस्य तदनन्तमन्तरहितम्, परममुत्कृष्टं विकासि प्रकाशरूपम्, "विशोकम्" इति पाठे शोकरहितमित्यर्थः । एतादृशं तदुपनिषदादि प्रतिपादितं ब्रह्म चिन्तय, एभिः असद्विकल्पैः देहभावादिविकल्पैः किम् । तत्किम् । यस्माद्धेतोः कृपणलोकानां मता मान्या इमे भुवनस्य त्रिभुवनस्याधिपत्यं स्वामित्वं तत्संबन्धिनो भोगादयः पदार्था यस्यानुषङ्गिणोऽनुयायिनो भवन्ति । यस्यानुयायिनः सर्वे भोगा भवन्ति तद्ब्रह्म चिन्तनीयमित्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन ।
भ्रान्त्वापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥ ७५ ॥

पातालमिति ॥ हे मानस हे चित्त, त्वं चापलेन चापल्येन पातालमाविशसि प्रविशसि, तथा नभ आकाशं विलङ्घ्योल्लङ्घ्य यासि गच्छसि, तथा-दिङ्मण्डलं भ्रमसि, भ्रान्त्वाऽऽपि जातु कदाचित् विमलं निर्मलं तथा आत्मने हितमात्मनीनं "आत्मन् विश्वजनभोगोत्तरपदात्ख–" इति खप्रत्ययः । तद्ब्रह्म न स्मरसि तत्किम् । येन निर्वृत्तिं मोक्षसुखमेषि प्राप्नोषि । मानस-चापलेनेत्येकं पदं वा कर्तव्यं तत्पक्षे जनेति संबोधनं देयम् । भ्रान्त्वेत्यत्र ["भ्रान्त्या" इति पाठे] भ्रान्त्यापि न स्मरसीत्यन्वयः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

सांसारिकव्यापारैः खिन्नस्य पुरुषस्याक्रोशपूर्वकमुक्तिमाह—

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवं विधेनामुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ ७६ ॥

रात्रिरिति ॥ सैव रात्रिः, पुनः स एव दिवस इति मत्वा कालक्रमेण गतागतयो रात्रिदिवसयोरुद्योगं विना व्यर्थत्वं बुद्ध्वेत्यर्थः । उद्यमिन उद्योग-वन्तस्तथैव निभृता भृताः पोषिता वा प्रारब्धाश्च तास्ताः क्रिया यैस्ते एवंविधा अबुधा जन्तवः प्राणिनः पुनरुक्ताश्च ते भुक्ताश्च विषया येषु तैर्व्यापारैर्नि-मित्तैः कृत्वा मोहाद्धावन्ति, एवंविधेनामुना संसारेण कदर्थिता दुःखिता अपि वयं कथं न लज्जामहे । अपि तु लज्जामह इत्यर्थः । अहो इति खेदे । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

वैराग्यवतः पुरुषस्य नृपतेश्च साम्यदर्शनेन राजैश्वर्यस्यातितुच्छत्वं बोधय-न्नाह द्वाभ्याम्—

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥ ७७ ॥

महीति ॥ मुनिः शान्तः सन् नृप इव सुखं यथा स्यात्तथा शेते निद्राति कीदृशो मुनिर्नृपश्च विरतिर्वैराग्यमेव वनिता स्त्री तस्याः सङ्गेन मुदितो हर्षितः पक्षे विशेषेण रतिः प्रीतिर्यस्यां एवंविधा या वनिता तस्याः सङ्गेन मुदितः । पुनः कीदृशः । न तन्वी अल्पा भूतिरैश्वर्यं पक्षे राज्यलक्ष्मीर्यस्यैवंविधः । ऐश्वर्यमेवाह–महीति । मही पृथ्वी यस्य मुनेः रम्या मनोहरा शय्या, तथा

भुजलता बाहुलता विपुलं विस्तीर्णं उपधानमुपधीयते आरोप्यते शिरो यत्र तत् उपबर्हः । भाषायां "उशी" इति ख्याता । "उपधानं तूपबर्हः" इत्यमरः। आकाशं वितानमुल्लोचः भाषायां "चांदवा" इति ख्यातः । "अस्त्री वितानमुल्लोचः" इत्यमरः । अयमनुकूलोऽनिलो वायुः व्यजनं तालवृन्तकम् । "पंखा" इति ख्यातः । "व्यजनं तालवृन्तकम्" इत्यमरः ॥ तथा चन्द्रश्चन्द्रमाः स्फुरन्देदीप्यमानो दीप इति । शिखरिणी वृत्तम् ॥

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने
तल्लब्ध्वासनवस्त्रमानघटने भोगे रतिं मा कृथाः ।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ॥ ७८ ॥

त्रैलोक्येति ॥ हे जन, आत्मन्निति वा यस्मिन् महच्च तच्छासनं चोपनिषदुपदिष्टब्रह्मज्ञानं तस्मिन् सति त्रैलोक्यस्याधिपतित्वं स्वामित्वं विरसं सारहीनमेव भवति तज्ज्ञानं लब्ध्वा त्वं आसनं वस्त्रं च मानश्च तेषां घटनं यस्मिंस्तस्मिन् भोगे रतिं प्रीतिं मा कृथाः मा कुरु । तर्हि कस्मिन्भोगे प्रीतिः कर्तव्येत्यत्राह—भोग इति परम उत्कृष्टो नित्यश्चासावुदितः शास्त्रेषु उदयं प्राप्तः । कथित इति यावत् । एवंविधः कोऽप्यनिर्वचनीयः स एक एव भोगो ब्रह्मज्ञानविषयको जृम्भते विकासते, यस्य स्वादाद्ग्रहणात्त्रैलोक्यस्य राज्यमादि येषां ते एवंविधा विषया विरसा रसहीना भवन्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

क्षणभङ्गुरान् सर्वान्सांसारिकान्व्यापारान्विहाय एकं ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूतं व्यापारमेव कुर्यादिति द्योतयन्नाह श्लोकद्वयेन—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥ ७९ ॥

किं वेदैरिति ॥ वेदैः कर्मकाण्डविषयकश्रुतिभिः, तथा स्मृतिभिर्धर्मार्थकामप्रवर्तिकाभिः, तथा पुराणानां व्रतादिबोधकानां पठनानि तैः, तथा महान् विस्तरः पूर्वपक्षादिरूपो येषु तैः शास्त्रैः गौतमीयादिभिः, तथा स्वर्गरूपो ग्रामस्तस्मिन् या कुटी गृहं तस्मिन् यो निवासस्तस्य फलं ददतीति ते तैः कर्मणां यागादिकर्मणां क्रियाकरणं तस्या विभ्रमा विलासास्तैश्च किम् । न किमपीत्यर्थः । एतैः पूर्वोक्तैः सर्वैर्वृत्तिसंपादनमतितुच्छमिति बोधयन्नाह—मुक्त्वै-

कमिति । भवबन्धेन संसारबन्धेन यद्दुःखं तस्य रचना तस्या विध्वंसो नाशस्तस्मिन् कालानलं प्रलयाग्निसदृशमेवंविधमेकं मुख्यं स्वस्यात्मनो यदानन्दपदमानन्दरूपं स्थानं तस्मिन् यः प्रवेशस्तस्य कलनं संपादनं मुक्त्वा शेषा अवशिष्टा वेदाभ्यासादिना जीवनरूपाः वणिग्वृत्तयो वणिग्व्यापारा भवन्तीति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पाघनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ ८० ॥

आयुरिति ॥ आयुर्जीवितं कल्लोलवज्जलतरङ्गवल्लोलं चञ्चलमस्तीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । यौवनश्रीस्तारुण्यशोभा कतिपयदिवसान् तिष्ठति तच्छीला स्थायिनी । अचिरस्थायिनीत्यर्थः । तथा अर्था धनानि संकल्पकल्पा मनोरथतुल्याः । मनोरथवदाशुविनाशिन इत्यर्थः । तथा भोगपूरा विषयसुखप्रवाहाः घनसमये वर्षाकाले या तडिद्विद्युल्लता तद्वद्विभ्रमो विलासो येषामेवंविधाः । विद्युद्वदतिचञ्चला इत्यर्थः । तथा प्रियाभिः स्त्रीभिः यत्प्रणीतं कृतं कण्ठस्याश्लेष आलिङ्गनं तत्पूर्वकमुपगूढमावरणम् । भावे क्तः । तदपि चिरं चिरकालं न तस्मात् हे जनाः यूयं भवभयं संसारभयमेवाम्भोधिः समुद्रस्तस्य पारं परतीरं तरीतुमुल्लङ्घ्य गन्तुं ब्रह्मणि आसक्तं चित्तं येषां ते एवंविधा भवत । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

विचारवान्पुरुषो लोभाभिभूतो न भवतीति समुद्रदृष्टान्तपुरःसरमाह—

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः ॥
शफरीस्फुरितेनाब्धेः क्षुब्धता जातु जायते ॥ ८१ ॥

ब्रह्माण्डेति ॥ ब्रह्माण्डस्य मण्डली समूहस्तन्मात्रं मनस्विनो विवेकिनः पुरुषस्य लोभाय जायते किमपि तु न जायते तत्र दृष्टान्तमाह—शफरीति । शफर्या मत्स्यविशेषस्य स्फुरितेन स्फुरणेनाब्धेः समुद्रस्य क्षुब्धता क्षोभो जातु कदाचिदपि जायते किमपि तु न जायते तथा । "न तु जायते" इति पाठे स्पष्टोऽर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

सारासारविवेकवतः पुरुषस्य विवेकवशात्सर्वत्र ब्रह्मभावो भवतीति विषयाक्रोशपूर्वकमाह—

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि ।

इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥ ८२ ॥

यदेति ॥ यदा स्मरः काम एव तिमिरमन्धकारस्तस्य संस्कारस्तेन जनितमुत्पादितमज्ञानमासीत्तदा इदमशेषं सकलमपि जगत् नारीमयं स्त्रीप्रचुरमासीत् । "रामामयम्" इत्यपि पाठः । इदानीं पटुतरो यो विवेकः सदसद्विचारः स एवाञ्जनं नेत्राञ्जनं तत् जुषन्ति सेवन्ते ते जुषस्तेषां सदसद्विवेकवतामस्माकं समीभूता समत्वं प्राप्ता शत्रुमित्रौदासीन्यरहिता एकरूपेत्यर्थः । एवंविधा दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते मानयतीत्यर्थः । "तनुते" इति पाठे विस्तारयति । करोतीत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

चित्तस्थैर्याभावे सकलं रम्यमपि वस्तु अरम्यमिव प्रतिभात्यतश्चित्तस्थैर्यमेव संपादनीयमिति बोधयन्नाह—

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यः साधुसमागमः शमसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः ॥ ८३ ॥

रम्या इति ॥ चन्द्रमरीचयश्चन्द्रकिरणा रम्याः सन्तीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि शेषः पूरणीयः । तृणानि हरिततृणानि सन्ति यस्यां सा तृणवती वनान्तस्थली वनमध्यस्थभूमिः रम्या, तथा साधूनां समागमः संगतिः रम्या, तथा शमसुखं शान्तिसुखं रम्यम्, तथा काव्येषु कथा वार्ता रम्याः । "प्रणयिनां रम्या मनोज्ञा गिरः" इति पाठे प्रणयिनां प्रेमवतां पुरुषाणां मनोज्ञा मनोहरा गिरो वाचो रम्या इत्यर्थः । तथा कोपेन क्रोधेनोपाहितः प्राप्तो यो बाष्पबिन्दुरश्रुबिन्दुस्तेन तरलं चञ्चलं प्रियायाः स्त्रिया मुखं रम्यम् । एतत्सर्वं रम्यमपि चित्तेऽनित्यतामध्रुवताम् । अस्थिरतामिति यावत् । उपगते सति पुनः किंचिदपि रम्यं न भवतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

भिक्षाशित्वादिगुणविशिष्टस्य जनस्य जगति दौर्लभ्यमाह—

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
दानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।
रथ्याक्षीणविशीर्णजीर्णवसनैः संप्रोतकन्थाधरो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥ ८४ ॥

भिक्षाशीति ॥ भिक्षामश्नातीति भिक्षाशी, तथा जनमध्ये यो संगस्तेन रहितः, तथा स्वायत्ता स्वाधीना चेष्टा इन्द्रियव्यापारो यस्य सः । जितेन्द्रिय

इति यावत् । तथा सदा सर्वकालं दानं सत्पात्रेभ्यो द्रव्यसमर्पणं आदानं द्रव्यग्रहणं च ताभ्यां विरक्तो रहितो यो मार्गस्तस्मिन् निरतस्तत्परः तथा रथ्यायां ग्रामाभ्यन्तरमार्गे क्षीणानि स्वल्पानि विशीर्णानि पतितानि जीर्णानि च यानि वस्त्राणि तैः कृत्वा संप्रोता ग्रथिता या कन्था तस्या धरः, तथा निर्गतो मानः परकृतसत्काराभिलाषो यस्य, तथा निर्गता नष्टा अहंकृतिरहंकारो यस्य सः, तथा शमसुखं शान्तिसुखं तस्याभोगो विस्तारस्तस्मिन्बद्धा स्पृहा येन स एवंविधः स्थितो निर्व्यापारतया तिष्ठन्नेवंविधस्तपस्वी कश्चिदेव जनो भवति न बहव इत्यर्थः । "मनस्वी जन" इति पाठे मनस्वी विवेकवानित्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सांसारिके सुखे विरक्तः कश्चित्पुरुषः पृथिव्यादिपञ्चभूतेषु मातृत्वादिकं परिकल्प्य तैः सहारण्ये संवसंस्तत्प्रसादेन प्राप्तज्ञानस्तेषामेवोपकारं मन्वानस्तानि प्रार्थयते—

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामग्रे प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि ॥ ८५ ॥

मातरिति ॥ हे मातः, मातृवत्पोषकत्वेन मातृतुल्ये हे मेदिनि पृथ्वि, हे तात पितृवत्सुखदत्वेन पितृतुल्य हे मारुत वायो, हे सखे सुहृद्वद्धितकारित्वेन तत्तुल्य हे तेजः अग्ने, एवमुत्तरत्राप्यूहनीयम् । हे सुबन्धो जल, हे भ्रातर्व्योम आकाश, भवतामग्रे एष प्रणामयुक्तोऽञ्जलिर्हस्तसंपुटो निबद्धः कृतः । "अन्त्यः प्रणामाञ्जलिः" इति पाठे अन्ते भवोऽन्त्य इत्यर्थः । युष्माकं संगवशेनोपजातो यः सुकृतस्योद्रेक आधिक्यं तेन स्फुरत्स्फुरद्रूपं यन्निर्मलं ज्ञानं तेनापास्तो निरस्तः समस्तो मोहमहिमा संसारकारणीभूतोऽज्ञानरूपो यस्य एवंविधोऽहं परे ब्रह्मणि लीये लयं प्राप्नोमि । सति ब्रह्मणि लये सर्वथा भेदनिवृत्त्या प्रणामस्यासंभवादन्तिमोऽयं प्रणाम इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

यावच्छरीरादिस्वास्थ्यमस्ति तावदेवात्मनः श्रेयःसंपादने यत्नो विधेय इत्याह—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महा-
न्संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ ८६ ॥

यावदिति ॥ इदं शरीरं अरुजं न विद्यते रुक् रोगो यस्मिन्तत् एवंविधं रोगरहितं सत् यावत् स्वस्थमव्यग्रमस्ति, "कलेवरगृहा" इति पाठे शरीरगृहमित्यर्थः । जरा वार्धक्यमपि यावद्दूरतस्तिष्ठतीति शेषः, यावद्वार्धकं न प्राप्तमित्यर्थः । इन्द्रियाणां शक्तिः सामर्थ्यमपि यावदप्रतिहताऽकुण्ठिता, आयुषोऽपि क्षयो नाशो यावन्न, तावदेव विदुषा पण्डितेन आत्मनः श्रेयसि कल्याणे महान् प्रकृष्टो यत्नः कार्यः । तथा हि भवने गृहे संदीप्ते अग्निना प्रज्वलिते सति तु कूपस्य खननं प्रति उद्यम उद्योगः कीदृशः व्यर्थ इत्यर्थः । "प्रोद्दीप्ते भवने इति, तथा हर्म्ये प्रज्वलिते च" इत्यपि पाठौ क्वचित् । प्रज्वलिते गृहे तच्छान्त्यर्थं तत्काले कूपखननादिप्रयासो यथा व्यर्थस्तथा शरीरस्वास्थ्याद्यभावे-श्रेयःसंपादनयत्नो निष्फल इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

यस्यामवस्थायां यदवश्यं संपादनीयं तदसंपादयतः पुरुषस्याऽऽयुषो वैयर्थ्यमिति सूचयन्नाह—

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥ ८७ ॥

नाभ्यस्तेति ॥ येन भुवि पृथिव्यां विनीतानां विनयवतां पुरुषाणामुचिता योग्या, तथा वादिनामनीश्वरादिवादिनां वृन्दं समूहं दमयति तच्छीला एवंविधा विद्या नाभ्यस्ता, तथा खड्गाग्रैरसिधाराभिः कृत्वा करिणां गजानां कुम्भपीठानि गण्डस्थलानि तेषां दलनैर्विदारणैर्यशो नाकं स्वर्गं प्रति न नीतम्, स्वर्गप्रापकं यशो न संपादितमित्यर्थः । तदुक्तं "यशसा प्राप्यते स्वर्गो विपरीतादधोगतिम्" इति । तथा कान्तायाः कोमलपल्लवसदृशो योऽधरोऽधरोष्ठस्तस्य रसः स्वादश्चन्द्रोदये न पीतः, चन्द्रोदयवेलायां कान्ताधरचुम्बनमपि न कृतमित्यर्थः । तस्य पुरुषस्य तारुण्यं यौवनं शून्यालये शून्यगृहे दीपवन्निष्फलमेव गतं नष्टमित्यर्थः । तारुण्यमित्युपलक्षणं सर्वं जीवितमित्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

एकस्यैव ज्ञानस्याधिकारिभेदेन भेदं दृष्टान्तोपन्यासपूर्वकमाह—

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं केषांचिदेतन्मदमानकारणम् ।
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये कामातुराणामतिकामकारणम् ॥८८॥

ज्ञानमिति ॥ यत् ज्ञानं सच्छास्त्रजन्यं ज्ञानं सतां मानश्च मदश्च तावादी

येषां तेषां क्रोधादीनां नाशनं शमनं भवतीति शेषः, तदेव केषांचिदधमपुरुषाणां मदमानयोः कारणं हेतुर्भवति । तत्र दृष्टान्तः । विविक्तं जनरहितमेकान्तमिति यावत् । "विविक्तौ पूतविजनौ" इत्यमरः । यत् स्थानं यमिनां यमनियमादिमतां पुरुषाणां विमुक्तये मोक्षाय भवति तदेव कामातुराणां अति अत्यन्तं कामस्य मदनस्य कारणं भवति । कामोद्दीपनसाधनं भवतीत्यर्थः । इन्द्रवंशा वृत्तम् । "स्यादिन्द्रवंशा ततजैरसंयुतैः" इति तल्लक्षणात् ॥

संसारस्य वैचित्र्यं वर्णयन्नाह—

क्वचिद्वीणावादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितं
क्वचिन्नारी रम्या क्वचिदपि जराजर्जरवपुः ।
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥ ८९ ॥

क्वचिदिति ॥ क्वचित् वीणाया वादो वादनं भवतीति शेषः । एवं सर्वत्रापि बोध्यम् । क्वचिदपि हा हा इति रुदितं रोदनं, क्वचित् रम्या मनोहरा नारी स्त्री, क्वचिदपि जरया जर्जरं वपुः शरीरं यस्या एवंविधा स्त्री, क्वचित् विदुषां पण्डितानां गोष्ठी वार्ता, क्वचिदपि सुरया मद्येन ये मत्तास्तेषां कलहः, एवंभूतः संसारः किममृतमयः सुधाप्रचुरः किं विषमयः विषप्रचुर इत्यहं न जाने । एवंविधवैचित्र्यशालिनः संसारस्य दुर्निरूपत्वमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

मनोरथादिकं विहाय मुक्तिसाधनं शिवचरणध्यानमेव सर्वदा कर्तव्यमित्याह—

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं च तद्यौवनं
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।
किं युक्तं सहसाऽभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमी
ह्याज्ञातं स्मरशासनाङ्घ्रियुगलं मुक्त्वाऽस्ति नान्या गतिः ॥ ९० ॥

जीर्णा एवेति ॥ मनोरथाः स्वहृदय एव जीर्णाः सन्तीति शेषः । तथा तत्प्रसिद्धं यौवनं तारुण्यं यातं गतम्, हन्तेति खेदे अङ्गेषु गुणाः शौर्यौदार्यादयश्च गुणज्ञैर्गुणग्राहकैर्विना वन्ध्यफलतां निष्फलत्वं याताः प्राप्ताः, बलवान् बलिष्ठः, न क्षमतेऽसौ अक्षमी क्षमारहित इत्यर्थः । तथा कृतोऽन्तो नाशो येनैवंविधो यमस्वरूपी कालः सहसाऽभ्युपैति प्राप्नोति "कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड्यमः" इत्यमरः । आ इति स्मरणे ज्ञातम् । मयेति शेषः । "आ प्र-

गृह्यः स्मृतौ" इत्यमरः। किं ज्ञातम्। स्मरं कामं शास्तीति तथाविधः शिवस्तस्याङ्घ्रियुगलं मुक्त्वा त्यक्त्वा तद्भिन्नेत्यर्थः। अन्या गतिर्नास्तीत्यर्थः। "कालो हि सर्वान्तकृन्न ध्यातं मधुसूदनाङ्घ्रियुगलं मुक्तेस्तु नान्या गतिः" इति पाठे सर्वान्तकृत् सर्वेषां प्राणिनामन्तं नाशं करोत्येवंविधो बलवान्कालः सहसाऽभ्युपैति प्राप्नोति हि निश्चयेन तथाऽपि मधुसूदनस्य विष्णोरङ्घ्रियुगलं न ध्यातं न चिन्तितम्। मुक्तेस्तु अन्या तदङ्घ्रियुगलध्यानादपरा गतिर्नास्तीति शेषः। अधुना किं युक्तं किं योग्यम्। कार्याकार्यविचारशून्योऽहं जातोऽस्मीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

अतिक्लेशसाध्ये पारमार्थिकसुखे सुखत्वबुद्धिमकृत्वा तृषादिशान्तौ सुखं मन्वानं पुरुषं निन्दति—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥ ९१॥

तृषेति॥ जनो लोकः आस्ये मुखे तृषा शुष्यति सति स्वादु मधुरं, तथा सुरभि सुगन्धि एतादृशं सलिलं जलं पिबति, तथा क्षुधार्तः सन् शाकादिभिर्वलितान्वेष्टितान् शालीन् ओदनान् कवलयति भक्षयति, तथा रागाग्नौ अनुरागवह्नौ प्रदीप्ते ज्वलिते सति वधूं स्वकान्तां सुदृढतरं यथा स्यात्तथा आश्लिष्यति आलिङ्गति। एवं व्याधेः पिपासादिव्याधेः प्रतीकारो दूरीकरणं सुखमिति विपर्यस्यति विपरीतज्ञानवान् भवति। वास्तवं सुखं येन भवति तद्विहाय तृषादिशान्तेः सुखत्वं मनुते इति भावः। शिखरिणी वृत्तम्॥

उदरभरणमात्रफलिकया राजादिसेवया खिन्नः कश्चिदितरसेवा न कर्तव्येतीतरान् शिक्षयन्नाह स्नात्वेत्यादिश्लोकद्वयेन—

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्कमूले।
आत्मारामोऽफलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे
दुःखं मोक्ष्ये कदाऽहं समकरणकरे पुंसि सेवासमुत्थम्॥ ९२॥

स्नात्वेति॥ हे विभो अहं गाङ्गैः पयोभिर्जलैः स्नात्वा, शुचीनि कुसुमानि पुष्पाणि फलानि च तैस्त्वां अर्चयित्वा, पूजयित्वा क्षितिधरस्य, पर्वतस्य कुहरं दरी तत्संबन्धिनो ये ग्रावाणः पाषाणास्त एव पर्यङ्कः शय्या तस्याः मूले

ध्येये ध्यातुं योग्ये त्वयि ध्यानं नियोज्य योजयित्वा आत्मनि स्वस्वरूपे रमते-ऽसौ आत्मारामः एवंविधः सन् हे स्मरारे कामनाशक त्वत्प्रसादात् त्वत्कृपातः समौ स्वसमानौ चरणौ करौ च यस्य तस्मिन्नेतादृशे पुंसि पुरुषे सेवायाः सकाशात्समुत्थमुत्पन्नं दुःखं कदा मोक्ष्ये । कीदृशोऽहं न विद्यते फलस्य स्वर्गादेराशा यस्यास्तीति सः तथा गुरोः वचने रतः स्थितः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।
येषां नैर्झरमम्बु पानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥ ९३ ॥

शय्येति ॥ शैलशिला पर्वतशिला येषां शय्या शयनम्, शय्यावन्निद्रासुखकारिणीत्यर्थः । येषामिति सर्वत्र संबध्यते । गिरेः पर्वतस्य गुहा गृहम्, गृहवत्स्थातुं योग्येत्यर्थः । तरूणां वृक्षाणां त्वचो वस्त्रम्, वस्त्रवच्छरीराच्छादका इत्यर्थः । सारङ्गा मृगाः पक्षिणो वा सुहृदः सुहृद्वत्कार्यकारिण इत्यर्थः । क्षितिरुहां वृक्षाणां कोमलैः फलैः अन्नवत्क्षुन्निवर्तकैरित्यर्थः । ननु निश्चयेन वृत्तिर्जीविका, नैर्झरं निर्झरसंबन्धि अम्बु जलं उचितं पानं पेयम्, पानकार्यकारीत्यर्थः । विद्यैव येषां रत्यै प्रीत्यै अङ्गना स्त्री, स्त्रीवत्सुखदेत्यर्थः । यैः शिरसि इतरेषां राजादीनां सेवायै अञ्जलिः न बद्धो न कृतः, ते ईश्वराः समर्था इत्यहं मन्ये । शय्यादिविषयान् परित्यज्य वने स्थित्वा भगवदाराधनमेव कर्तव्यमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

विपद्ग्रस्ते कुटुम्बे स्पृहां कृत्वा दुःखेन स्थित्यपेक्षया परमसुखदो गङ्गातीरे निवासः श्रेयानिति बोधयन्नाह—

सत्यामेव त्रिलोकीसरिति हरशिरश्चुम्बिनीविच्छटायां
सद्वृत्तिं कल्पयन्त्यां वटविटपभवैर्वल्कलैः सत्फलैश्च ।
कोऽयं विद्वान् विपत्तिज्वरजनितरुजाऽतीव दुःखासिकानां
वक्त्रं वीक्ष्येत दुःस्थे यदि हि न बिभृयात्स्वे कुटुम्बेऽनुकम्पाम् ॥ ९४ ॥

सत्यामिति ॥ यदि हि अतीवात्यन्तं विपत्तिरेव ज्वरस्तेन जनिता या रुक् रोगस्तया दुःस्थे दुःखेनाऽपि स्थातुमशक्ये स्वे स्वकीये कुटुम्बे परिवारे अनुकम्पां दयां न बिभृयान्न धारयेत्तर्हि हरस्य शिवस्य यच्छिरस्तच्चुम्बति तच्छीला हरशिरश्चुम्बिनी एवंविधा नीव्याः स्त्रीकटिवस्त्रबन्धनस्य काञ्च्या इति यावत् । छटा कान्तिर्यस्यास्तस्याम् । शिवमस्तकस्थितायामित्यर्थः । "नीवीपरि-

पर्णे स्त्रीणां कटीवस्त्रनिबन्धने" इति मेदिनी । तथा वटविटपो वटवृक्षस्तस्माद्भवैरुत्पन्नैः वल्कलैः, सत्फलैरुत्तमफलैश्च सद्वृत्तिं कल्पयन्त्यां एवंविधायां त्रिलोकीसरिति भागीरथ्यां सत्यामेव दुःखरूपा या आसिकाः स्थितयस्तासां वक्त्रं कोऽयं विद्वान् वीक्ष्येत पश्येत् अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

वैराग्यपूर्वकं काशीनिवासस्य श्रेष्ठत्वं दर्शयति श्लोकद्वयेन—

उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रातितीव्रं तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्रममितं भिक्षाटनं मण्डनम् ।
आसन्नं मरणं च मङ्गलसमं यस्यां समुत्पद्यते
तां काशीं परिहृत्य हन्त विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते ॥ ९५ ॥

उद्यानेष्विति ॥ यस्यां उद्यानेष्वारामेषु विचित्रोऽनेकप्रकारो भोजनविधिः, तथा तीव्रादतितीव्रं तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि, तथा कौपीनस्य गुह्यस्यावरणमाच्छादकं सुवस्त्रं शोभनवस्त्रम्, तथा अमितमपरिमितं भिक्षाटनं मण्डनं शोभाकरम्, तथा आसन्नं समीपस्थं मरणं च यस्यां मङ्गलसमं समुत्पद्यते, तां काशीं परिहृत्य त्यक्त्वा विबुधैरन्यत्र किं किमर्थं स्थीयते हन्तेति खेदे । काश्यामेव सर्वदा निवासः श्रेयस्करो नान्यत्रेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः ।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥ ९६ ॥

नायमिति ॥ ते तव अयं समयः कालो न. अधुना नाथः स्वामी रहस्यमेकान्तं यथास्यात्तथा निद्राति, यदि स्थित्वा द्रक्ष्यति तर्हि प्रभुः कुप्यति, इति पूर्वोक्तप्रकारेण येषां द्वारेषु वचो वाक्यं श्रूयते इति शेषः । हे चेतः तान्पुरुषानपहाय त्यक्त्वा निर्दौवारिकं द्वारपालरहितं च तन्निर्दयया उक्त्या अपरुषं पारुष्यरहितं च, तथा निःसीमं मर्यादारहितं शर्म सुखं प्रकर्षेण ददातीत्येवंविधं विश्वेशितुर्विश्वेश्वरस्य देवस्य भवनं गृहं याहि गच्छ । राजादिद्वार सेवनापेक्षया काश्यां विश्वेश्वरद्वारसेवनमेव श्रेयस्करमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

संसारे खिन्नः कश्चित्पुरुषः स्त्रियं संबोध्य दैवकृतेर्दुर्ज्ञेयत्वं वर्णयन्नाह—

प्रियसखि विपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्परा-
परिधिचपले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः ।

मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालव-
द्भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥ ९७ ॥

प्रियसखीति ॥ हे प्रियसखि, खलो दुष्टो विधिः प्रगल्भः प्रौढो यः कुलालः कुम्भकारस्तद्वत् मृदमिव मनश्चित्तं बलाद्बलात्कारेण पिण्डीकृत्य विपद्रूपो यो दण्डव्रातो दंडसमूहस्तस्य प्रतापपरम्परा तद्रूपो यः परिधिर्मण्डलाकारभ्रमणं तेन चपलं तस्मिन् चिन्ताचक्रे निधाय भ्रमयति, इतःपरं अत्र संसारे किं विधास्यति किं करिष्यतीति वयं नो जानीमः । हरिणी वृत्तम् ॥

उपासनादशायां क्वचिद्रुचिवैचित्र्यादेकस्मिन्भक्त्युदयेऽपि परमार्थतोऽभेदबुद्धिर्न त्याज्येति सूचयन्नाह—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथाऽपि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥९८॥

महेश्वर इति ॥ जगतां लोकानामधीश्वरे नियन्तरि महेश्वरे शिवे, वाथवा जगतः अन्तरात्मा तस्मिन् जनार्दने विष्णौ वा तयोरुभयोर्देवयोः भेदस्य प्रतिपत्तिर्ज्ञानं नास्ति तथाऽपि तरुण इन्दुश्चन्द्रः शेखरे यस्य तस्मिन् चन्द्रशेखरे मे भक्तिरस्तीत्यर्थः । वंशस्थं वृत्तम् ॥

शिवध्यानैकतत्परे पुरुषे मदनादीनां व्यापारस्य वैफल्यं सूचयन्नाह—

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः
रेरे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥ ९९ ॥

रे कन्दर्पेति ॥ रे कन्दर्प काम, त्वं कोदण्डस्य धनुषः टङ्कारितैष्टणत्कारैः करं किं किमर्थं कदर्थयसि पीडयसि, हे कोकिल, त्वं कोमलैः कलरवैरव्यक्तमधुरध्वनिभिः वृथा व्यर्थं किं जल्पसि भाषसे, हे मुग्धे सुन्दरस्त्रि, ते स्निग्धाः प्रेमार्द्राश्च विदग्धाः कार्यकरणे निपुणाश्च मुग्धाः सुन्दराश्च मधुराः प्रियाश्च "स्वादुप्रियौ तु मधुरौ" इत्यमरः । तैर्लोलैश्चञ्चलैः कटाक्षैरलं पर्याप्तम् । कुतः । यतो मे चेतः चन्द्रचूडस्य शिवस्य यौ चरणौ तयोर्ध्यानं चिन्तनं तदेवामृतं यस्मिन्नेतादृशं वर्तते । अतः शिवध्यानतत्परे मयि कन्दर्पादिभिः क्रियमाणाः सर्वे यत्ना विफला इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

निरन्तरं भगवद्ध्यानतत्परस्य योगिनः स्थितिमाह—

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
निश्चिन्तं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं शय्या श्मशाने वने ।

मित्रामित्रसमानताऽतिविमला चिन्ताथ शून्यालये
ध्वस्ताशेषमदप्रमादमुदितो योगी सुखं तिष्ठति ॥ १०० ॥

कौपीनमिति ॥ शतानि अनेकानि खण्डानि शकलानि तैर्जर्जरतरमतिशयेन जर्जरमेवंविधं यस्य कौपीनमाच्छादनं वस्त्रम्, तथा पुनस्तादृशी कौपीनसदृशी कन्था, तथा निश्चिन्तं चिन्तारहितं तथा सुखेन साध्यं भैक्ष्यं यस्मिन्नेवंविधमशनं भोजनम्, श्मशाने वने वा शय्या शयनम्, मित्रामित्रयोः समानता समभावः, अथ अतिविमलाऽतिनिर्मला शून्यालये विजनगृहे चिन्ता ईश्वरध्यानम्, अतः ध्वस्तो निरस्तोऽशेषो मदो गर्वः प्रमादोऽनवधानता च ताभ्यां मुदितो हर्षितः एवंविधः अतः स योगी सुखं तिष्ठति । योगाभ्यासपूर्वकं भगवद्ध्यानपरस्य योगिनो जर्जरकौपीनादिभिश्चित्तवैकल्याभावात्सुखेन स्थितिर्भवतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

अचिरस्थायिभोगादिविषये आशां विहाय भगवच्चिन्तनमेव सर्वदा कार्यमिति सूचयन्नाह—

भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्यैव कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः ।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोच्छित्तिवशे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥ १०१ ॥

भोगा इति ॥ रे लोकाः, बहुविधा अनेकप्रकारा भोगाः स्त्र्यादिसुखानि, भङ्गुरा नाशशीला वृत्तिः प्रवर्तनं येषां ते एवंविधाः सन्तीति शेषः । तैर्भोगैरेव हेतुभूतैरयं भवः संसारो भवति, तत्तस्मात् कस्यैव कृते कस्य सुखस्य प्रयोजनाय, एवशब्दो वाक्यपूरणार्थः । परिभ्रमत धावनं कुरुत, चेष्टितैर्भ्रमणादिव्यापारैः कृतं पर्याप्तम्, यदि अस्मद्वचः श्रद्धेयं श्रद्धार्हं विश्वसनीयमिति यावत् । अस्ति तर्हि कामस्य उच्छित्तिर्नाशो वशे यस्य तस्मिन् कामोच्छित्तिकारिणीत्यर्थः । एवंविधे स्वधामनि स्वप्रकाशे आत्मनि आशापाशानां शतं तस्योपशान्तिस्तया विशदं निर्मलं एवंविधं आशापाशरहितमिति यावत् । चेतः समाधीयतामेकाग्रीक्रियताम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

गिरिदर्यादिनिवासपूर्वकमात्मचिन्तनं कुर्वतां पुरुषाणां धन्यतां केवलमनोरथमात्रेण क्रीडादिसुखं चिन्तयतामधन्यत्वं च सूचयन्नाह—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।

अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥ १०२ ॥

धन्यानामिति ॥ शकुनाः पक्षिणः, गिरिकन्दरे पर्वतगुहायां निवसतां वासं कुर्वताम् तथा परं ज्योतिर्ब्रह्म ध्यायतां चिन्तयतां धन्यानां कृतपुण्यानां अङ्के उत्सङ्गे शेरते ते अङ्केशयाः अङ्के स्थिताः एवंभूताः सन्तः तेषामेव नेत्रेभ्यो निर्गतं आनन्देन हर्षेण यदश्रुजलं बाष्पोदकं तत् निःशङ्कं यथास्यात्तथा पिबन्ति । एतादृशानां धन्यानामेव आयुषः साफल्यमिति भावः । मनोरथेनोपरचितानि कृतानि प्रासादो भवनं, वापीतटं दीर्घिकातटं च । "सरो वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः । क्रीडाकाननं क्रीडावनं च तेषु या केलिः क्रीडा तस्याः कौतुकं जुषन्ति ते जुषस्तेषां मनोरथमात्रकल्पितं क्रीडासुखमनुभवतामित्यर्थः । एवंविधानां अस्माकं तु आयुरायुष्यं, परं केवलं क्षीयते क्षीणं भवति । तस्माद्वयमधन्या इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

दैववशाज्जन्मादि यद्यत्प्राप्तं तत्तत्सर्वं मृत्युप्रभृतिभिर्ग्रस्तत्वाच्चिरस्थायि न भवतीति श्लोकद्वयेनाह—

आघ्रातं मरणेन जन्म जरया विद्युच्चलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण धृतिर्जगत्यपहृता ग्रस्तं न किं केन वा ॥ १०३ ॥

आघ्रातमिति ॥ मरणेन जन्म आघ्रातमाक्रान्तम्, आघ्रातमित्यस्य विभक्तिविपरिणामेन यथायोग्यमुत्तरत्रान्वयः । तथा जरया विद्युदिव चलं चञ्चलं यौवनं तारुण्यम्, तथा धनस्य लिप्सा लब्धुमिच्छा तया संतोषः, तथा प्रौढाया अङ्गनायाः स्त्रियस्तासां विभ्रमैर्विलासैः शमसुखं शान्तिसुखम्, मत्सरिभिः परोत्कर्षासहिष्णुभिः लोकैः गुणाः शीलौदार्यादयः, व्यालैः सर्पैर्वनभुव आरण्यभूमयः, दुर्जनैर्नृपा राजानः, अस्थैर्येणास्वास्थ्येन धृतिर्धैर्यमपहृता, अस्मिन् जगति केन किं न ग्रस्तमपि तु सर्वं ग्रस्तमित्यर्थः । "अस्थैर्येण विभूतिरप्यपहृता" इति पाठे विभूतिरैश्वर्यमित्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसा-
त्तत्किं नाम निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम् ॥ १०४ ॥

आधिव्याधिशतैरिति ॥ विविधैरनेकैर्जनस्य आधयो मानसपीडाः व्याध-

यः शरीररोगाश्च तेषां शतानि तैः आरोग्यं उन्मूल्यते निर्मूलीक्रियते, तथा यत्र लक्ष्मीरस्ति तत्र विविधा आपद आपत्तयः विवृतमुद्घाटितं द्वारं यासां ता एव पतन्ति आगच्छन्ति, अवारिताः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। तथा मृत्युः अवश्यं जातं जातं सर्वं आशु शीघ्रं विवशं यथास्यात्तथा आत्मसादात्माधीनं करोति, तस्मात् निरङ्कुशेन अप्रतिबद्धेन। दुर्निवारेणेति यावत्। विधिना दैवेन यन्निर्मितमुत्पादितं तत्किं सुस्थितं निश्चलं नाम। अपि तु किमपि सुस्थितं नेत्यर्थः। "सुस्थिरं" इति पाठेऽपि स एवार्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

अस्मिन्संसारे किमपि सुखसाधनं नास्तीत्याह—

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने विप्रयोगः।
नारीणामप्यवज्ञाविलसितवदनो वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्॥१०५॥

कृच्छ्रेणेति॥ अमेध्यं विण्मूत्रादि मध्ये मध्यभागे यस्य तस्मिन् गर्भवासे नियमिता सङ्कुचिता तनुर्देहो येषां तैः पुरुषैः कृच्छ्रेण कष्टेन स्थीयते। गर्भे दुःखं प्रदर्श्य यौवनवार्धक्ययोरपि दुःखं दर्शयति। कान्तेति। कान्तायाः स्त्रियो विश्लेषो वियोगस्तेन यद्दुःखं तस्य व्यतिकरो मिश्रणं तेन विषमे संभावितसङ्कट एतादृशे यौवने विप्रयोगः स्त्रीवियोगः। भवतीति शेषः। तथा नारीणां स्त्रीणामप्यवज्ञयावमानेन विलसितं विकसितं वदनं भाषणं यस्मिन्नेवंविधो वृद्धभावो वार्धक्यमप्यसाधुरसमीचीनोऽस्ति। अतोऽस्मिन्संसारे रे मनुष्याः यदि स्वल्पमपि सुखं किंचिदस्ति तर्हि वदत ब्रूत। न किंचिदस्तीत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

शतपरिमिते चञ्चले आयुषि किंचिदपि सुखाशा नेत्याह—

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥ १०६॥

आयुरिति॥ नृणां मनुष्याणां आयुः वर्षशतं शतवर्षप्रमाणं परिमितमस्ति, तस्य अर्धं पञ्चाशत्संख्याकं रात्रौ निद्रया गतम्, तस्य पञ्चाशत्संख्याकस्यार्धस्य

अर्धं सार्धद्वादशसंख्याकं पूर्वार्धं परस्य पञ्चविंशतिसंख्याकस्योत्तरार्धस्यापरमर्धं सार्धद्वादशसंख्याकं बालत्ववृद्धत्वयोर्गतम्, तथा व्याधिः रोगः, वियोगः कुटुम्बादिवियोगश्च ताभ्यां यद्दुःखं तेन सहितं शेषं मध्यभागस्थावशिष्टं सेवादिभिः धनिकशुश्रूषादिभिर्नीयते, अतः वारितरङ्गवच्चञ्चलतरे जीवे जीविते "जीवोऽस्त्री जीविते पुंसि" इति त्रिकाण्डशेषः। प्राणिनां कुतः सुखं स्यात्। न कुतोऽपीत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

दुष्करकर्मकारिणो निःस्पृहान्विवेकिनः पुरुषानभिनन्दन् मनोरथमात्रलब्धेषु धनादिषु स्पृहां कुर्वन्तमात्मानं निन्दन्नाह—

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगकाञ्चनधनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।
न प्राप्तानि पुरा न संप्रति न च प्राप्ते दृढप्रत्ययो
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्॥ १०७॥

ब्रह्मज्ञानेति॥ ब्रह्मज्ञाने विवेको विचारो येषां ते अतएवामला अज्ञानरहिता धीर्बुद्धिर्येषां ते पुरुषाः तत् दुष्करं दुःखेन कर्तुमशक्यं कर्म कुर्वन्ति किंतत् एकान्ततो निश्चयेन निःस्पृहा अनभिलाषिणः सन्त उपभोगः स्त्र्यादिसुखं काञ्चनं सुवर्णं च धनानि च तानि मुञ्चन्ति त्यजन्तीति यत्। परंतु पुरा न प्राप्तानि संप्रति वर्तमाने काले न, प्राप्ते च दृढप्रत्ययो दृढविश्वासो न, एवं सत्यपि वयं वाञ्छामात्रेण परिग्रहो येषां तानि धनादीन्यपि त्यक्तुं परं केवलं न शक्ताः न समर्था इत्यहो आश्चर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

जरादिभिर्व्याप्ते चञ्चले आयुषि प्रतिकूलं कुर्वन्तं पुरुषं शोचन्निवाह—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥ १०८॥

व्याघ्रीति॥ जरा व्याघ्रीव परितर्जयन्ती भर्त्सयन्ती सति अग्रे तिष्ठति, रोगाश्च शत्रव इव देहं प्रहरन्ति प्रहारं कुर्वन्ति। देहः सर्वदा रोगव्याप्तो भवतीत्यर्थः। आयुरायुष्यं भिन्नश्चासौ घटश्च तस्मादम्भ उदकमिव परिस्रवति नश्यति, तथापि लोकोऽहितं प्रतिकूलं कर्म आचरति इति चित्रमाश्चर्यमित्यर्थः। वसन्ततिलका वृत्तम्॥

सततं परब्रह्मैकतानमनसः पुरुषस्य प्रियालापादिविषयाः संतोषं न जनयन्तीत्याह—

सदा योगाभ्यासव्यसनवशयोरात्ममनसो-
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति कृतिनस्तस्य किमु तैः ।
प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रकमलैः
सनिःश्वासामोदैः सकुचकलशश्लेषसुरतैः ॥ १०९ ॥

सदेति ॥ यस्य सदा निरन्तरं योगस्याभ्यासस्तस्य व्यसनं तेन वशयोरा-धीनयोः आत्मा ब्रह्म मनश्च तयोः अविच्छिन्ना विच्छेदरहिता । निरन्तरेति यावत् । मैत्री स्फुरति प्रकाशते । परब्रह्मणि यस्य मनः सर्वदा संलग्नं भवतीत्यर्थः । तस्य कृतिनः तैः प्रियाणां स्त्रीणामालापैर्भाषणैः, तथा अधरमधुभिरधरोष्ठमधुभिः तथा निःश्वासाः श्वासोच्छ्वासास्तत्संबन्धिनो य आमोदाः सुगन्धास्तैः सहितैः वक्त्रकमलैः, तथा कुचकलशयोः श्लेष आश्लेषस्तत्सहितैः सुरतैर्मैथुनैश्च किमु । न किमपीत्यर्थः । सर्वदा सांसारिकविषयत्यागपूर्वकं ब्रह्मचिन्तनमेव कार्यमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

सततं परोपकारं कुर्वतामेव जन्म सफलमितरेषां तूदुम्बरान्तर्वर्तिमशकवद्विफलमित्याह—

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम् ।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे प्राणिनो जातनष्टाः ॥ ११० ॥

जात इति ॥ स प्रसिद्ध एकः कूर्मः कच्छपो जातः येन पृथु महत् यत् भुवनं तस्य भरो भारस्तस्मै पृष्ठं स्वपृष्ठभागः अर्पितम् । स्वपृष्ठे सकलभुवनभारो धृत इत्यर्थः । तथा ध्रुवस्यौत्तानपादेर्जन्म श्लाघ्यम् । स्तुत्यमस्तीति शेषः । यत्र यदाधारेण नियमितं तेजस्विनां सप्तर्ष्यादीनां चक्रं भ्रमति । नोपरिष्टात् न चाधः । परहितकरणे परोपकारकरणे संजातोऽपि व्यर्थः पक्षः साहाय्यं येषां ते "पक्षः साहाय्येऽप्युष्णीषे" इत्यमरः । एवंविधा अपरे प्राणिनः ब्रह्माण्डमेवोदुम्बरं तस्यान्तर्मध्ये मशकस्तद्वत् जाताः पश्चान्नष्टाः । जातमात्रेण नष्टा भवन्तीत्यर्थः । न कोऽपि तेभ्यः परोपकारः स्वार्थश्चेति व्यर्थजन्मान इति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

संसारसमुद्रोत्तरणं वाञ्छद्भिः पुरुषैः स्त्रीसङ्गः सर्वथा त्याज्य इत्याह—

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गवलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्भासिनी ।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराशया नेष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम् ॥ १११ ॥

उन्मीलदिति ॥ हे जनाः, यदि संसारार्णवे संसारसमुद्रे मज्जनमवगाहनं नेष्यते इष्टं न भवति ततस्तर्हि अभित आसमन्ताद्भागे क्रूरा घातुका मकरादिजीवा यस्यां सा, पक्षे क्रूरः कठोर आशयश्चित्तं यस्याः सा, "नृशंसो घातुकः क्रूरः" इति, "कर्कशं कठिनं क्रूरं कठोरम्" इति चामरः । एवंविधायाः कान्तायास्त्रिया आकारस्तस्य धरा धारिणी इयं नदी दूरेण दूरतः संत्यज्यताम् । कीदृशी नदी । उन्मीलन्त्यो याः त्रिवलय उदरस्थत्रिवलयस्ता एव तरङ्गवलयास्तरङ्गपङ्क्तयो यस्यां सा । तथा प्रोत्तुङ्गमुन्नतं पीनं पुष्टं च यत् स्तनद्वन्द्वं कुचयुग्मं तेन उद्यतचक्रवाकयोर्मिथुनं युग्मं यस्यां सा, तथा वक्त्रमेवाम्बुजं कमलं तेन उद्भासिनी शोभमाना । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियविषयैर्वञ्चितचित्तः स्वार्थं चालभमान आक्रोशपूर्वकं तान्निन्दन्नाह—

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽयं स्पर्श एष स्तनानाम् ।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥ ११२ ॥

इह हीति ॥ इह लोके मधुरं गीतं गानम्, शब्दरूपो विषय इत्यर्थः । एतन्नृत्यं नर्तनम्, चक्षुर्विषय इत्यर्थः । अयं रसः स्वादुपदार्थास्वादनम्, रसनेन्द्रियविषय इत्यर्थः । अयं परिमलो गन्धः, घ्राणेन्द्रियविषय इत्यर्थः । एष स्तनानां स्पर्शश्च, त्वगिन्द्रियविषय इत्यर्थः । स्फुरतीति सर्वत्र संबध्यते । इति भ्राम्यमाणोऽहं हतो नष्टः परमार्थो यैस्तैः तथा स्वहितस्य करणे धूर्तैर्वञ्चकैः पञ्चभिरिन्द्रियैर्वञ्चितोऽस्मि । मालिनी वृत्तम् ॥

गात्रवैकल्यादिकारिणीं जरां निन्दन्नाक्रोशपूर्वकमाह—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।

वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥ ११३ ॥

गात्रमिति ॥ जीर्णं वयो यस्य एवंविधस्य पुरुषस्य गात्रं शरीरं संकुचितं संकोचं प्राप्तम्, तथा गतिर्गमनं विगलिता नष्टा, च पुनः दन्तावलिर्दन्तपङ्क्तिर्भ्रष्टा पतिता, दृष्टिर्नश्यति, बधिरता बधिरत्वं वर्धते, उच्चैर्घुष्टमपि न श्रूयत इत्यर्थः । वक्त्रं मुखं च लालायते लालावदिवाचरति । अत्र लालावच्छब्दस्तद्वृति वर्तते, तस्मात् "कर्तुः क्यङ्" इति क्यङ् । बान्धवजनो वाक्यं वचनं नाद्रियते न स्वीकरोति । "दृङ् आदरे" तुदादिः । तथा भार्या स्त्री न शुश्रूषते न सेवां करोति । पुत्रोऽपि अमित्रायते । अमित्रवदाचरतीत्यर्थः । हा कष्टम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

इह संसारे जन्मप्रभृति मरणपर्यन्तं तदुत्तरकालमपि च सुखैकलेशोऽपि नास्तीति सूचयन्नाह—

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च संपूर्णविभवः ।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव बलीमण्डिततनु-
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीजवनिकाम् ॥ ११४ ॥

क्षणमिति ॥ नरः पुरुषः नट इव संसारस्य संसरणस्य अन्ते । मरणानन्तरमित्यर्थः । यमधानी यमनगरी सैव जवनिका तिरस्करिणी । लोके "पडदा" इति प्रसिद्धा "प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा" इत्यमरः । तां विशति प्रविशति । कीदृशो नरो नटश्च । क्षणं अल्पकालं बालो भूत्वा क्षणमपि कामेषु विषयेषु रसिकः, युवा तथा क्षणं वित्तैर्द्रव्यैर्हीनो रहितः तथा क्षणमपि च संपूर्णो विभव ऐश्वर्यं यस्य सः, तथा जरया जीर्णानि शिथिलानि तैः अङ्गैर्हस्ताद्यवयवैरुपलक्षितः, तथा वलीभिः उदरस्थत्रिवलीभिः मण्डिता भूषिता तनुः शरीरं यस्यैवंविधः नटो यथा नानाविधभूमिका गृहीत्वा अन्ते यथा जवनिकां प्रविशति तद्वदयं नरोऽपि बालत्वादिभूमिकाः गृहीत्वा यमपुरिजवनिकां प्रविशतीति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

विक्षेपकशास्त्रार्थविचाराद्यभिलाषरहितेन मनसा शिवचिन्तनमेव कर्तव्यमित्यर्थं स्वमनःस्थितिप्रदर्शनेन सूचयन्नाह—

प्रशान्तशास्त्रार्थविचारचापलं निवृत्तनानारसकाव्यकौतुकम् ।
निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवं प्रपत्तुमन्विच्छति शूलिनं मनः ॥ ११५ ॥

प्रशान्तेति ॥ प्रशान्तं शास्त्रार्थस्य विचारे चापलं चांचल्यं यस्य तत्, शास्त्रार्थविचारे विषये चांचल्यरहितमित्यर्थः । नाना अनेका रसा येषु एवंविधानि यानि काव्यानि तेषां कौतुकं, निवृत्तं नानारसकाव्यकौतुकं यस्त तत् नानाविधकाव्यदर्शने कौतुकरहितमित्यर्थः । निरस्तो निःशेषो विकल्पानां विप्लव उपद्रवो यस्य तत्, निःशेषविकल्परहितमित्यर्थः । एवंविधं मे मनः शूलिनं शिवं प्रपत्तुं शरणीकर्तुमन्विच्छति वाञ्छति । "प्रयतं" इति पाठे मनोविशेषणम् । प्रयतं प्रयत्नवदित्यर्थः । "यती प्रयत्ने" इत्यस्य निष्ठान्तस्य रूपम् । वंशस्थं वृत्तम् ॥

भोगादेः सर्वस्य सभयत्वात् सर्वथा निर्भयं वैराग्यमेवाश्रयणीयमित्याशयेनाह—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥ ११६ ॥

भोग इति ॥ भोगे स्त्र्यादिसुखे रोगात् भयं भीतिरस्तीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । कुले सत्कुले च्युतिभयं विपरीतमाचरद्भ्यः स्त्रीपुत्रादिभ्यो भ्रंशभयम्, वित्ते धने नृपालाद्राज्ञः सकाशाद्भयम्, समयविशेषे राजा परिहरिष्यतीति भयमित्यर्थः । मौने मौनवृत्त्यां दैन्याद्दीनतायाः भयम्, दीनतया मौनं भ्रश्येदिति भयमित्यर्थः । बले शौर्ये रिपोः शत्रोः सकाशाद्भयम्, युद्धादिप्रसङ्गेनेत्यर्थः । रूपे सौन्दर्ये जरायाः सकाशात् भयम्, जराया सौन्दर्यभ्रंशभयमित्यर्थः । शास्त्रे वादात् भयम्, वादे सति जयपराजययोरनित्यत्वादित्यर्थः । गुणे खलाद्दुर्जनाद्भयम्, खलस्य गुणेषु दोषारोपस्वभावत्वादित्यर्थः । काये देहे कृतान्ताद्यमाद्भयम्, एवं सर्वं वस्तु भुवि पृथिव्या भयेनान्वितं युक्तमस्ति, परंतु नृणां वैराग्यमेव अभयं, निर्भयमस्तीत्यर्थः । अयमत्र श्लोकः पाठान्तरेण दृश्यते । स यथा—भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेषु भूभृद्भयं दासे स्वामिभयं जये रिपुभयं वंशे कुयोषिद्भयत् । माने म्लानिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं सर्वं नाम भयास्पदं भगवतो विष्णोः पदं निर्भयम् । इति अस्यार्थः स्पष्ट एवेति कृत्वा न लिख्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

वैराग्यशतकव्याख्यामर्थद्योतनिकाह्विकाम् ।
कृष्णः कुर्यामहं तेन प्रीयतां ज्ञानदः शिवः ॥ १ ॥

प्रख्याते भुवि शालिवाहनशकेऽब्ध्याकाशधृत्यन्विते
वर्षे पार्थिवनामके रविदिने तैषेऽसिते पक्षके ।
द्वादश्यां शतकत्रयस्य विवृतिः पूर्णत्वमागादियं
मर्थद्योतनिकाभिधाऽबुधजनोद्बोधाय या दीपिका ॥ २ ॥

इति श्रीमहाबलोपाभिधकृष्णसूरिविरचितायामर्थद्योतनिकाभि-
धायां टीकायां वैराग्यशतकं संपूर्णम् ॥ ७ ॥

निर्णयसागरस्थविक्रेयसंस्कृतपुस्तकानि।

	मू.	मा.व्य.
अभिनवकादम्बरी काव्यम्—धुण्डिराजकृतम्.	८≡	८॥
अमरुशतक—अमरुककविविरचित, अर्जुनवर्मदेवशर्मप्रणीत टीकेसहित.	·॥=	८-
आर्यासप्तशती—गोवर्धनाचार्यकृत, अनन्तपण्डितकृतया व्यङ्ग्यार्थदीपनया टीकया सहिता.	१॥	८=
ऋतुसंहारकाव्यम्—कालिदासकृतं, मणिरामकृत-टीकासहितं शृङ्गारतिलककाव्यं च	·।·	८-
कथाकौतुकम्—पण्डितश्रीवरविरचितम्	·।।।·	८-
कथासरित्सागरः—महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचितः, एतस्मिन् पृथक् पृथक् मनोहराः १२४ कथाः सन्ति.	५	·।≡
कादम्बरीकथासारकाव्यम्—श्रीमदभिनन्दकृतम्. ...	·॥·	८-
किरातार्जुनीयं काव्यम्—भारविकृतं, मल्लिनाथकृतया घण्टापथटीकया सहितम्....	१॥	८=
कुमारसंभवं काव्यम्—कालिदासकृतं, मल्लिनाथकृतया (१–७ सर्गपर्यन्तं), सीतारामकृत (८–१७ सर्गपर्यन्तं), संजीविन्या टीकया सहितं च....	२	·।·
गङ्गावतरणम्—श्रीनीलकण्ठदीक्षितविरचितम्.	·॥·	८-
गाथासप्तशती—श्रीसातवाहनविरचिता, गङ्गाधरभट्टकृत-टीकासहिता.	१॥	८≡
जयन्तविजयम्—श्रीमदभयदेवविरचितम्.	१	८-॥
दशावतारचरितकाव्यम्—क्षेमेन्द्रविरचित.	१	८-॥
देलरामाकथासार—राजानकभट्टाह्लादकविरचित	·।=	८-
नीतिशतकम्—भर्तृहरिकृतम्, कृष्णशास्त्री महाबल-कृतटीकासहिता.	·।·	८॥·
नैषधीयचरितम्—श्रीहर्षविरचितम्, नैषधीयप्रकाशाख्य (नारायणी) टीकासहितम्.	५	·।=
पतञ्जलिचरितम्—श्रीरामभद्रदीक्षितप्रणीतम्.	·॥=	८-
पुष्पबाणविलासः—श्रीकालिदासकृतः, पण्डितवरश्रीवेङ्कटसार्वभौमविरचितव्याख्यासहितः	८≡	८-

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

प्राकृत बालबोध

प्रथम भाग।

जिसको

श्री१०८मुनि आत्मारामजी महाराज शिष्यानु
शिष्य श्रीपूज्य अमरसिंहजी महाराज ने
पाठकों के हित के लिये लिखा

लाला कन्हैयालाल, लाला रामलाल, लाला
मुन्शीलाल, लाला अमीचन्द्र, लाला ठाकरदास
लाहौर निवासियों ने

सन् १९१० । संवत् १९६६

पञ्जाब एकानोमीकल यन्त्रालय लाहौर में प्रिण्टर
लाला लालमन जैनी के अधिकार से छपवाया।

प्रथम वार १०००

प्राकृत बाल बोध का।

अशुद्धि पत्रम्।

अशुद्धि	पत्र	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्धि	पत्र	पंक्ति	शुद्ध
षा	२	९	ष	०	२३	१३	विँ
फा	३	१८	फो	मा	२४	१६	मो
हि	५	१०	हिं	द्	२८	४	दे
०	६	१८	य	न्	२८	५	ण
व	७	८	वि	गि	२८	१२	वि
च्व	८	१६	च्प	ह्वा	२८	१७	ह्वो
ार	९	१	रि	उ	२९	१	वु
ष	१२	९	म	म	३०	२२	मु
न्धं	१२	१५	न्नं	त	३१	१८	तु
स	१३	१९	सु	म्भ	३२	१९	म्भ
ह्वां	१६	१९	ह्वाँ	क	३४	९	०
न+:	१७	१५	नः	ात्र	३४	१५	त्रि
न	१७	१५	णो	ात	३४	१६	ति
ता	१८	१	तो	स	३४	१८	सु
ह्वा	२०	२	ह्वो	०	३५	१२	णे
षो	२०	५	षौ	छ्य	३६	४	छ्यय
`	२०	५	षौ	पा	३६	५	पो

ओ३म् अर्हन् ।

नमोसव्वजिणंदाणं संजयाणंचभावउ ।
सरस्सई किवातो च वण्णमाला च भासामि ॥१॥

अथ नागरी स्वरः ।

औदन्ताःस्वराः १

औकारावसानावर्णाःस्वरसंज्ञाःस्युः

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ
ए ऐ ओ औ अं अः ॥

अथनागरी व्यञ्जन । कादिर्व्यञ्जनम् ॥

कादिर्वर्णोहपर्यन्तोव्यञ्जनंस्यात् ।

क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ ॥
ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न ॥
प फ ब भ म । य र ल व श ष ।
स ह । क्ष त्र ज्ञ ॥

अथ प्राकृत स्वरः ॥

अ आ इ ई उ ऊ ए[१] ओ अं ॥

---

१ प्राकृत भाषा में किसी २ स्थलपे ऐकार का औकार का प्रयोग ग्रहन किया है यथाः—कैयवं—कौरवा इत्यादि ।

अथ प्राकृत व्यञ्जन[1] ॥

क ख ग घ । च छ ज ञ झ । ट ठ ड ढ ण

त थ द ध[2] । प फ ब भ म । य र ल व स ह ।

अथ अक्षरों की पहिचान ॥

ए ल अ इ आ ऋ ओ ॠ औ अं ऊ ऌ ई उ

ऐ य र ट ण ठ छ ङ ड़ क थ न फ अः ढ

च भ द ग ज त झ क्ष ञ प घ व ह स श ष

अथ मात्रा स्वरूप

आ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ अं अः

। ा ि ी ु ू ृ ॄ े ै ो ौ ं ः

अथ द्वादशाक्षरी ॥

क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः

ख खा खि खी खु खू खे खै खो खौ खं खः

ग गा गि गी गु गू गे गै गो गौ गं गः

घ घा घि घी घु घू घे घै घो घौ घं घः

---

१ प्राकृत भाषा में व्यञ्जन नही लिखा जाता है—यथा—फलम् मलम् किन्तु—फलं मूलं ऐसे लिखा जाता है व्यञ्जन उसे कहते हैं जिस में स्वर मिला हुआ न होवे यथा क् इत्यादि ॥

२ मागधी भाषा में—ङ श ष ञ न यह वर्ण हैं किन्तु प्राकृत भाषा मैं केवल कहीं कहीं इन के प्रयोग ग्रहन किये गये हैं यथा नमोअरिहंताणं वा णमोअरिहंताणं इत्यादि ।

ङ	ङा	ङि	ङी	ङु	ङू	ङे	ङै	ङो	ङौ	ङं	ङः
च	चा	चि	ची	चु	चू	चे	चै	चो	चौ	चं	चः
छ	छा	छि	छी	छु	छू	छे	छै	छो	छौ	छं	छः
ज	जा	जि	जी	जु	जू	जे	जै	जो	जौ	जं	जः
झ	झा	झि	झी	झु	झू	झे	झै	झो	झौ	झं	झः
ञ	ञा	ञि	ञी	ञु	ञू	ञे	ञै	ञो	ञौ	ञं	ञः
ट	टा	टि	टी	टु	टू	टे	टै	टो	टौ	टं	टः
ठ	ठा	ठि	ठी	ठु	ठू	ठे	ठै	ठो	ठौ	ठं	ठः
ड	डा	डि	डी	डु	डू	डे	डै	डो	डौ	डं	डः
ढ	ढा	ढि	ढी	ढु	ढू	ढे	ढै	ढो	ढौ	ढं	ढः
ण	णा	णि	णी	णु	णू	णे	णै	णो	णौ	णं	णः
त	ता	ति	ती	तु	तू	ते	तै	तो	तौ	तं	तः
थ	था	थि	थी	थु	थू	थे	थै	थो	थौ	थं	थः
द	दा	दि	दी	दु	दू	दे	दै	दो	दौ	दं	दः
ध	धा	धि	धी	धु	धू	धे	धै	धो	धौ	धं	धः
न	ना	नि	नी	नु	नू	ने	नै	नो	नौ	नं	नः
प	पा	पि	पी	पु	पू	पे	पै	पो	पौ	पं	पः
फ	फा	फि	फा	फु	फू	फे	फै	फो	फौ	फं	फः
ब	बा	बि	बी	बु	बू	बे	बै	बो	बौ	बं	बः
भ	भा	भि	भी	भु	भू	भे	भै	भो	भौ	भं	भः
म	मा	मि	मी	मु	मू	मे	मै	मो	मौ	मं	मः

य	या	यि	यी	यु	यू	ये	यै	यो	यौ	यं	यः
र	रा	रि	री	रु	रू	रे	रै	रो	रौ	रं	रः
ल	ला	लि	ली	लु	लू	ले	लै	लो	लौ	लं	लः
व	वा	वि	वी	वु	वू	वे	वै	वो	वौ	वं	वः
श	शा	शि	शी	शु	शू	शे	शै	शो	शौ	शं	शः
ष	षा	षि	षी	षु	षू	षे	षै	षो	षौ	षं	षः
स	सा	सि	सी	सु	सू	से	सै	सो	सौ	सं	सः
ह	हा	हि	ही	हु	हू	हे	है	हो	हौ	हं	हः
क्ष	क्षा	क्षि	क्षी	क्षु	क्षू	क्षे	क्षै	क्षो	क्षौ	क्षं	क्षः
त्र	त्रा	त्रि	त्री	त्रु	त्रू	त्रे	त्रै	त्रो	त्रौ	त्रं	त्रः
ज्ञ	ज्ञा	ज्ञि	ज्ञी	ज्ञु	ज्ञू	ज्ञे	ज्ञै	ज्ञो	ज्ञौ	ज्ञं	ज्ञः

अथ प्रथम पाठः-अकारका।

अ+ा = त्+ा त

तव, थव, कम्म, धम्म, मम्म, गय, घम्म, जम, अथ, पय, भय, जय, खय, हण, कह, सच्च

भावार्थः-तप करना योग्य है स्वः स्तुति मन करो, कर्म शुभ करने उचित हैं, धर्म से ही सुख मिलता है मर्म किसी का मत उच्चारण करो। गज स्थूल होता है, यह धर्म स्थान है, यम के पास जाने के कर्म करने उचित नहीं हैं, अन्याय से धन उत्पन्न करना न चाहिये, पद पद करके ज्ञान पढ़ो, पाप से सदाही भय

करो, धर्म की सदा ही जय होती है। मोह कर्म्म को क्षय करो, हनन करो अज्ञान को कथन करना योग्य है सत्य बचन ॥

अ+ा + स् ा+स

सव्वेपुरिस्साणंअरहे परोप्परं पेमभावसद्धिं वट्टेधम्मं कडे धम्मे तोसव्वे कज्जाइंसिद्धं ति धम्मंहिसारप यथा अहिंसामूलधम्मं ॥

भावार्थः-सर्व पुरुषों को योग्य है, कि परस्पर प्रेम भाव के साथ वर्त्तें धर्म करें क्योंकि धर्म से हि सर्व कार्य सिद्ध होते हें, धर्म हि सार पदार्थ हें, अहिंसा मूल धर्म है ॥

आ+ा ा +न्+ा ा=ना +

आकार के प्रयोग्य।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
नाम	नाम	आय	लाभ	गाम	ग्राम
काम	काम	याम	यम	दाम	धन
साम	श्यामदेश	नाण	ज्ञान	आणा	आज्ञा

प्राकृत।

आयभवति गामेगच्छति सपुरिसेसयनामेकहइ कामे चयइयामेपाले तिनाणगिराहेति आणाएसम्मंवहति।

भाषार्थः—लाभ होता है, वह पुरुषस्वःनामकहता है, ग्राम में जाता है काम छोड़ता है, पाञ्चयमपालता है, ज्ञानग्रहन करता है, आज्ञा सम्यक् वहता है. अर्थात् अर्हन् की वह पुरुष आज्ञा सम्यक् पालता है।

प्राकृत।

आयानाणसिक्खइकामेजहति नामेपयासेति गामेतो सपुरिसेआगच्छति ठाणंठाणेपायविवादे भवतिसोसोगं

भाषार्थ-आत्माज्ञानसीखता है, काम छोड़ता है, नाम प्रकाशता है, ग्राम से वह पुरुष आता है, स्थान स्थान में प्रायः विवाद होता है, सो शोक है॥

इकारकेरूपः न् + ि + नि

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
नियंठ	निग्रंथ	निगंथी	निग्रंथी	वित्ते	धन
विज्जं	विद्वान्	जिण	अर्हन	गिरि	पर्वत
भिक्खू	साधु	पिसाय	पिशाच	सिद्धि	सिद्धि
रवि	सूर्य्य	कवि	कवि	मणि	मुनि
पतिण्णा	प्रतिज्ञा	अग्गि	अग्नि	पवित्ते	पवित्र
झुनि	ध्वनि	सिरवेयण	शिरपीडा	विम्हा	विभ्रम

प्राकृत-नियंठअणुप्पेहाकरेति निगंथीउवएसकरेति वित्तथेजीवाभमंति विज्जंभासइ जिणपरमशुद्धं वागरेतिइमेगिरिसंति भिक्खूविहरंति पिसायकूरभवति सिद्धिसुंदरं हवइ॥

भाषार्थः-निर्ग्रंथअनुप्रेक्षा करता है,निर्ग्रंथी उपदेश करती है, धन अर्थजीव भ्रमते हैं, विद्वान् कहता है अर्हन् प्रभु परमशुद्ध कहता है यह पर्वत है, भिक्षू विचरता है,पिशाच क्रूर होता है,सिद्धिपरम सुंदर है ॥

प्राकृत- रविपगासकरेति कविगीयगायइ, मुणिझाणझायइ झुनिसपुरिसेणंभागछति तेउपज्जलेइ पवितेजिण धम्मेपइणा करेमिसिरवेयणामाभवे, वम्हयभवामि ॥

भाषार्थः-सूर्य्य प्रकाश करता है,कवि गीत गाता है, मुनि ध्यान ध्याता है, ध्वनि वह पुरुष की आती है, अग्नि प्रज्वलत है, जिन धर्म ही पवित्र है,प्रतिज्ञा करता हूं शिर वेदना मत होवे विस्मय होता हूं।

ईकार के रूपः ध्+ ी-धी

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
धीति	धीर्य	ईसरो	ईश्वरः	सुची	सूई
बीरे	बीर	नीय	नीतशास्त्र	देवी	देवी
कुमारी	कन्या	खंती	क्षमा	मुत्ति	मुक्तबंधन
ीलणा	अपमान्	बंभयारी	ब्रह्मचारी	जाई	जाती

प्राकृत-सुची अयणंभवइ, ईसर सव्वत्थु अत्थिधीतिअरहे बीरपुरिसे कम्माणंखयकरंतिनीयसत्थाणुसारेणंदेवीसंत्ति कुमारी विज्जाभणे तिखंत्तीमुत्तीस

ज्झाणं अरहे माहीलणाभवेबंभयारीसुठुउवएसकरेति जाई पहमुच्चिस्सतितोखिप्पंनाणउदय भविस्ससि।

भाषार्थ–सूई लोहे की होती है ईश्वर सर्वज्ञ होता है धृति करनी योग्य है वीर पुरुष कर्मों को क्षय करते हैं न्याय शास्त्रानुसार–देवी है कन्या विद्या पढ़ती है क्षमामुक्तबन्धन होना सबों को ही योग्य है मत किसी का अपमान होवे ब्रह्मचारी सुष्टउपदेश करता है यदि ज्ञाति पथ अर्थात् संसार चक्र से सम्बन्ध मुक्त होवेगा तो शीघ्र ही ज्ञान प्रगट होवेगा॥

अथ द्वितीयपाठः उकार के रूपः।

ग्+उ+ग् ु = गु

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
गुण	गुण	उवझाय	उपाध्याय
उवहास	उपहास	पुरिसे	पुरुष
कुमारी	कुमारी	खुर	क्षुरउस्तरा।
पुप्फ	पुष्प	उदय	उदक,जल
कुसल	कुशल	उत्तमे	उत्तम
अणुगाहे	अनुग्रह	बहवे	बहुते
मुत्त	मुक्त	सुही	सुखी
सुरभि	सुगंध	निउण	निपुन

१ ईश्वर अर्हन् सिद्ध प्रभु के नाम हैं॥

प्राकृत–उवज्झाया विज्जाभणावइ अप्पञ्ञ पुरिसेउ वहासंकरंति गुणयुत्ते पुरिसापरोवगारं कडंति कुमारी वंभचेरेणं सुद्धं पालइ पुप्फे सुगंधदेईति उदय पाय सव्वजीवाणं पालणा करेति कुसलपुरिसेधम्मं करइ उत्तमेजीवा अणुग्गहेकरंति मुत्तजीवा सुहीसुरभिमागम्मेति निउणजाणेति ॥

भाषार्थः–उपाध्याय विद्या पढाता है अल्पज्ञ पुरुष ही उपहास करते हैं गुण युक्त ही पुरुष परोपकारी होते हैं, कुमारी कन्या शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालती है पुष्प सुगन्ध देता है, उदक प्रायः सर्व जीवों की पालना करता है, कुशल पुरुष ही धर्म करते हैं उत्तम जीव सदैव ही अनुग्रह करते हैं मुक्त जीव ही सुखी हैं सुरभि आता है निपुन जानता है ॥

प्राकृत–उक्किठंधम्मं अहिंसा उक्कंठामुत्तिणं मुक्को संनाणं केवलं ।

भावार्थः–उत्कृष्ट धर्म अहिंसा है उत्कण्ठा मुक्ति की है उत्कृष्ट ही ज्ञान केवल है ।

ऊ-कार के रूपः ऊ+ ू । भ्+ ू =भू ।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
भूमिवई	भूमिपती	पूया	पूजा

नूणं	निश्चय	थूलं	स्थूल
पडिकूले	प्रतिकूल	मच्चू	मृत्यु
भूसणो	भूषणः	विभूति	विभूति लक्ष्मी

प्राकृत-भूमिवई निछयकरेति पूयाभवइ नूणं सद्धिंभासामिधम्मं ताणेइ मे जीवेथूले पडिकूले वा अपियमच्चू भूसणोसद्धिविभू इवड्ढति।

प्राकृत-भूमिवईनिया यदिट्ठिसद्धिंपयाणं रक्खा करेति।

भाषार्थः-भूमिपती निश्चय करता है, पूजा होती है, निश्चय के साथ कहताहूं धर्म ही त्राणशर्ण है यह जीव स्थूल है प्रतिकूल है, वा अप्रिय है; मृत्यु भूषणों से ही विभूति वढती है भूमिपती न्यायदृष्टि के साथ प्रजा की रक्षा करता है॥

प्राकृत भाषा में ऋ-कार का अभाव है इस लिये ऋ-कार के स्थान में अकार, इकार, उकार, के रूप लिखे हैं यथा।

ऋ-कार के अ-कार रूप-घ्+ा+घ।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
घयं	घृतं	तणं	तृणं
कयं	कृतं	वसहो	वृषभः

प्राकृत–घयपुट्ठिकारएभवति तणवणप्फइर्णजाई कयकम्मं अवेई तानत्थिमोखोवसहो धावई मिगो पासइ ॥

भाषार्थः–घृत पुष्टिकार्क होता है तृण बनस्पती की जाती है कृत कर्म भोगे बिना मुक्ति नहीं होती है वृषभ भागता है मृग देखता है इत्यादि ।

ऋकार के इकार रूप कृ+ि+कि ।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
किवा	कृपा	दिट्ठि	दृष्टि
सिट्ठि	सृष्टिः	इसि	ऋषि
किवणो	कृपणः	निवो	नृपः
घिणा	घृणा	इड्ढी	ऋद्धि

प्राकृत–किवादिट्ठिभवेसु पुरिसाणंसिट्ठिणं सव्वेजाणति इ सिकिवण पुरिसे सइ सोगेकरंति निवनेयाउ एमग्गेपवट्टइ घिणामाकरे इड्ढीयुत्तेइमेपुरिसे ।

भाषार्थः–कृपा दृष्टि होवे सुपुरुषों की सृष्टि का स्वरूप जानते हैं ऋषि कृपण मनुष्य सदा ही शोक करते हैं नृप न्याय मार्ग में प्रवर्त्तता है घृणा मत कर ऋद्धि युक्त यह पुरुष है ॥

ऋकार के उकार रूप प्+ ु-पु।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
पुहवी	पृथ्वी	उसभदेवे	ऋषभदेव जी
उऊ	ऋतु	वुन्दावणं	वृन्दावन
वुड्ढो	वृद्धः	पउत्ती	प्रवृती
भाति	भ्रातृ	उज्जु	ऋजु

प्राकृत-पुठवीमझे उसभदेवे पढमति थयरभूया उऊ सुन्दरे वुंदावणेस पुरिसेगछति वुड्ढोचिंताकरइ अइक्कमेमए पढवत्था भातिउज्जु ॥

भाषार्थः-पृथ्वी में श्री ऋषभदेव जी प्रथम तीर्थंकर हुये हैं, ऋतु सुन्दर है वृन्दावन में वह पुरुष जाता है वृद्ध चिन्ता करता है, कहता है अति क्रम गई है मेरी प्रथम व्यवस्था भ्रातृ (ऋजु) सरल है॥

ऌ कार का रूप प्राकृत भाषा में किलितं वा किलिन्धं इकार साथ होता है।

इति द्वितियः पाठः।

अथ तृतीय पाठः ए+ े ॥द्+ े-दे।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
देवा	देवते	एज्जमाणस्सणं	आतेहुयोंको

एवं	एवंविधि	मेवं	इसी प्रकार
खेल	थूक	चेव	निश्चय
एयं	यह	सेज्जा	शय्या है
धम्मे	धर्ममें	कम्मे	कर्म में

प्राकृत–देवाएज्जमाणस्सणं पासित्ता अछेरंभूय भवामि एवमेवं निछयउवागरेमि खेलसिंभोणं जाई धम्मेपुरिस्सकार परिक्कम्मेउ इदंमा असुहकम्मेसे वियठ्वो अयंसेज्जा ॥

भावार्थः–देवते आते हुओं को देख कर आश्चर्य भूत होता हूं इसी प्रकार निश्चय से कहता हूं थूक श्लेषम की जानी है धर्म में पुरुष्कार पराक्रम करना उचित है मत अशुभ कर्म सेवन करो, यह शय्या है।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
धेणु	गौ	देवी	देवी
एसणं	एषनीक	हेम	बर्फ
खेते	क्षेत्र	वेयणा	वेदना
खेमं	क्षेम	से	वह

प्राकृत–धेणुरसदएति देवी रक्खाकरेति भिक्खू एसणिय पिण्डं गिएहंति हेमपवडेति इमे खेते सन्दरे धम्मं होई वेयणाखय करिस्सामि पच्छाखेमे भवि-स्ससिसे पुरिसे कुडिले ॥

भाषार्थः-गौ दुग्ध देती है देवी रक्षा करती है भिक्षु शुद्ध आहार ग्रहन करते हैं, हेम (बर्फ) पड़ती है इस क्षेत्र में सुन्दर धर्म होता है वेदना क्षय करूंगा तो पश्चात क्षेम होवेगा वह पुरुष कुटिल है ॥

[१] अथ ऐकारको रूप व्+ा व इ आदेश होताहै यथा ॥

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
वइरं	वैरं	भइरवो	भैरवः
चइतो	चैत्र	वइस्सो	वैश्यः
वेसवणो	वैश्रवणः	वइएसो	वैदेशः

प्राकृत-देवाणुप्पिया वइरंमाकरे भइरवोपासई च इत्तोगच्छइ वइस्सोकय विक्कयकरेति वइसवणोसा वदलइ वइएसोणं गच्छामि ॥

भाषार्थः-देवाणु प्रिय वैर मत कर भैरव देखता है चैत्र जाता है वैश्य क्रयविक्रय करता है वैश्रवण शाप देता है विदेश को जाता हूं ।

१-प्राकृत भाषा में ऐ-कार का अभाव है केवल कहीं २ इस का प्रयोग ग्रहण किया गया है यथा (ऐ वी हेमि) जैनी था ऐ कार के स्थान ये ए कार के भी रूप ग्रहन किये गये हैं यथा एरावणो वेरं केलासो सेलो इत्यादि तथा ऐ कार को अइ आदेश भी होता है देखो मूल में ॥

ओ कार के रूप म्+ो+मो।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
मोहे	मोह	सोगे	शोक
रोगे	रोग	भोगे	भोग
जोगी	योगी	मोसा	झूठ
चोरयं	चोरी	कोलाहल	कोलाहल

प्राकृत–सव्वकम्माणंमूलेमोहकम्मे सोगकम्माणं निवडबंधणं करेइभोगे रोगभयं जोगी पुरिसेणो मुसावयइंतेण पुरिसे चोरीकडेइ कोलाहल भवइ ॥

भाषार्थः–सर्व कर्मों का मूल मोह कर्म है शोक कर्मों के कठन बन्धन करता है भोग में रोग का भय है योगी पुरुष झूठ नहीं बोलते हैं चोर चोरी करता है कोलाहल होता है अर्थात् (शोर पड़ता है)

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
मोय	मोद	मोक्खं	मोक्ष
जोई	अग्नि	रोसे	रोस क्रोध
मोती	मोती	लोय	लोक

प्राकृत–मोयभवामि मुत्तिल भिस्सति जोइपज्ज लेति रोसेणं चयमि मोत्तीसुन्दरेपयथा लोयवसामि॥

भाषार्थः–आनंद होता हूं मुक्ति उपलब्ध होवेगी

अग्नि प्रज्वलत है रोस को छोडता हूं मोत्ती सुन्दर पदार्थ होता है लोक में वसता हूं ॥

औ कार के प्रयोग प्राकृत में नहीं हैं केवल कहीं कहीं दृष्टि गोचर आते हैं यथा कौरवादि ॥

[1]अं कार के रूप ह्+ं = हं ।

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
हंस	हंस	संख	शंख
मंस	मांस	संजम	संयम
संजोग	संयोग	संसारे	संसार में

प्राकृत-हंससेतभवनि संखवेइंदिय जीवाणंपोग लेमंसे आहार अभक्खे एवामेवंसुगावि संजममग्गे सुन्दरे संसययुत्ते जीवाणो समाहि लभ्भंति संजोग विप्पउग संसारस्सणं लक्खणं ॥

भाषार्थ- हंस श्वेत होता है संख द्वेन्द्रियक जीव का पौद्गल है मांस अहार अभक्ष है ऐसे ही सुराभी अभक्ष है संयम मार्ग सुन्दर है संशययुक्त जीव समाधि नहीं पाते हैं संयोग वियोग संसार का लक्षण ही हैं ।

१-प्राकृत भाषा में अर्द्ध अनुस्वार नहीं होता है यथा खांसी आंख इत्यादि ॥

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
संजया	संयती	पंसु	रज
कंस	कंश	सिंदुनई	सिंधुनदी
गंगा	गंगा	संघे	श्री संघ

प्राकृत—संजया पुरि सा अप्पे पंसु वुट्ठी भवइ कंसपलायइ सिंदुवहइ गंगाणं पासामि संघे सुकज्जं करेति ।

भावार्थः—संयती पुरुष स्वल्प हैं रज वृष्टि होतीहै कंश भागता है सिंधु नदी बहती है गंगा जी को देखता हूं श्रीसंघ सुकार्य करता है अर्थात् श्री संघ चतुर्थ प्रकार का है यथा साधु १, साध्वि २, श्रावक ३, श्राविका ४।

प्राकृत भाषा में विसर्ग नहीं हैं किन्तु विसर्ग के स्थान में (ओं) कार का ग्रहन है यथा।

अः + ाः । न+ः-न्-न-ओ-णो

प्रा०	भा०	प्रा०	भा०
पुणो	पुनः	पुणो	पुनः

१ विसर्ग के स्थान में पत-वा-मत-वा रेफ भी होता है यथा (कतर:गच्छति) कयरेगच्छइ (अन्त:पुरं) अंतेउरं (पुन:अपि) पुनरवि (सःएष) स एष-ओ-कार का स्वरूप देखो मूल में ।

सव्वओ	सर्वतः	अग्गता	अर्गतः
संतो	सन्तः	कुतो	कुतः

प्राकृत–पुणो पुणो मह पहणा करे मिहे भगवं ममं सया समाहि भवेसव्वओहिंतो खमावणाय करेमि पुरओकालेणं पासामि मग्गओ गच्छामि इमे-ठाणे संति तहाग्गे कुतोभयं संजइ पुरिस्साणं।

भावार्थः–पुनः पुनः मैं प्रार्थना करता हूं कि हे भगवन् मुझे सदा हि समाधि होवे सर्व से मैं क्षमापण करता हूं आगम काल को देखता हूं पश्चात ही जाता हूं यह स्थानक हैं कहां से भय है संयमी पुरुषों को अपितु कोई नहीं।

प्राकृत भाषा में [१]विकल्प से अ-कार को आकार का भी आदेश होता है-यथा-समिद्धि वा-सामिद्धीपयडं-वा-पायडं-पसुत्तो-वा-पासुत्तो-इत्यादि।

भावार्थ–समृद्धि पाकर अहंकार मत करो प्रकट हो वा भद्र जीवोंको प्रसुप्त मत होवो अर्थात् यह काल शयन का नहीं है।

अकार को इकार का संयोग यथाः–

पक्कं पिक्कं अकारको एकार संयोग सेज्जाशय्या है।

---

१ विकल्प उसे कहते हैं। किसी स्थानपे, वह रूप हो, किसी स्थानपे न हो।

अ० आ० संयोग यथा-
लवणं लोणं भा० लवन है।
ऊ कार को ओ० संयोग।
मयूरो मोरो भा० मोर बोलता है।
इ कार का ए कार का संयोग यथा-
पिंडं पेण्डं भा० आहार भोगता है।
इ कार को ओ० यथा-
द्विधा दोहा किज्जइ भा० दोभाग करता है।
इ कार को ई कार का संयोग यथा-
सिंह सीहो भा० सिंघ है।
उ कार को ओ० संयोग यथा-
पुस्तक पोत्थयं भा० पुस्तक है।
उ कार को इ कार का संयोग यथा।
पुरुष पुरिसो भा० पुरुष भाषण करता है।
ऊ कार को उ कार का संयोग यथा-
दुकूलंतु दुउलं भा० वस्त्र है।
ऋ कार के आदेश पूर्ववत् है।
ए कार को इ कार का संयोग यथा-
वेदना वियणा वेदना होती है।
प्रा० ऐ कार को ए कार का संयोग।
शैलो सेलो भा० पर्वत है। तथा-

ऐ कार को अइआदेश होता है।

वैशाख,वइसाखे भा० वैशाख मास होता है।

ऐ कार को इं कार का संयोग।

धैर्यं धीरं भा० धीर्यवन्त होना उचित्त है।

ओ कार को औ कार का संयोग।

कौमुदी कोमुई भा० कौमुदी पंडित पढते हैं।

औ कार को अउ आदेश होता है। यथा-

पौरः पउरो पौरुषं पउरिसं।

ओ कार को उकार का संयोग। यथा-

सुन्दरं सौन्दर्य दुवारिओ दौवारिकः।

अव अप उपसर्गार्थे विकल्प से।

ओ कार का आदेश होता है। यथा-

ओ आसो अव आसो (अवकाश)

ओ सरई अव सरई (अपसरति) उपसर्गार्थे।

ऊ कार को ओ कार की प्रवृति होनी है।

यथा ओ आसो ऊ आसो (उपवास) इत्यादि॥

प्राकृत-विज्जाभणेमि विणय करेमि पाढोघोसेमि

भावार्थः-विद्या पढता हूं, विनय करता हूं. पाठ घोषता हूं (गुरुणं आणापालेमि) गुरु जी की आज्ञा पालन करता हूं। इति तृतीय पाठः सम्पूर्णम्।

चतुर्थ पाठः।

प्राकृत भाषा में भिन्न वर्गीय वर्णों का परस्पर संयोग नहीं होता है।

यथा र्क ष्क क्त क्य: क्र र्कं ल्क क्ल क इत्यादि वर्णों का। क्क ऐसा रूप वन जाता है एवं सर्वत्र विधिः तथा भिन्न वर्गीय वर्ण का लोप होकर वह वर्ण द्वित्व हो जाता है। यथा उदाहरण मात्र।

सं०[१]	प्रा०	सं०	प्रा०
क–भुक्तं	भुत्तं	सिक्थं	सित्थं
भक्तं	भत्तं	मुक्तं	मुत्तं
ग–दुग्धं	दुद्धं	मुग्धं	मुद्धं
स्निग्ध:	[illegible]	सिणि	द्धो
ट–षट्पदः	सप्पओ	कट्फलं	कप्फलं
ड–खड्गो:	खग्गो	षड्ज:	सज्जो
त–उत्पलं	उप्पलं	उत्पात:	उपाओ
द–मुद्गदः	मुग्गो	मुद्गरो	मुग्गरो
प–सुप्तं	सुत्तं	पर्याप्तं	पज्जतं

१ उक्त स्वरूप केवल दर्शाने मात्र ही लिखा गया है क्योंकि विशेष लिखा जाय तो पुस्तक वृद्धि हो जायगा। इस भय से केवल उक्त स्वरूप में प्राकृत प्रणाली दिखलाई गई है।

श–निश्चलः	निच्चलो	श्चुतति	चुयइ
ष–गोष्टी	गोट्टी	निष्ठुरः	निठ्ठुरो
स–स्खलितं	खलियं	स्नेहः	णेहो
म–युग्मं	जुग्गं	रश्मि	रस्मी
न–नग्नः	नग्गो	भग्नः	भग्गो
य–सौम्य	सोम्मो	वाक्यं	वक्कं
ल–उल्का	उक्का	वल्कलं	वक्कलं
व–लुब्धः	लुद्धोः	लुब्धकः	लोद्धयो
शब्दः	सद्दो	अब्दः	अद्दो
र–अर्कः	अक्को	वर्गः	वग्गो
ल–श्लक्ष्णं	सण्हं	विक्लवः	विक्कवो
व–पक्कं	पिक्कं	ध्वस्तं	धत्थं
र–चक्रं	चक्कं	ग्रहः	गहो
रात्री	रत्ती	गात्रं	गत्तं

ष्क–(पुष्करं) पोक्खरं स्क (स्कंधः) खंधो त्य (सत्यं) सच्चं त्व णच्चा (ज्ञात्वा) ध्व (पृथ्वी) पिच्छी द्व (विद्वान्) विज्जं ध्वा (बुध्वा) बुज्झा थ्य (पथ्यं) पच्छं (मिथ्या) मिच्छा श्च (पश्चिमं) पच्छिमं त्स (उत्साहः) उच्छाहो (प्स) (लिप्सति) लिच्छा ध्य (ध्यानं) झाणं ष्प (पुष्पं) पुप्फं श्न (प्रश्नः) पण्हो ष्ण (विष्णुः) विण्हु स्न (ज्योत्स्ना) जोण्हा

ह्न (वह्निः) वह्नी क्ष्ण (तीक्ष्णं) तिह्नं श्म (काश्मीरः) कम्हारो ष्म (ग्रीष्मः) गिम्हो स्म (अस्मादृशः) अम्हारिसो ह्म (ब्रह्मा) बम्हा ह्य (सह्य) सह्मो ह्न (कह्लारं) कल्हारं म्ल (म्लानं) मिलानं र्य (भार्या) भज्जा न्म (जन्म) जम्मो ज्ञ (ज्ञानं) णाणं ध्य (उपाध्यायः) उवझाओ द्य (विद्या) विज्जा क्म (रुक्मं) रुप्पं रुप्पिणी (रुक्मिणी) ड्म (कुड्मलं) कुप्पलं (व्याख्यानं) वक्खाणं ष्ट (मुष्टीः) मुट्ठी स्त (हस्तः) हत्थो (स्तोकं) थोतं थुइ (स्तुतिः) ॥

इत्यादि स्वरूपः चतुर्थ पाठः सम्पूर्णम् ।

पञ्चम् पाठः ।

अथ चोवीस तिथयर नामाणि ।

अथ चतुर्विंशति तीर्थंकर देव जी के नाम ।

१ सिरि उसभदेवे, श्रीरुषभदेव जी ।
२ सिरि मजियनाहे, श्रीअजितनाथ जी ।
३ सिरि संभवनाहे, श्री संभवनाथ जी ।
४ सिरि मभिणंदणनाहे, श्री अभिनन्दननाथ जी ।
५ सिरि सुमइनाहे, श्रीसुमतिनाथ जी ।
६ सिरि पउमपहं, श्री पद्मप्रभु जी ।
७ सिरि सुपासनाहे, श्री सुपार्श्वनाथ जी ।

८ सिरि चन्दापभु, श्री चन्द्रप्रभु जी ।

९ सिरि सुविहिनाहे वा पुप्फदंतं, श्रीसुविधिनाथजी। वा पुष्पदन्तजी। (इनके दो नामहैं)

१० सिरि सीयलनाहे, श्री शीतलनाथ जी ।

११ सिरि सेज्जंसनाहे, श्री श्रेयांशनाथ जी ।

१२ सिरि वासुपुज्जंच, श्री वासुपूज्य जी।

१३ सिरि विमलनाहे श्री विमलनाथ जी ।

१४ सिरि मणंतनाहे, श्री अनन्तनाथ जी।

१५ सिरि धम्मनाहे, श्री धर्मनाथ जी।

१६ सिरि संत्तिनाहे, श्री शान्तिनाथ जी।

१७ सिरिं कुंथुनाहे, श्री कुंथुनाथ जी।

१८ सिरिअरनाहे, श्री अरनाथ जी।

१९ सिरि मल्लिनाहे, श्री मल्लिनाथ जी।

२० सिरि मुणिसुव्वयसामा, श्रीमुनिसुव्रत स्वामीजी

२१ सिरि नेमिनाहे, श्रीनेमिनाथ जी।

२२ सिरि अरिठनेमिनाहे, श्रीअरिष्टनेमिनाथ जी।

२३ सिरि पासनाहे, श्री पार्श्वनाथ जी।

२४ सिरि श्रीवद्धमाणसामि, वर्द्धमानस्वामी जी।

णमो भगवतो उसभस्सणं।

नमस्कार हो वो श्री रुषभदेव जी भगवन्त को

इयचउवीस तित्थयरणामानि।

अथ नमोक्कारमंत्तं। यथा

अथ नमस्कार मंत्र, जो परम मंगलीक है यथा-

नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोएसव्वसाहुणं एसोपंच नमो कारो सव्वपावप्पणासणो मंगलाणंचसव्वेसिंपढमंहवइ मंगलं।

भावार्थः--नमस्कार होवो श्रीअर्हन् देव जी को अर्थात् जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं का हनन् किया है अष्टादश दोष रहित हो कर द्वादश गुण प्रगट भये हैं उन जीवों को अरिहन्त वा अरुहन्त वा अर-हंत कहते हैं १ नमस्कार हो वो श्री सिद्धप्रभुओं को अर्थात् अनादि काल के कर्म बन्धन से मुक्त होकर सकल कार्यसिद्ध हुये अष्ट गुण संयुक्त अजर अमर सिद्ध बुद्ध निराकारादि नाम जिन के सुप्रसिद्ध हैं तिन को सिद्ध कहते हैं। एक सिद्धापेक्षयासादि अनन्त है वहुत्वे सिद्धापेक्षयाअनादि अनन्त हैं २ नमस्कार हो वो श्रीआचार्यों को जो गच्छाधिपति हैं षट् त्रिंशति गुण संयुक्त हैं ३ नमस्कार हो वो श्री उपाध्याय जी को जो चतुर्थदश दोष वर्जित जिन वाणी के पठन पाठनादि क्रिया में प्रवर्त्तते हैं पञ्च

विंशति गुणसंपन्न है नमस्कार हो वो समय क्षेत्र वती सुशोभन क्रियायुक्त जो साध हैं सप्तविंशति अणगारगुण संयुक्त तिन सर्व मुनिओं को यह पञ्च-पद नमस्कार मंत्र के सर्व पापों के नाश करने हारे हैं परम मंगल दायक हैं प्राय: च पुनार्थ: सर्वस्थानों में पठन किये हुये तथा जैसे संसार में दध्यादि पदार्थ मंगलीक गिने जाते हैं तिन सर्व पदार्थों से प्रथम नमस्कार रूप मंत्र ही मंगलीक है सो इस का अवश्य ही जाप रूप पाठ करना चाहिये पुनः यह मंत्र आत्मा को भी परम शुद्ध करता है विघ्न नष्ट होते हैं इति लेशार्थः ।

एगसंवच्छरस्सणं बारसमासा तंजहा ।

एक संवत्सर के द्वादश मास होते हैं यथा:-

१-अभिणंदिय, श्रावण । २-पयठेअ, भाद्रवपद ।
३-विजय, आश्विण । ४-पीयवद्धण, कार्त्तिक ।
५-सेयंसेअ, मृगशिर । ६-सिवेचेव, पौष ।
७-सिसिरेअ, माघ । ८-हेमवन्त, फाल्गुण ।
९-वसंत, चैत्र । १०-कुसमसंभव, वैशाख ।
११-णिदाहे, ज्येष्ठ । १२-वणविरोहे, आषाढ ।

छउऊ, पण्णत्ता, तंजहा ।

१-पाउसे, २-वरिसारते, ३-सरए,४-हेमवन्ते ५-वसंते ६-गिम्हे।

भाषार्थः-षट्ऋतु ह यथाः-

१-प्रावृट २-वर्षांत ३-शरद ४-हेमन्त५-वसत ६-ग्रीष्म ॥

इयजैणमासाउ ऊणामाणी ।

प्राकृतः-पस्सहमभुदएइमे अज्झयणसाला सुन्दरे अज्झावए विज्जाभणा वेतीसुसीले दारए सिक्खा गिएहन्ति ।

भाषार्थः-देखोअद्भुत यहअध्ययनशालाहै,सुन्दर ही अध्यापक विद्या पढ़ाता है सुशीलही बालकशिक्षा ग्रहनकरत हैं । तथा-

प्राकृतः-दारया अज्झावएणं विणयकरन्तिसुपरिक्खाहोति सुपरिक्खए विज्जंच उवणेणंबालयखंडिय विज्जमाण सालामन्तो विज्जा अहि झन्ति ।

भाषार्थ-बालक अध्यापककीविनयकरतेहैं सुन्दर परिक्षा होती है सुन्दर ही परिक्षक विद्वान हैं चतुर्थ वर्ण के छात्रशाला में विद्यमान हैं सुख सुखे विद्या अध्यन करते हैं ।

प्राकृतः-विज्जा परमधणंविज्जापरमसुहंविज्जा परमंचक्खु ।

भाषार्थः-विद्या ही परमधन है विद्या ही परम सुख है विद्या ही परम चक्षु है।

प्राकृतः-निआलय अन्तो पस्सह सिरिमन्तो परमाणंदणामंपरिसेनाय कत्ताउणं संमुहेनीयसत्था-णुसारेणं तक्कं वितक्कं करेति नेयानुएकत्ता अछेरग भूयभवंति सम्मंपहेवट्टंति।

भाषार्थः-न्यायालय में देखो श्रीमान् परमानंद नामक पुरुष न्याय कर्त्ताओं के सन्मुख नीति शास्त्रा-नुसार तर्क वितर्क करता है न्याय कर्ता आश्चर्य भूत होते हैं न्याय पथ में वर्तते हैं अर्थात् न्याय ही करते हैं।

प्राकृतः-णिउणछावेखिप्पंपाढोसालाए पवि स्संति पमायवालय इंदठाणे रम्मंति वा संकिलेसेठा-णे चिठन्ति निउण खंडिए आसुविज्जं भवन्ति पमाय युतेखंडिय मूढ्ढे हवन्ति।

भाषार्थः-देखो निपुन छात्र शीघ्र अध्ययन शाला में प्रवेश करते हैं प्रमादी छात्र खेल में ही आनन्द रहते हैं तथा क्लेश के ही स्थान में स्थिर रहते हैं सो निपुन छात्र शीघ्र ही विद्वान हो जाते हैं प्रमादी छात्र मूर्ख हो रह जाते हैं।

प्राकृतः-सुसीलदारएणो ुग्गहे करन्ति बा-लबालय पुणोपुणोकलेह करंति ।

भाषार्थः-सुशील बालक क्लेश नहीं करते हैं मूर्ख बालक बारम्बार क्लेश करते हैं ।

प्राकृतः-अज्झयण सालाए जिणदत्ते नामंदा-दारय विज्जभणेति लाभचन्देनामे दारय पाढोसुद्धं घोसेतिविन्हु दत्ते नामंदारए अज्झावएणं पुच्छा करेति पियदंसणनामेदारए पत्तंलिहइ ।

भाषार्थः- अध्ययन शाला में जिनदत्त नामे बालक विद्या पढता है लाभचन्द नामे बालक पाठ शुद्ध घोषता है विष्णुदत्त नामे बालक अध्यापक के समीप पृच्छा करता है प्रियदर्शन नामे बालक पत्र लिखता है ।

प्राकृतः-सुसील कुमारे अम्मापियरगुरुणं भत्तीकरंति सुसीक्खा गिण्हंति पुणो पुणो विणय करंति कुसंग वम्मंति सुदारयासद्धिंपीति करंति सुनाणे चित्ते ।

भाषार्थः-सुशील कुमार माता पिता गुरु की भक्ति करते हैं सुशिक्षा ग्रहन करते हैं बारम्बार विनय करते हैं कुसंग छोड़ते हैं सुबालकों के साथ प्रीति करते हैं सुज्ञान में ही चित्त रखते हैं ।

प्राकृतः-मंगलीडिंभय मायापि यरणंसद्धिं वुग्गहे करंतिणो आणाए वट्टं तिपुणो पुणो भमन्ति जहानगरस्सनं बहुणि अइगमणाणिय निमगणाणीय वाराणीय अववाराणीय संघाडगतियच उचच्चराणिय दुठठाने सयइछाए भमंति।

भाषार्थः-दुःष्ट बालक माता पिता के साथ क्लेश करते हैं गुरु जी की भी आज्ञा नहीं मानते हैं बारम्बार परिभ्रमण करते हैं यथा नगर के निकलने के मार्ग वा प्रवेश करने के मार्ग द्वार अपद्वार संघाटक् (दो मार्ग यहां एकत्वे होवें) तृक (तीन मार्ग) चतुर्थ (चारमार्ग) तथा यहां अनेक मार्ग एकत्वे होते हैं तथा दुःष्ट स्थानोंमें स्वःइच्छासे रमन करते हैं।

प्राकृतः-अवर अणेगाइंउवालंभाइं पावन्ति पच्छावुड्ढवत्थाए दुहपावेस्मनि अपमाणप्य हावेहिंतो।

भाषार्थः-अपर अनेक ही उपालंभ पाते हैं पश्चात् वृद्धावस्था को प्राप्त हुये हुये वही बालक दुःख पावेंगे अपमान के प्रभाव से अर्थात् अविद्वानों को विद्वानों की सभा में सत्कारादि नहीं होता है।

प्राकृत-एगेनयरेएग सेठेआसी अन्नयाकयाइं सेठे अट्टझाणोवगए तस्सणंसमीवेसेठेणंमित्तेमागम्मे मिते पुठेकरेतितुमंकिंचिंताकरेतिसेठएवंवयासीमित्ते ममसयविज्जोणोभणे इतस्सप उग्गेहिचिंताकरेमि।

भाषार्थः-एक नगर में एक (श्रेष्ठ) सेठ वसता था अन्यदा समय वह (श्रेष्ठ) सेठ जी चिंतातुर हो गये तिन के पास तिन का परम प्रिय मित्र आगया सो मित्र पूछता है कि हे मित्र जी आप चिंतातुर क्यों होगये हैं तब सेठ जी कहने लगे हे मित्र मेरा पुत्र विद्या नहीं पढ़ता है तिसके ही प्रयोग से चिंता करता हूं सो हे बालको उक्त वार्त्ता से यह शिक्षा ग्रहन करो कि माता पिता जी की तो श्रुति तो पुत्र को विद्वान बनाने की हुआ करती है जो बालक नहीं पढ़ते वही पश्चाताप किया करते हैं।

प्राकृतः-काला गुरु गंधंदेइति कलाकारू आभूसणो करेति रज्जावत्थं धोवइ नयरगुत्तिया नयर रक्खाटे परिभमइ पिसुणे निंदा पावंति सव्वठाणे।

भाषार्थः-गुग्गल गंध देता है सुवर्णकार आभूषण बनाता है धोबी वस्त्र धोता है कोतवाल नगर की रक्षार्थे परिभ्रमता है चुगल सर्वस्थान में निंदा ही पाते हैं।

प्राकृतः-अहंसवणकरेमिधम्मकहाभवंतसणिए संचिठहमाकोलाहलंकरे अयंसमय पवित्ते सेपुरिसेबहु चिंताकरेतिणो अरहे चिंताकरित्तए धम्मेणं ठिभवउ।

भाषार्थः- मैं श्रवण करता हूं धर्म कथा, आप मौन धारन करो तथा मत कोलाहल करो यह समय अति पवित्र है वह पुरुष बहुत चिंता करता है किन्तु योग्य नहीं है चिंता करनी, धर्म में स्थित होवो क्योंकि धर्म ही तारने समर्थ है संसार रूपी समुद्र से ॥

प्राकृत-हे बालथाणंमा असच्चभासी भवउ असच्चवाई सयाहि सोगे करंति पुणो पच्छापच्छा-णुतावेइ अप्पच्चयकारगं असच्चे ॥

भाषार्थः-हे बालको मत झूठ बोलो झूठ भाषण करने वाला पुरुष सदा ही शोक करता है फेर पीछे पश्चाताप भी करता है ओ पुनः अप्रतीत कारक है असत्य ॥

माहिंसाकरेह ।

भाषार्थः-मत हिंसा करो अहिंसा धर्म ही परम पवित्र है ।

अथ सिक्खारूवे गाहासिरि उत्तरा अझयणउ ।

भाषार्थः-अथ शिक्षा रूप गाथा श्री उत्तरा अध्ययन सूत्र से गाथा अ०११ ।

अहपंचहिंठाणेहिं जेहिंसिक्खा न लब्भई थंभा कोहापमाएणं रोगेणालस्सएणय ॥ ३ ॥

भाषार्थः-अथ पांच कारणों से विद्या रूप शिक्षा नहीं प्राप्ति होती है यथा अहंकार १ क्रोध २ प्रमाद ३ रोग ४ आलस्य ५ इन कारणों से सुविद्या रूप शिक्षा नहीं आती है ॥

अहअठहिंठाणेहिं सिक्खासीलित्तिवुच्चई अह-स्सिरेसयादंत्ते नयमम्ममुदाहरे ॥ ४ ॥

भाषार्थः-अथ अष्ट स्थानकों से विद्या रूप शिक्षा प्राप्ति होती है अहास्य होवे १ सदाही दमन इंद्रिय होवे २ मर्म युक्त वचन न उच्चारन करे । ३ ।

नासीले न विसीले न सियाअइलोलए अकोहणे सच्चरए सिक्खासीलेत्तिवुच्चई ॥ ५ ॥

भाषार्थः-व्रत को दोष न लगावे ४ नियम को भंग न करे ५ अति लोलपी न होवे ६ क्रोध न करे ७ सत्य में रक्त होवे ८ अर्थात् असत्य भाषण न करे अथ चतुर्दश लक्षण अविनीत के होते हैं यथा ॥

अभिक्खणं कोही हवई पबंधचपकुवइ मित्तिज्ज-माणोवमइ सुयंल धूणमज्जई ॥७॥

भाषार्थः-अवनीत लक्षण माहः पुनः पुनःक्रोध करता है १ क्रोध का प्रबंध करता है २ मित्र के प्रेम को वमन करता है ३ श्रुत विद्या अध्ययनकर के मद करता है ॥ ४ ॥

अबिपावपरिक्खेवी अपिमित्तेसुकुप्पई सुप्पि-
यस्सा विमित्तस्स रहेभासइपावगं ॥ ८ ॥

भाषार्थः—स्वःपाप पराक्षेप करता है ५ मित्रोपरि क्रोपता है ६ परमप्रिय मित्र के भी हस्वस्थान में दोष प्रगट करता है ॥ ७ ॥

पइणवाइदुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे असंविभागी
अचियते अविणीइत्ति बुच्चइ ॥ ९ ॥

भाषार्थः—तत्वशुन्य भाषन करता है ८ द्रोहकारी वचन बोलता है ९ स्तब्ध अहंकारी है १० लुब्धक लोभी है ११ इंद्रिय अवशीभून है १२ सम विभागी नहीं है १३ अप्रतीत कारी कार्य करता है १४ सो उक्त चतुर्थदश लक्षण युक्त जीव का अविनीत कहा है सो हे बालको उक्त लक्षण त्यागने योग्य है अथ सुविनीत विषय॥

अहपन्नरसहिंठाणेहिसुविणीइत्तिबुच्चई नीयावि
त्तिअचवले अमाई अकुतूहले ॥ १० ॥

भाषार्थः—अथ पञ्चदश स्थानकों में प्रवर्त ने से सविनीत होता है यथा नम्रवृत्ति १ अचपल २ छलन करने वाला ३ अकुंतूहली ४ ॥

अप्पंचाहिंखिवइ पबंधंचनकुब्वइ ।
मित्तिज्जमाणोभयई सुयंलद्धुनमज्जई ॥ ११ ॥

भाषार्थः-कर्कश वचन बोलके अन्य को तिरस्कार करे नहीं ५ क्रोध की ग्रंथी न करे अर्थात् चिरकाल तक क्रोध न सेवन करे ६ मित्र की मित्राई को भजे अर्थात् कृतज्ञ होवे ७ श्रुत विद्या अध्ययन कर के मद न करे ॥ ८ ॥

णयपावपरिक्खेवी नयमित्तेसुकुप्पई ।
अप्पियस्साविमित्तस्स रहेकल्लाणभासई ॥ १२ ॥

भाषार्थः-स्वःदोष परोपरि आरोप्पन न करे ९ मित्र ऊपर क्रोध न करे १० यदि अप्रिय मित्र भी होवे तो भी उस के हुस्वमें गुणही प्रगट करे ११ ॥

कलेहडमरवज्जए बुद्धेअभिजाइए ।
हिरिमंपडिसंली सुविणीएत्तिवुच्चई ॥ १३ ॥

भाषार्थः-क्लेश को वर्जे विरोध को भी वर्जे १२ बुद्धिवन्त सुशील रूपी भार का निर्वाह करे १३ लज्जा वन्त कुकर्मादि न सेवन करे १४ प्रतिसंलीणता क्रोधमान माया लोभ को वश में करे ॥ १५ ॥

वसेगुरुकुलेनिच्चं जोगवंउवहाणवं ।
पियंकरेपियवाई सेसिक्खंलद्धुमरिहई ॥ १४ ॥

भाषार्थः-रहें गुरु कुल में नित्य ही अर्थात् आचार्यादि गच्छ में सदा ही वसे यावत् जीव पर्य्यंत गुरु की आज्ञा माने शुभ योग समाधि युक्त उपधान

तप करें आचम्लादि प्रिय कार्य करे प्रिय ही वक्ता होवे सो उक्त गुण युक्त ही जीव शिक्षा के योग्य होता है सो हे बालको उक्त गुण अवश्य ही धारन करो।

राम आगच्छति करमझेपुथ्थ आसयणहिं गावेति पोथ्थयप्पेहइ ।

राम आता है हाथ में पुस्तक है मुख से गाता है पुस्तक देखता है।

पीतिदाणंदलेमि करभगमणं करेति खरसद्दंक-रेति सीहोगज्जई ववखाणभवइ सोतासुणंति ॥

भाषार्थः-प्रीति दान करता हूं उष्ट्र जाता है गर्दभ बोलता है सिंह गर्जता है व्याख्यान होता है श्रोते सुनते हैं॥

निच्चपडिउइदंजिणथुइवाजिणथोत्ते वा जिणथ-वेवा नमोक्कारमंत्तं अहिझित्तए जस्सणंप्पहावेहिंस ठवठाणेहिंसंत्तिभवे ॥

भाषार्थः-नित्य प्रति उचित है कि जिन स्तुति वा जिन स्तोत्र वा जिनस्तव वा नमस्कार रूप महा मंत्र पठन करना जिस के प्रभाव से सर्व स्थान में शांति होवे ॥

इतिपञ्चमपाठःसम्पूर्णम् ।

अथगुर्वावलि ।

खंतीगुणसमावन्नो छत्तीसायगणीउत्ते ।
आयरियदीहदंसी मुत्तायमोतीरामेणं ॥ १ ॥
तस्ससीस्सेमहायसे गणवईमहामुणि ।
गणावच्छेइएनिउत्ते हविज्जसव्वहियणो ॥ २ ॥
तस्सीसोसअंत्तेवासी उज्जुभावसमाउत्ते ।
सिरिजयरामेमुणि वंदामिनियभावउ ॥ ३ ॥
तस्ससीस्सेगुणवन्ते सुहुमणाणेणंपत्ते ।
सालिगामेमहामुणि नमंस्सामिपुणोपुणो ॥ ४ ॥
तस्ससीस्सेअप्पमई आयारामेनामधेयं ।
पाययावखमालाए रयासुगुरुकिवाउ ॥ ५ ॥
सिरिवीरसंवच्छरे चउवीसतेछत्तीय ।
सिवेमासेसुक्कपक्खे मंगारकवारेतिहिअठमि ॥ ६ ॥
कुसपुरनयरेणं संपुन्नभूतेइमेगंथे ।
परमाणंदेणचोईउ तस्सणंमहकयसु ॥ ७ ॥

इतिगुरुप्रशस्तिः ॥ ॐ शान्ति ॥ ३ ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ १ ॥

श्रीमान कुंदकुंदाचार्य यांचें चरित्र
व
जैनांचा पांचशे वर्षांचा संक्षिप्त इतिहास.

लेखक
श्रीयुत तात्या नेमिनाथ पांगळ बार्शी.

किंमत ३ आणे.

वीरसंवत २४३४

" श्रीदत्तप्रसाद स्टीमप्रेस, सोलापूर

श्रीमती कुंदकुंदाचार्यान्वयी जैन दिगंबरी पाठशाला

पंढरपूर

या संस्थेचे उदात्त हेतु पाहून

व

पुढारी लोकांची तिच्या उन्नतीबद्दल

दिसून येणारी आस्था अवलोकन करून

अति नम्रपूर्वक

व

निःसीम भक्तीनें

हें पुस्तक

त्या संस्थेला अर्पण केलें असे.

तात्या नेमिनाथ पांगळ.

प्रस्तावना.

इसवीसनापूर्वीच्या सुमारें पांचशें वर्षांची जैनांची ऐतिहासिक व धार्मिक माहिती संक्षिप्तपणें कां होईना, पण ती सर्वांस समजणें जरूर वाटल्यावरून मी शक्त्यनुसार हा अल्पसा यत्न केला आहे. भद्रबाहुचरित्र. ज्ञानप्रबोध संस्कृत ग्रंथ, पुण्याश्रव, पट्टावली व आणखी कांहीं धर्मग्रंथ यावरून जी माहिती मिळाली आहे तिचा सार काढून हें लहानसें ऐतिहासिकवृत्त आज सर्वांपुढें मांडण्याचा माझा हा पहिलाच प्रसंग आहे. यत्न पहिलाच असल्यामुळें व अशा तऱ्हेचा यत्न कोणी आजवर न केल्यामुळें कदाचित् यांत बऱ्याच चुका असण्याचा संभव आहे. तरी त्याबद्दल जैन-इतिहासज्ञानी मला साधार चुका दर्शवितील तर त्या सुधारून काढण्यांत येतील व त्याबद्दल मी त्यांचा फार अभारी होईन. श्रीयुत हिराचंद नेमचंद सोलापूर यांनीं हा लेख तपासण्याची मला मदत केली याबद्दल मी त्यांचा फार अभारी आहे. यासंबंधानें बरीच विस्तृत माहिती देऊन एक स्वतंत्र जैन-इतिहास लिहिण्याचा माझा विचार आहे. तो सद्योग जेव्हां घडून येईल तेव्हांच धन्यता मानावयाची. प्रस्तुत या माहितीनें जैनांविषयीं अल्पतरी (Primary knowledge) ज्ञान सर्वत्र होवो ही आशा प्रदर्शित करून मी प्रस्तावना संपवितों.

सोलापूर
वैशाख शुध्द ३ वीरसंवत् २४३३. } अर्हद्दास, नेमिनाथ पांगळ.

जैनेतिहाससारांतील
श्री कुंदकुंद–आचार्य यांचें चरित्र.

॥ मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमो गणी ॥
॥ मंगलं कुंदकुंदाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥ १ ॥

भरतखंडाच्या इतिहासांत इसवीसनापूर्वींचा तीन चार शतकें–पर्यंतचा काळ व नंतर दोन तीन शतकें पर्यंतचाकाळ, अमूल्य अशा विद्वान नर रत्नांनीं अगदीं परिप्लुत होता असें इतिहास पहाणाराला तेव्हांच समजून येईल. कारण ते काळीं, गौतमबुद्धा–सारखे महर्षी; चाणक्यासारखे राजकारस्थानी पुरुष; चंद्रगुप्त. अशोक, विक्रमादित्यादिकांसारखे दयाळू, धार्मिक, व शूर राजे; आणि कालिदास, भवभूति व बाण यांसारखे उत्तम कवि व ग्रंथकार उत्पन्न होऊन, त्यांनीं आपल्या उदात्त धर्मतत्वानें, राजनीतीनें व कवित्वशक्तीनें आपल्या स्वतःस अजरामर तर करून ठेविलेंच; पण आपल्या सत्कृतीमुळें हिंदुस्थानच्या इतिहासासमुद्धां अलंकृत केलें आहे. ही त्यांच्या सत्कृतींची कोण थोरवी वर्णावी ! पण याच काळांत होऊन गेलेल्या जैन लोकांच्या महान महान सत्पुरुषांचा–इतिहासांत--नामनिर्देशही नसावा ही जैन लोकांच्या कितीतरी दुर्दैवाची गोष्ट आहे ! इसवीसनापूर्वी पांच साहाशें वर्षांपासून ते तहत इसवीसनानंतर सुमारें एक हजार वर्षेंपर्यंतचा काळ जैनांचा बराच महत्वाचा होता. असें असतां जैनांविषयीं इतिहासांत बरेंच अज्ञान दिसावें हीं मोठीच आश्चर्यकारक गोष्ट आहे, यांत शंका नाहीं. तरी जैनांचा व्यवसायदृष्टीनें विचार केला असतां असें आढळून येईल कीं, ते आज जे इतके अज्ञात आहेत याचें कारणही कांहींसें ठीकच आहे. कारण, जैन लोकांचा राज्य–कारभारांत सार्वभौम या नात्यानें हात फारच थोडा होता, किंबहुना नाहीं म्हटल्यास चालेल. तरी संस्थानिक या नात्यानें जैन लोकांचें प्राबल्य दक्षिणेकडे म्हैसूर, कर्नाटक व उत्तरेकडे बंगाल, बहार गुजराथ, राजपुताना वगैरे प्रांतांत बरेंच होतें, असें हल्लींच्या इतिहासावरून व तत्कालिन शिलालेखांवरून समजतें. पूर्वींचे म्हैसूरच्या महाराजांचे चार प्रतापी व भाग्य–शाली वंशज जैनधर्मी होते असें शिलालेखावरून समजतें. तसेंच राजपुताना, गुजराथ--काठेवाड प्रांतांत जैनांचें बरेंच प्राबल्य होतें असें इतिहासावरून दिसतें. हे राजे सार्वभौमत्वाच्या मागें न लागल्यामुळें व यांनीं राज्यासाठीं उलाढाली न केल्यामुळें त्यांस कदाचित् इतिहासकारांनीं अज्ञात

ठेविलें असावें हें एक कारण. बरें, जैन लोक जिनेश्वराच्या धर्माचे अनुयायी. जिन ह्मणजे " जितो रागद्वेषादयः येन स जिनः " अर्थात जैनलोक आपल्या मनाला जिंकून-कामक्रोधादि मनोविकाररिपूंस निर्बळ करणारे. मग त्यांना (कदाचित्) राज्याची हाव कोठून असणार ? असलीच तर ते आपलें स्वतःचें राज्य, दयेनें व न्यायानें पालन करीत व वृद्धापकाळीं दीक्षा घेऊन आपल्या पुत्रास राज्य देत. याप्रमाणें बरींच उदाहारणें इसवीसना-नंतरच्या हजार वर्षांत सांपडतील. खंडेलपुरचा राजा जिनेसेन-ज्यानें महापुराण रचिलें--त्याचें. व मंदसोर, पाटणा वगैरे ठिकाणच्या राजांचीं अशींच उदाहरणें सांपडतील. या कारणामुळें कदाचित् इतिहासकारांनीं त्यांना अज्ञात ठेविलें असावें हें दुसरें कारण. शिवाय जैनांचे अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी हे निर्वाणपदास प्राप्त जाहल्यावर जैनांचा साम्राज्याचा ओढा कमी कमी होत होत गेला व इसवी सनानंतर हजार दीड हजार वर्षांनंतर त्यांनीं स्वराज्य मिळविण्याची आशा सोडून व्यापारी बाणा तात्पुरता तरी पत्करला आहे हें तिसरें कारण. या तीन कारणांमुळें इतिहासकारांनीं त्यांना अज्ञात ठेविलें असावें, असें दिसतें. तरी धर्मसंबंधी इतिहासांत जैनांचें बरेंच प्राबल्य आहे. कारण. धर्मसंबंधी--चळवळी सुधारणासंबंधानें जैनांचा-वर नमूद केलेला काळ फारच महत्वाचा होता असें इतिहासावरून ठरतें. शिवाय जैन संस्कृत वाङ्मय या दृष्टीनें विचार केला असतां उपरोक्त काळ फारच महत्वाचा होता यांत शंका नाहीं. त्या कारणामुळें तरी जैनास इतिहासांत स्थल दिलें असतें तरी बरें होतें ! ! !

असो, वर निर्दिष्ट केलेल्या इसवीसनापूर्वी पांच सहा शतकांच्या व नंतर सुमारें एक हजार वर्षांच्या काळांत जैनधर्मीय महत्वाच्या पुढील व्यक्ति होऊन गेल्या. श्रीमहावीर स्वामींसारखे धर्माचें पुनरुज्जीवन करणारे; जंबुकुमार, जीवंधर यांसारखे पराक्रमी राजे; गौतम (गणधर-बुद्ध नव्हे), भद्रबाहु, कुंदकुंदाचार्य, उमास्वामी. समंतभद्र, जिनसेन, गुणभद्र, नेमिचंद, मानतुंग यांसारखे अनेक उत्कृष्ट वाङ्मयाचे कर्ते, उपदेशक, धर्मास ग्लानि येणाऱ्या-वेळीं उत्तेजन देणार, व जितस्वार्थ असे पुरुष निपजून गेले. या महान महान नररत्नांनीं संस्कृत वाङ्मयाचें असंख्य रत्नभांडार धर्मग्रंथांच्या रूपानें गुप्तपणें इतकें ठेविलें आहे कीं, त्यांचें परिशीलन करण्यास आज=**अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं-स्वल्पं तथा।युर्बहवश्च विघ्नाः**= या उक्तीला अनुसरून-एवढें मानवी प्राण्याचें आयुष्य पुरेल कीं नाहीं याची शंकाच आहे.

आतां साहजिक असा प्रश्न उद्भवेल कीं, जर जैनांचा इतका अमूल्य

संस्कृत वाङ्मयरूपी रत्नभांडार आहे तर ते अद्याप सर्वांच्या निदर्शनास कां येत नाहींत? कालीदास, भवभूति, बाण, यांचेच ग्रंथ लोकांपुढें कां दिसतात? त्यांस हेंच उत्तर बस्स होईल कीं, युनिव्हर्सिटीनें वरील कर्त्यांचीं पुस्तकें शिक्षणक्रमांत नेमलीं व त्यायोगें सर्वांस त्यांतील रस चाखावयास मिळूं लागला. म्हणूनच लोकांची त्या ग्रंथांविषयीं पूर्ण ओळख जाहली आहे व होत आहे. युनिव्हर्सिटीच जर नसती तर त्या ग्रंथांच्या आजच्या प्रमाणें हजारो, लाखो आवृत्या निघाल्या असत्या किंवा नसत्या हें जैनांच्या वाङ्मयात्मक ग्रंथांवरूनच समजून येईल. त्यांतून समजांत ज्या तऱ्हेचे, ज्या जातीचे, ज्या मताचे लोक असतात, तेच आपल्या ज्ञातीला, आपल्या मताला, आपल्या धर्माला व आपल्या वाङ्मयाला पुढें आणण्याचा यत्न करीत असतात. आज-पर्यंत आम्हां जैनलोकांपैकीं युनिव्हर्सिटीच्या बाजूनें नुसती यत्न करणारी व्यक्ति एकही नव्हती. मग आमच्या जैन वाङ्मयाला बळेंच पुढें आणतो कोण? स्वतःचे मुलाची अवनति व परक्याची उन्नति व्हावी म्हणून निस्पृहतेनें झटणारे जितस्वार्थ मातापिता कोठें कोणी पाहिलत कां? तीच स्थिती जैन वाङ्मयाची! त्यांतून आजवर आम्हां जैन लोकांना उन्नतीची खरी दिशा न समजल्यामुळें व प्रस्तुच्या देश, काल, वर्तमान (क्षेत्र, काल, भाव,) याला अनुसरून काय केलें पाहिजे हेंहि चटकन आमच्या लक्षांत (आमच्या सामाजिक परिस्थितीमुळें) न आल्यामुळेंच आम्हांला बरेंच मागें रहावें लागलें. पण आज स्वतःची, स्वतःच्या समाजाची, स्वतःच्या धर्माची व स्वतःच्या राष्ट्राची उन्नति करण्यास जैनांनीं काय केलें पाहिजे, ती दिशा दाखविण्याचें श्रेय आमच्या देशबंधूंनीं घेतल्यामुळें या बाबतींत त्यांचे मानावे तितके आभार थोडेच आहेत. स्वतःच्या पोळीवर तूप वाढा म्हणून जसें स्वतःलाच "तूप वाढा" म्हणून मोठ्यानें ओरडावें लागतें, तसेंच दुसऱ्यानेंही मुग्धता सोडून तोच कित्ता गिरविला पाहिजे. मग थोडीशी तरी त्याची दाद लागणार! त्याच स्थितीचें आम्ही अनुकरण केलें पाहिजे. आणखी आज निस्पृही व दयाळू इंग्रज सरकारचें राज्य असल्यामुळें व त्यांच्या अनुकरणीय राजनीती-मुळें पूर्वीच्याकाळीं जैनांविषयीं असलेला=**हस्तिनापीड्यमानोऽपि न गच्छे ज्जिनमंदिरम्** ॥ "**साप सोडावा पण जैन मारावा,**" हा जो एक प्रकारचा जैनांविषयीं पोकळ तिरस्कार –केवळ – जैनांच्या संघशक्तीच्या अभावामुळें – दिसत होता त्याला आज कितीतरी आळा बसला आहे. आणि त्यामुळेंच जैनांच्या खऱ्या उन्नतीस याच शतकांत सुरुवात जाहली असें म्हणण्यास प्रत्यवाय मुळींच दिसत नाहीं. केवळ द्वेषबुद्धीमुळेंच

जैनांच्या वाङ्मयालाच काय पण जैनालासुद्धां आमच्या प्रेमळ देशबंधूंकडून अर्धचंद्र मिळाला होता. पण मी खात्रीनें सांगतों कीं, आमच्या दक्षिणमहाराष्ट्र सभेनें जो क्रम स्वीकारला आहे तोच जर सर्व जैनसंस्था स्वीकारतील तर सर्वांत लौकर उन्नतीस पोहोंचलेले काय ते जैनच. असें सर्व लोक (जपानी लोकांस हल्लीं ह्मणतात तसें) आश्चर्यानें ह्मणतील! जैनवाङ्मयाचें खरें मर्म व महत्व जाणणारे पंडित आज जर्मनींतसुद्धां आहेत. कालीदास, भवभूति–सारखे कवि पुढें कां यावेत व **हरिचंद्र** (धर्मशर्माभ्युदयकाव्यकर्ते), **वाग्भट्ट** (नेमिनिर्वाण व अलंकारशास्त्राचें कर्ते), **वीरनंदी** (चंद्रप्रभकाव्याचे कर्ते) **वादिभसिंह** (जीवंधरचम्पूचे कर्ते), **गुणभद्र** (आत्मानुशासनाचे कर्ते), यांचेसारखे अनेक जैन विद्वान अप्रसिद्ध कां रहावेत हें समजण्याची वेळ जवळच आली आहे. जेथें निस्पृहता खरोखर वास करीत आहे तेथें केव्हांही–

कालाहि यो निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी ॥ (भवभूति)

या उक्तीला अनुसरून सत्याचाच विजय जाहल्याशिवाय राहणार नाहीं. असो, प्रस्तुत याबद्दल एवढेंच लिहून मी मुख्य विषयाकडे वळतों.

या वर निर्दिष्ट केलेल्या काळांत जैनेतरांत अज्ञात असे अनेक पुरुष होऊन गेले हें नुकतेंच मी सांगितलें आहे. त्यांतच जैनधर्माचे विद्वान शिरोरत्न पट्टाचार्यांचे अद्य भट्टारक श्रीमान १००८ श्री कुंदकुंद आचार्य दिगंबर मुनि– ज्यांनीं, जैनांचे दोन पंथ जे दिगंबर व श्वेतांबर यांपैकीं प्रथम उत्पत्ति दिगंबरांची जाहली व नंतर दिगंबरांपासून श्वेतांबर उत्पन्न जाहले असें त्या काळाच्या समाजास दाखवून दिलें व त्या काळीं मोठी समाजाची सुधारण केली–होऊन गेले. त्यांचें संक्षिप्त चरित्र आज भारतवासी सर्व बांधवांपुढें सादर करतों. तें चरित्र नमूद करण्यापूर्वी जैनांचे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी यांच्या निर्वाणकालापासून ते श्रीकुंदकुंद आचार्यांच्या उत्पत्तीपावेतों थोडीशी ऐतिहासिक माहिती क्रमाक्रमानें दिल्यास तीहि उपयोगीं होईल असें वाटल्यावरून ती माहितीहि पुढें क्रमानें दाखल करितों.

श्री ' कुन्दकुंदाचार्य ' यांचें नांव ज्याला ऐकूनहि माहित नाहीं असा जैनांमध्यें माणूस सांपडणें विरळा. इसवीसनापूर्वी ५२१ वे वर्षी श्रीमहावीर स्वामी तीर्थंकर मोक्षास गेले. त्यांच्यावेळीं बौद्धांचा प्रसिद्ध राजा बिंबिसार, जो जैन पुराणांत श्रेणिकराजा या नांवानें प्रसिद्ध आहे, तो होऊन गेला. हा प्रथम अगदीं कट्टा बौद्धधर्मी होता. याला दोन स्त्रिया होत्या. एक जैनधर्मी ' **चलनादेवी** ' व दुसरी बौद्धांची ' **बुद्धमती** ' त्याकाळीं परस्पर

जैन व बौद्ध धर्मांचें जणूं वैषम्यच होतें कीं काय, ह्मणून बौद्धमती राणी श्रेणिक राजाला जैनधर्माविरुद्ध सांगत असे. राजा हा कांहीं केवळ अविद्वान नव्हता. त्यानें बुद्धमती राणीच्या गुरूची व चलनादेवीचे गुरु दिगंबर मुनीची स्वतः परीक्षा केली. परीक्षेअंतीं जें सोनें तें सोनेंच ठरलें व पितळ तें पितळ दिसूं लागलें. बौद्धांच्या गुरूची परीक्षा करीत असतां ते त्याला केवळ दांभिक आहेतसें दिसले. पण जेव्हां तो जैन दिगंबरमुनीची परीक्षा करण्यास वनांत गेला तेव्हां—जरी चलना देवीनें त्यास सांगितलें होतें कीं, जैनमुनी हे शांत परिणामाचे असतात तरी—त्याची स्वतः कसोटी लावून परीक्षा करावी असें त्यास वाटलें. व त्यानें वनांत योग धारण करून धानस्त असलेल्या दिगंबरमुनीच्या गळ्यांत एक जवळच काळा कुट्ट सर्प मेलेला पडला होता तो अडकाविला. पण एवढा जरी भयंकर उपसर्ग त्यानें मुनीस केला तरी देखिल मुनी ध्यानाविरत जाहले नाहींत. मग तो तसाच थेट हें वृत्त सांगण्यास चलनादेवीकडे गेला. तिला हें समजतांच ती व्याकुळचित्त होत्साती तेथें धांवत आली. व तिनें मुनीला नमस्कार करून आपल्या नवऱ्यानें केलेल्या अपराधाबद्दल मनांत खाऊन घेऊं लागली (आलोचना करूं लागली). तो त्या सर्पास तिनें पहातांच तिचें कोमल हृदय तर विदारण जाहलेंच. पण त्या सर्पास लागलेल्या लाखो मुंग्या पाहतांच मुनीला होणाऱ्या त्रासाबद्दल तिला अतोनात वाईट वाटलें. ती तसाच गळ्यांतील सर्प काढणार होती, पण तसा सर्प काढल्यास लाखो जीवांची (मुंग्यांची) हिंसा होईल ह्मणून तिनें दूताकरवीं शर्करा आणवून ती एका बाजूला पसरली कीं, लागलीच त्या मुंग्या साखरेसाठीं निघून गेल्या व पिपिलिकांरहित सर्प एकटाच गळ्यांत राहिला. मग तो सर्प काढून टाकल्यानंतर मुनीनें ध्यान विसर्जन केलें. मग राजा श्रेणिकाला कृतकर्माबद्दल पश्चात्ताप होऊन जैनधर्माची सत्यता भासून लागलीच, त्यानें जैनधर्म ग्रहण केला. पुढें श्री महावीर स्वामींस त्यानें असंख्य प्रश्न विचारून शंका होत्या तेवढ्या सोडवून घेतल्या. हा राजा जिवंत असतांनाच त्याच्या एका मुलानें जिनधर्माची दीक्षा घेतली. हा मोठा न्यायी होता. सारांश, हा बिंबिसार (श्रेणिक) राजा श्रीमहावीरस्वामीचा समकालिन होता. या राजा नंतर त्याचा पुत्र ' कुनिक ' हा गादीवर बसला तो बौद्धच होता. त्यानें बापास कैदेंत टाकले होते याच वंशांतील गादीवर पुढें नंद राजे, चंद्रगुप्त, अशोक बसले असावेत. या राजाची राजधानी पाटणा (पाटली पुत्र) होती असो.

श्री महावीर स्वामींचे वेळीं गौतम (गणधर) होऊन गेले. या गौतम

संबंधानें बराच वाद आहे. कोणी यालाच बौद्धधर्माचा संस्थापक ह्मणतात. कित्येक यालाच शाक्य मुनि ह्मणतात पण याबद्दलची माहिती जैन ग्रंथांत अशी आहे. हा फारच विद्वान ब्राह्मण होता. याला विद्येविषयीं मोठा मान असे. याचें नांव इंद्रभूतिद्विज त्याचा हा मानीपणा पाहून त्याला एकानें खालील श्लोक विचारला तो:—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपद सहितं जीव षट्कायलेश्याः ।
पंचान्येचास्तिकायाव्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः ।
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च प्रतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥१॥

ह्या श्लोकावर त्यानें पुष्कळ लटपट केली पण अर्थाबद्दल त्याचें कांहीं चालेना. तरी त्यानें आढ्यता पतकरून श्लोक विचारणाराला तुझा गुरु दाखीव असें ह्मणाला. मग त्यानें या विद्वान पण मानी द्विजास श्रीमहावीर स्वामींजवळ आणतांच त्यांची ती वीतरागमुद्रा पाहून तो गतमान जाहला व त्यानें जैन-धर्माची पूर्ण माहिती करून घेऊन तो जैनी बनला. लौकरच त्याला श्री-महावीर स्वामींच्या समोशरणांतील बारा सभेंत मुख्य व्याख्यात्याचें स्थल मिळालें मग त्यानें त्या सभेंत राजा श्रेणिकाला व अनेक जीवांला तीर्थंकराच्या वाणीचा उपदेश केला. श्रीमहावीर नीर्वाणानंतर कांहीं वर्षे भरतखंडांत फिरून धर्मोपदेश करून १२ वर्षांत हे गौतम स्वामी निर्वाणपद मिळविते झाले. यानंतर सुधर्मास्वामींनीं तसाच धर्मोपदेश केला व जैन धर्माचा बराच प्रसार केला. यानंतर जंबूस्वामींनीं तेंच कर्तव्य स्वीकारलें. यांचें शरीर अतिशय सुंदर असे. यांनीं कांहीं दिवस राज्य केलें व नंतर दीक्षा घेऊन ६८ वर्षे धर्मोपदेशाचें काम केलें. महावीर स्वामींनंतर ६२ वर्षांत होऊन जाणाऱ्या गौतम, सुधर्मा व जंबूस्वामी यांना **केवली** असें म्हणतात. पुढें विष्णुकुमार, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन व भद्रबाहु हे पांच विख्यात मुनि होऊन गेले. यांना **श्रुतकेवली** ह्मणतात. हे पांच, १०० वर्षांत होऊन गेले ह्मणजे श्रीमहावीर स्वामी नंतर हे १६२ वर्षांत होऊन गेले. अर्थात इ. स. पूर्वी ३६४ वर्षांत होऊन गेले. भद्रबाहूचे वेळीं चंद्रगुप्त राजा होऊन गेला. जैन ग्रंथांत दोन चंद्रगुप्तांबद्दल वर्णनें आहेत. त्या दोघांचाही उल्लेख क्रमाक्रमानें करण्यांत येईल. यावरून चंद्रगुप्त दोन निरनिराळे होऊन गेले असावे असें अनुमान ठरतें. पण तें नक्की करावयाला आणखी कांहीं प्रमाणें पाहिजेत.

या पूर्वी, पाटलीपुत्र (पाटणा) येथें ' नंद ' नामें राजा राज्य करीत होता. त्याचे शकट, नंद, सबंधु व कांची असे चार मंत्री होते. यांसह राजा

आनंदानें राज्य करीत असतां एकदां त्या राजावर शत्रूनें स्वारी केली. जरी राजाची पुष्कळ सेना होती तरी देखिल प्रसंग आणीबाणीचा असल्यामुळें राजानें ' शकट ' मंत्र्याची सल्ला विचारिली. तेव्हां शकटानें राजास सांगितलें कीं, मी सैन्य परत फिरवितों मला वाटेल तें करण्याची परवानगी असावी. राजाला ही गोष्ट पसंत पडतांच शकटानें राजास नकळत कोशागारांतील विपुल द्रव्य शत्रूस देऊन सैन्य परतविलें. पुढें एके दिवशीं राजानें आपल्या कोशागाराची पाहणी केली तों द्रव्य थोडें दिसूं लागलें. तेव्हां राजानें खजिनदारास तें वृत्त विचारतांच त्यानें राजास सर्व हकिकत कळविली. तेणेंकरून राजास क्रोध आला व त्यानें शकटास त्याच्या मुलाबाळांसह कैदेंत टाकलें. तेथेंच त्याच्या कुटुंबांतील सर्व माणसें दुःखी होऊन गतप्राण जाहलीं व हा शकट एकटा राहिला. पुनः त्या नंद राजावर शत्रूनें चाल केली. तेव्हां त्या राजानें शकटास बंधमुक्त करून त्याची सल्ला विचारिली तेव्हां शकटानें राजास " काळजी करूं नका मी सैन्य परतवितों " असें सांगून स्वतः परसैन्याचे सेनापतीस भेटून नन्दाबद्दल त्याच्या मनांत दहशत घालून व सैन्यबळ दाखवून तें परचक्र परतविलें. तेव्हां राजा पुनः तुष्ट होऊन सचिव–पद त्याला देऊं लागला, तेव्हां शकट ह्मणाला " ज्या पदवी-स्तव माझी कुटुंबीय मंडळी मेली तीं पदवीच मला नको " असें राजास बोलून तो अल्प संतुष्ट होत्साता राजाजवळच राहिला.

पुढें तो एकदां फिरत असतां दर्भ खणतांना एका चाणक्य नामें द्विजास पाहून त्याला दर्भ उगीच कां खणतोस असें विचारलें. तेव्हां. " त्याचें मूळ माझे पायास लागलें ह्मणून मी हें खणतों कारण ज्यानें आपणांस दुःख दिलें त्याचा निर्वंश करणें हेंच उचित असें त्यास चाणक्यानें उत्तर दिलें. ही गोष्ट शकटासही पसंत पडून ज्यानें आपल्या कुटुंबाचा नाश केला त्या नंद राजाचाहि निर्वंश करावा असा त्यानें बेत केला. या कार्यासाठीं त्यानें चाणक्यास आपले पदरीं बाळगिलें. मग शकट व चाणक्य यांनीं मिळून परराजाकडे गमन केलें व त्या राजाकडून नंदाचा पराभव केला व चाण-क्यानें बरोबर आणलेल्या ' चंद्रगुप्तास ' नंदाचे गादीवर बसविलें. याप्रमाणें बोललेलें वचन खरें केलें ह्मणून व संसारांत कांहीं सार नाहीं असें ओळ-खून शकटानें जिन दीक्षा घेतली. पुढें शास्त्रपठणांत त्यानें शेवटपर्यंत काळ घालवला. येथवर शकटाचें हें अल्पचरित्र. यावरून शकट हा जैनी असावा हें एक ठरतें. शिवाय शाकटायन व्याकरण ह्मणून जो ग्रंथ आहे त्याचा कर्ता (Author) ही हाच असावा असें अनुमान काढतां येतें.

ही गोष्ट दोन हजार वर्षांपूर्वींची आहे. तेन्हां वरील अनुमान बहुतेक खरेंच असावें असें वाटतें.

शकटानें, चाणक्यानें आणलेल्या चंद्रगुप्ताला गादीवर बसविल्यावर तो तें राज्य उत्तम रीतीनें चालवूं लागला. हा धर्मानें जैन होता म्हणून जैन ग्रंथांत मधून मधून उल्लेख आहे. हा पहिला ' चंद्रगुप्त ' होय. याचा मुलगा बंधुसागर. ह्यानें बापाचे पश्चात राज्य चालवून शेवटीं आपला मुलगा ' अशोक ' यास त्यानें राज्य दिलें व आपण दीक्षा घेतली. याच्या धर्मासंबंधानें कांहीं स्पष्ट उल्लेख नाहीं. अशोक हा सर्व कलेंत निपुण होता. त्यानें सर्व राजे व शत्रु जिंकून पुष्कळ देश पादाक्रांत केला. त्यानें आपल्या कुनाळ नामक पुत्रास विद्वान करण्यासाठीं एका गुरूकडे पाठविलें. त्या गुरूनें त्याला नित्य शाल्योदन घालून अंध केलें. पुढें अशोक जेन्हां भूमंडळ जिंकून आला तेन्हां पुत्राची स्थिती पाहून त्यास वाईट वाटलें तरी त्यानें आपल्या पुत्राचें एका सुंदर राजकन्येशीं लग्न लावून दिलें. पुढें त्या उभयतांला चंद्रगुप्तनामें मुलगा झाला. त्याचें राज्यारोहण करून अशोकानें दीक्षा घेतली व चंद्रगुप्त राज्य करूं लागला. हा दुसरा चंद्रगुप्त.

हा चंद्रगुप्त जैनी होता याबद्दल पूर्ण आधार आहे. याचे वेळेस भद्रबाहु आचार्य होते. हा राजा मोठा जैनधर्मांत निष्णात असे. हा एकेवेळीं निद्रिस्त असतां त्यास पुढील सोळा स्वप्नें पडलीं. तेन्हां तो आपले गुरु भद्रबाहु त्यांच्याजवळ गेला, व त्यांना आपलीं १६ स्वप्नें सांगून त्यांची फळश्रुति विचारूं लागला. तीं सोळा स्वप्नें खरोखरींच मोठीं मजेदार व सांप्रतच्या स्थितीला मिळतीं असल्यामुळें मी तीं फलश्रुतीसह खालीं नमूद करतों.

१.–कल्पवृक्षाची फांदी मोडलेली दिसली.

फळ–या पंचम (कलि) कालांत फारच थोडे लोक जिन दीक्षा घेतील.

२.–सूर्यास्त जाहलेला दिसला.

फळ–पंचम काळांत भद्रबाहूनंतर पूर्ण अंगपूर्वज्ञान राहणार नाहीं.

३.–चंद्र चाळणीसारखा सछिद्र दिसला.

फळ–जिनशासनांत अनेक भेद होतील.

४.–बारा फणीयुक्त सर्प दिसला.

फळः–बारा वर्षे दुष्काळ पडेल.

५.–देवांचें विमान परत जातांना दिसलें.

फळः—पंचम कालांत चारण मुनि, विद्याधर हे भूमीवर येणार नाहींत.

६.–उकिरड्यावर कमलोत्पत्ति पाहिली.

फळ—बहुतेक वैश्य लोक मात्र जैनधर्म पाळतील, ब्राह्मण व क्षत्रिय अन्यमती होतील.

७.—भूतवृंदास नाचतांना पाहिलें.

फळ —या पंचमकालांत मनुष्यें चंडी मुंडी भैरवादि नानाप्रकारचे कुदेवांच्या-सेवेंत राहून अनेक जिवांची हिंसा करतील.

८.—सोनकिडा चमकतांना पाहिला.

फळ —जैनधर्म सम्यक् सविस्तर न राहतां मिथ्यात्वाचा प्रसार होईल.

९.—सरोवर बहुतेक आटलेलें असून त्याचे एक बाजूस थोडें पाणी पाहिलें.

फळ — ज्याठिकाणीं जिनकल्याणिक जाहले आहे त्याठिकाणीं धर्माची क्षीणता होईल.

१०.—सोन्याचे भांड्यांत कुत्रें खीर खातांना पाहिलें.

फळ —उत्तम कुळांतील लक्ष्मी नीचकुळांत राहील.

११.—**माकड हत्तीवर** बसलेलें पाहिलें.

फळ —पंमच काळीं नीच लोक राज्य करतील. क्षत्रिय राजा कोणी राहणार नाहीं.

१२.—समुद्र मर्यादा उल्लंघतांना दिसला.

फळ — पंचम काळांत राजे लोक अन्यायी व नीतिभ्रष्ट होऊन परवित्त हरण करतील.

१३.—महारथास वांसरें जुंपलेलीं दिसलीं.

फळ —वृद्धापकाळीं दीक्षा पाळली जाईल व तरुणपणीं क्वचित कोणी दीक्षा घेईल.

१४.—राजपुत्र उंटावर बसलेला पाहिला.

फळ —राजे लोक धर्म व दया न पाहतां हिंसा करतील.

१५.—रत्नराशींत माती मिसळलेली पाहिली.

फळ —राजे लोक निर्ग्रंथ मुनींचा द्रोह करितील.

१६.—दोन काळे हत्ती टक्कर खेळतांना पाहिले.

फळ —पाहिजे त्यावेळीं पर्जन्य पडणार नाहीं.

याप्रमाणें स्वप्नांची फळश्रुति ऐकिल्यावर राजा चंद्रगुप्त ह्यास वाईट वाटलें व तो उदास जाहला. भद्रबाहु मुनीनेंहि आतां बारा वर्षें दुष्काळ पडणार असें जाणून आपल्या शिष्यांसह दक्षिणदेशीं विहार करण्यास जाण्याचें ठरविलें. चंद्रगुप्त राजालाहि भावी स्थिती भयप्रद वाटून त्यानें भद्रबाहु मु-

नीजवळ दीक्षा घेतली, व तो त्यांचे शिष्यत्व स्वीकारून त्यांच्याबरोबर राहूं लागला. भद्रबाहु मूनींनेंहि आपल्या १२ हजार शिष्यांसह दक्षिणेंत जाण्याचें ठरविलें पण ते स्वतः अवधीज्ञानी [अंतर्ज्ञानी] असल्यामुळें त्यांनीं आपला अंत लौकर होणार असें जाणून आपल्या 'विशाखा' नामक शिष्यास पट्टाचार्याचा अधिकार दिला. व त्याची दक्षिणेंत रवानगी करून आपण ध्यानस्त राहिले. तेव्हां चंद्रगुप्त हा बाकीच्या शिष्यांबरोबर दक्षिणेंत न जातां आपल्या गुरूजवळ राहिला. त्या बारा हजारांपैकीं रामाचार्य व ११२ हजार आचार्य, पाटणा येथील कांहीं श्रावकांनीं या भयंकर दुष्काळांत संभाळितो अशी त्यांना विनंति केल्यावरून ते पाटलीपुत्रांतच राहिले होते. ही विनंति भद्रबाहूच्या शिष्यांसही केली होती पण त्यांनीं विनंतीकडे लक्ष न देतां ते दक्षिणेंत थेट गेले. बंगाल्यांत ठरलेल्या भविष्याप्रमाणें जों जों दुष्काळ आपलें उग्र स्वरूप प्रकट करूं लागला. तों तों रामाचार्यादिकांच्या नित्यक्रिया लटपटूं लागल्या. दुष्काळामुळें पाटण्यास राहिलेल्या आचार्यांची इतकी त्रेधा उडाली कीं, एके दिवशीं त्यांपैकीं एक मुनि आहार घेऊन जात असतां एका भुकेनें पीडित माणसानें त्या मुनीला पाहून त्या मुनीचा खून केला, व मुनीचें पोट फाडून त्यांतील अन्न भक्षण केलें. हें वृत्त बाकीच्यांनीं रामाचार्यास सांगितलें. तेव्हां त्यांनीं रात्रीं आहार घ्यावा असें ठरविलें. पण पुढें रात्रीं आहारास जातांना कुत्रीं भुंकूं लागलीं तेव्हां त्यांनीं आहारास जातांना एकेक काठी बरोबर घेऊन जावें असें ठरविलें. पुढें एकदां एक मुनि आहारास गेले असतां त्यांना एकदम एका गरोदर स्त्रीनें पाहिलें. यतीचें रूप पाहून त्या स्त्रीचा एकाएकी गर्भपतन जाहला. हें सर्व वृत्त पुनः रामाचार्यास कळतांच त्यांनीं वस्त्रें पांघरुणें वापरावींत असें ठरविलें. याप्रमाणें ही दिगंबरांत दुसरी शाखा उत्पन्न जाहली. या शाखेचें नांव **श्वेतांबरी शाखा** हीच पुढें वाढत वाढत बलाढ्य जाहली. गुजराथेंत बहुतेक श्वेतांबरी मताचेंच लोक सांपडतात. हाच श्वेतांबरी यांचा उगम होय.

मग दुष्काळ संपल्यावर ते दक्षिणेंत गेलेले विशाखाचार्य आदि १०।११ हजार शिष्य परत आले. दक्षिणेंत असतां त्यांनीं तीर्थयात्रा करून कर्नाटकांत गमन करून आपल्या वक्तृत्व शैलीनें सर्वांस धर्मोपदेश केला. व जैनधर्माचा उत्तम रीतीनें पसार केला. विशाखाचार्य आल्यावर 'रामाचार्य' यांनीं त्यांची भेट घेतली व झालेला दोष त्यांना सांगून कृत अपराधाबद्दल प्रायश्चित्त घेतलें, व पूर्ववत् मुनिक्रियेप्रमाणें ते वागूं लागले. रामाचार्यांचे स्थूलाचार्य व आणखी कांहीं शिष्य होते. त्यांना दुष्काळांत प्रचारांत पड-

केलीच रीत बरी वाटून ते स्वेच्छाचारीपणानेंच वागूं लागले व तसाच आपल्या शिष्यास उपदेश देऊं लागले. हाच श्वेतांबरीचा मूळपाया. सारांश, भद्रबाहूच्यावेळीं या नवीन श्वेतांबरी मताची उत्पत्ति दिगंबरींत जाहली, एवढाच येथें उल्लेख करणें बस्स आहे.

वीरसंवत १६२ पासून ते ३४५ पावेतों विशाखाचार्य, प्रोष्टिलाचार्य, नक्षत्राचार्य, नागसेनाचार्य, जयसेनाचार्य, सिद्धार्थाचार्य, धृतिसेनाचार्य, विजयाचार्य, बुद्धिलिंगाचार्य, देवाचार्य, व धर्मसेनाचार्य हे अकरा आचार्य भद्रबाहूच्या पट्टावर क्रमाक्रमानें बसत गेले. हे आचार्य अकरा अंगें* व दहा पूर्व ज्ञानाचें धारक होते. हे इसवी सनापूर्वी ३६४ वर्षांपासून ते १८१ वर्षांपावेतों होऊन गेले. नंतर त्याचे मागून त्याच पट्टावर अकरा अंगपाठी आचार्य, नक्षत्राचार्य, जयपालाचार्य, पांडवाचार्य, ध्रुवसेनाचार्य व कंसाचार्य हे वीरसंवत ३४५ ते ४६८ पावेतों होऊन गेले. ह्मणजे इ. स. पूर्वी १८१ वर्षांपासून ते ५८ वर्षांपावेतों वरील पांच आचार्य होऊन गेले. नंतर वरचेवर मनुष्याची बुद्धि कमी कमी होऊं लागल्यानें पूर्वपाठीचें ज्ञान तर कोपलेंच पण अकरा अंगांपैकींहि ज्ञान कमी कमी होऊं लागलें.

नंतर त्या पट्टावर:—

सुभद्राचार्य	दहा अंगाचे धारक			सहा वर्षेपावेतों	
यशोभद्राचार्य	नऊ	,,	,,	अठरा ,,	,,
दुसरे भद्रबाहूजी	आठ	,,	,,	तेवीस ,,	,,
लोहाचार्य	सात	,,	,,	पन्नास ,,	,,
अर्हद्बली आचार्य	एक	,,	,,	अठ्ठावीस	,,
माघनंदी आचार्य	,,	,,	,,	एकवीस	,,
धरसेनाचार्य	,,	,,	,,	एकोणवीस	,,
पुष्पदंताचार्य	,,	,,	,,	तीस ,,	,,
भूतबळी आचार्य	,,	,,	,,	वीस वर्षे	,,

हे सर्व क्रमाक्रमानें होऊन गेले. ते वीरसंवत ४६८ पासून ते ६८३ पावेतों जाहले. ह्मणजे इ. स. पूर्वी ५८ वर्षांपासून ते इ. स. १५७ वरील आचार्य होऊन गेले. ह्मणजे लोहाचार्य हे जेव्हां पट्टावर ११ व्या वर्षी होते तेव्हांपासून इ. सन सुरू झाला. शिवाय दुसरे भद्रबाहूचेवेळीं विक्रम संवत ४ होता. हा संवत विक्रम राजा गादीवर बसल्यापासून सुरू झाला असें ग्रंथावरून समजतें. विक्रमाचा जन्म, जेव्हां सुभद्राचार्योला पट्टावर बसून

* टीपः— पूर्व व अंग यांचा उल्लेख पुढें केला आहे.

दोन वर्षे झालीं, तेंव्हां झाला असा उल्लेख आहे. विक्रम राजास बाविसावे वर्षी सिंहासन मिळालें असें ठरतें. विक्रम संवताचे वेळेनंतर इसवी सन हा ३८ वर्षांनीं सुरू झाला असें यावरून ठरतें. पण वास्तविक आज विक्रम संवत व इसवी सन यांत जें अंतर दिसतें तें ५६ छपन्न वर्षांचें आहे. तेंव्हां विक्रम संवत जो आज प्रचलित आहे तो त्याचे जन्मापासून धरला असावेसें दिसतें. कारण, सुभद्राचार्यांची पट्टावरील वर्षे चार अधिक, यशोभद्राचार्यांचीं वर्षे अठरा, अधिक दुसरे भद्रबाहूचीं तेवीस वर्षे, व लोहाचार्यांची अकरा वर्षे (४+१८+२३+११+५६) एकूण छपन्न वर्षे बरोबर जमतात. यावरून विक्रम जन्मापासूनच आजचा प्रचलित संवत धरलेला आहे असें ठरतें. सारांश, वीरसंवत ४७० पासून विक्रम संवत सुरू झाला असें दिसतें. पण हा संवत विक्रमाचे जन्मापासून धरला तर बरोबर आहे. पण त्याचे राज्यापासून किंवा अंतापासून धरला तर आणखी कांहीं वर्षे वीरसंवत पुढें जाईल. हें मात्र खास. वीरसंवताचाहि अद्याप योग्य निर्णय लागला नाहीं. कित्येकांचे मतें तो (आधारानेंच) २५५६ वर्षांचा आहे व कित्येकांचे मतें २४३२ वर्षांचा आहे. तरी आज पुष्कळ विद्वान गृहस्थांनीं व सन्माननीय जैनपत्रकारांनीं २४३२ हा ग्राह्य केला आहे तेंव्हां मीहि त्याला धरूनच चाललों आहे.

जैन इतिहास–ग्रंथकारांनीं विक्रम संवत ४ मध्यें पट्टावर असलेल्या दुसरे भद्रबाहूस **पट्टाचा पहिला अधिकारी** केला आहे याचें कारण असें दिसतें कीं, संवत सुरूपासून हा पहिलाच स्थापला गेला ह्मणून असें झालें असावें. यापूर्वी होऊन गेलेले व येथवर वर्णिलेले आचार्य हे केवळ क्रमाक्रमानें धर्मोपदेश करीत गेले त्यांच्या पूर्वाचार्यांनीं त्यांना पट्टशिष्याचा किंवा मुनींच्या संघाच्या नायकाचा अधिकार दिला असावा एवढेंच ठरतें. त्याचा अमुक एक ठिकाणीं पट्ट [गादी] असावा, असा कांहीं उल्लेख नीटसा सांपडत नाहीं. पट्टाची सर्व माहिती भद्रबाहूपासून व कांहीं 'कुंदकुंद' आचार्यापासून लागते ती पुढें नमूद करण्यांत येईलच. भद्रबाहूचा पट्ट उज्जयनीस होता.

पट्टाचार्यांचा दुसरा मान गुप्तगुप्ती आचार्य यांना दिला आहे. अर्थात्, लोहाचार्य, अर्हद्बली आचार्य, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदंताचार्य, भूतबळी, यांचा पट्टाशीं कांहींच संबंध नसल्यामुळें त्यांचा विशेष उल्लेख केला नाहीं. फक्त ते एक अंगज्ञानाचे धारक होते एवढेंच.

वीरसंवत ४९२ मध्यें व विक्रम संवत ४ मध्यें २ रे भद्रबाहु गादीवर

(पट्टावर) होते. २९ वर्षेपर्यंत पट्टारूढ होऊन त्यांनीं वीरसंवत ५१४ मध्यें आपला शिष्य गुप्तगुप्ती मुनि यास त्यांनीं पट्टाधिकार दिला, व आपण ध्यानस्त झाले. गुप्तगुप्ती आचार्य यांनीं ९ वर्षे पट्टाधिकार चालवून वीरसंवत ५२३ मध्यें त्यांनीं तो पट्ट माघनंदी आचार्यांस दिला. त्यांचेवेळीं श्वेतांबर पट्टाची स्थापना झाली. नंतर माघनंदी आचार्य यांनीं तो पट्ट चार वर्षे चालवून वीरसंवत ५२७ मध्यें ह्मणजे विक्रम संवत ४० चाळीसमध्यें त्यावर आपला मुख्य शिष्य ' जिनचंद्र ' यांना बसवून आपण ध्यानस्त झाले. त्यावेळीं इसवी सन २ दोन होता. इसवी सन २ मध्यें **जिनचंद्र आचार्य** पट्टारूढ झाले. हेच आमच्या **चरित्र नायकाचे मुख्य गुरु** यांचें एकंदर आयुष्य ६५ वर्षे ९ महिने व ९ दिवस इतकें होतें. यांना फाल्गुन शुद्ध १४ ला, त्यांच्या वयाच्या ५६ व्या वर्षी गुरूंनीं-माघनंदी आचार्यांनीं-पट्टा दिला. हे मोठे मनोनिग्रही असल्यामुळें सर्व शिष्य त्यांचें संयम पाहून अगदीं नत होत असत. यांनीं आपल्या सर्व शिष्यास हुशार करून आपण आपल्या अस्खलित वाणीनें सर्व प्राणिमात्रांस धर्मोपदेश केला व आपल्या वयाच्या ६५ व्या वर्षी आपल्या पट्टशिष्यास—**कुंदकुंद आचार्यांस**—स्वतः आपल्या पट्टावर अभिषिक्त करून, आपण वनाचा मार्ग पतकरिला. हेच पट्टशिष्य आपल्या **चरित्राचें नायक** त्याकडे आतां आपण वळूं. वाचकवर्ग, नायकाची बरीच वाट पहात असेल, पण त्याच्या चरित्रापर्यंत ऐतिहासिक माहिती असणें जरूर वाटल्यावरून ती येथें नमूद केली आहे. तरी या नूतन माहितीबद्दल कंटाळून न जातां उलट एका धर्माची ऐतिहासिक नवीन माहिती मिळाल्याबद्दल आनंद प्रदर्शित करतील अशी पूर्ण आशा आहे. आतां महावीर तीर्थंकरापासून येथवर नवल विशेष काय काय झालें याचा संक्षेपें विचार करूं. वाचकवर्गहो, थोडा दम धरा हीहि माहिती तुह्मांला उपयुक्त अशीच आहे.

जैनधर्म हा अनादि आहे. तरी त्याची स्थापना प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव —चौदावे मनु नाभिराय यांचे चिरंजीव—यांनीं केली असें जैनधर्माचें मत आहे. जैनधर्मांत विशेष महत्वाची व्यक्ति काय ती तीर्थंकराची होय. तीर्थंकर ह्मणजे धर्मतीर्थाचें प्रवर्तक यांना पांच ज्ञानाची—मती, श्रुति, आवधी (अंतर्ज्ञान), मनपर्यय (मन ओळखणें), केवल ज्ञान (त्रैलोक्यांतील सर्व स्थावर, जंगम जीवांचें, देवादिकांचें, स्वर्ग, मृत्यु व पाताळ यांचें ज्ञान असणें तें)—प्राप्ति झालेली असते. १२ अंगें व १४ पूर्व इतकें ज्ञान त्यांना असतें. अकरा अंगांचें संक्षिप्त वर्णन—

१ आचारांग-मुनिक्रिया २२ परीषह, २४ परिग्रह यांचें वर्णनात्मकशास्त्र.
२ सूत्रांग—देव, गुरु, शास्त्र, धर्म यांचा व श्रावकाचें विनयात्मक ,,
३ स्थानांग—सहा गुणस्थान व चौदा गुणस्थानाचें वर्णनात्मक ,,
४ समयायांग-द्रव्य,क्षेत्र, काल,भाव, धर्म,अधर्म,सात नरक, १६ स्वर्ग या०
५ व्याख्याप्रज्ञप्ति-जीव, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य व ६०००० प्रश्नोत्तरें
६ ज्ञातृकथांग—तीर्थंकराच्या व गणधराच्या पुण्याचें वर्णनात्मक शास्त्र.
७ उपासकाध्ययन-अर्हत देव, निग्रंथगुरु, दयाधर्म यांचें वर्णनात्मक ,,
८ अंतकृतांग—अंतकृत केवलींचें वर्णनात्मकशास्त्र.
९ अनुत्तरांग—प्रत्येक तीर्थंकराबरोबर दहा मुनींचें स्वर्गगमन वर्णन ,,
१० प्रश्न व्याकरणांग-धर्मकथा ४ व धन, धान्य, लाभ, हानि यांचें ,,
११ विपाकसूत्रांश—वेदनीय, साता असाताकर्म वर्णन.
१२ दृष्टि प्रवादांग-१४पूर्व, ९ प्रज्ञप्ति, ५चूलिका १ सूत्र व १ प्रथमानुयोग यांचें वर्णनात्मक शास्त्र.

प्रत्येक अंगाची पदसंख्या १८ हजारांपासून ते एक अब्जापर्यंत आहे. एकूण बाराहि अंगाचीं पदसंख्या-अकरा अब्ज, तेरा कोटी, बारा लक्ष, अडतीस हजार, पांच आहे. प्रत्येक पदांत ५१ कोटीपेक्षां अधिक श्लोक आहेत. हें बारा अंगांचें वर्णन. आतां चौदा पूर्वांचें संक्षिप्त वर्णन—

१ उत्पाद पूर्व--सर्व वस्तूंची उत्पत्ति, विनाश व स्थीरपणा यांचें वर्णन.
२ अग्रायणी,,--सुनय, कुनय व पृथ्वीचें जातीभेदात्मक ,,
३ वीर्यानुवाद,,--६३ शलाका पुरुषाची शक्ति व धैर्यात्मक ,,
४ अस्तिनास्ति,,-- सप्तभंग (स्याद्वाद) व शाश्वत, विनाशक वस्तूंचें ,,
५ ज्ञानप्रवाद,,—मति आदिज्ञानाचे ८ भेद व गणितविषय फलउत्पत्ति ,,
६ सत्यप्रवाद,,-- ह्रदयादि आठ स्थानांपासून स्वरोच्चारात्मक ,,
७ आत्मप्रवाद,,-- कर्ता, भोक्ता, नित्य, अनित्य, जीवस्वभाव व जि. गु. ४६
८ कर्म प्रवाद,,--आठ कर्मांचें ,,
९ प्रत्याख्यान,,--पापक्रियांचा त्याग व सहा संहनन (शरीर) ,,
१० विद्यानुवाद,,--महाविद्या ५०० लघुविद्या ७०० अष्टांगनिमित्तज्ञान,,
११ कल्याणवाद,,--६३ शलाकामंगलोत्सव, पंचकल्याणिक, १६ भावना,,
१२ प्राणानुवाद,,--वैद्यक, गारुड, श्वासोच्छ्वास, ८ योग, वायुज्ञानात्मक ,,
१३ क्रियाविशाल,,--पुरुषांच्या ७२ कला, स्त्रीचे ६४ गुण, शिल्प भे. ८४,,
१४ लोकबिंदु,,--तीन लोकांचें वर्णनात्मक शास्त्र ,,

चौदापूर्वांची पदसंख्या—९५,५०,००,००५. आहे. हें चौदा पूर्वांचें वर्णन.

इतकें ज्ञान तीर्थंकरकेवली, श्रुतकेवली व केवली यांना असतें. हें ज्ञान श्रीमहावीर तीर्थंकरांस होतें. साधारण केवलीसही हें ज्ञान असतें, फक्त त्यांची पांच कल्याणिकें होत नसतात. कल्याणिक ह्मणजे इंद्राकडून होणारा तीर्थंकराचा उत्सव. श्रुतकेवलींना बारा अंगांचीं शास्त्रें मुखोद्गत असतात. महावीर ते जंबुस्वामींपर्यंत वरील ज्ञान होतें. भद्रबाहूपर्यंत तें कमी प्रमाणांत राहिलें. धर्मसेनाचार्यांपर्यंत ११ अंगें व १० पूर्वांचें ज्ञान राहिलें. कंसाचार्यांपावेतों पाठ, अकरा अंगाचेंच ज्ञान राहिलें. सुभद्राचार्य दहा, यशोभद्राचार्य नऊ दुसरें बाहुभद्राचार्य आठ अंगाचें धारक होते. भूतबळीपर्यंत तर १ च अंगाचें ज्ञान उरलें. व कुंदकुंदाचार्यांपावेतों एका सुद्धां अंगाचा ज्ञाता कोणी उरला नाहीं; पण आज जसा अंगज्ञानाचा अभाव जाहला आहे तशी मात्र स्थिति तेव्हां नव्हती. यांतील, थोडी, त्यांतील थोडी अशी थोडी थोडी माहिती राहिली होती. सारांश, कुंदकुंद आचार्यांचे वेळीं तीर्थंकराचे वेळचें अगम्य ज्ञान कांहीं राहिलें नाहीं; पण त्यांचा अभाव कांहीं झाला नव्हता. ह्मणजे यांचेवेळीं शास्त्रीयज्ञान फारच थोडें उरलें होतें. दुसरें बारा वर्षांचा मध्येंच भयंकर दुष्काळ पडल्यामुळें जैन धर्मात एक नवीन मत शिरलें होतें, तें कोणतें म्हणाल तर श्वेतांबर होय. ते वरचेवर आपला पाय लांबवूं लागलें मुळें त्या मताचा बराच प्रसार जाहला होता. शिवाय बौध्द मतही किंचित होतेंच. येथें बौध्द मत केव्हां स्थापन झालें याचा उल्लेख केल्यास, तो अयोग्य होणार नाहींसें वाटल्यावरून तो येथेंच नमूद करतों.

महावीरस्वामींपूर्वी बरोबर दोनशें वर्षें अगोदर जैनांचे तेविसावे सर्व जगद्विख्यात जे– श्री पार्श्वनाथस्वामी– होऊन गेले होते. त्यांच्या आम्नांत (पश्चात्) पिहिताश्रव जैन मुनीचा शिष्य बुद्धिकीर्ति हा मोठा शास्त्रवेत्ता होता. तो पलाश नगरींत शरयूनदीचे कांठीं तप करीत रहात होता. एकदां त्यानें त्या नदींत मेलेला मासा पाहिला. तेव्हां तो मनांत ह्मणतो " अहिंसा परमोधर्मः" हिंसा न करणें हा परम धर्म आहे, आतां हा मासा तरी हिंसा न करितांच मेलेला आहे. तेव्हां याला भक्षण करण्यास हरकत कोणती ? अर्थात् यांत कांहींच दोष नाहीं. कारण यांत जीव नाहीं. मासा निर्जिव आहे. असा विचार करून त्यानें तो खाल्ला. हें त्याच्या गुरूस समजल्यावर त्यानें त्याला प्रायश्चित घेण्यास सांगितलें. पण त्यानें तें नाकारलें. व अंगावर लाल वस्त्र घेऊन बौध्द मत स्थापन केलें हाच बौध्दांचा मूळ पाया. आज अहिंसा परमोधर्म असें लाखो बौद्ध लोक मानतात. पण वर्षाला किती मासे, झुरळे, आदि प्राण्यांचा फन्ना उडवितात हें जपानी व चिनी लोकांच्या इतिहासा-

वरून स्पष्ट समजेल. याबद्दल विशेष उल्लेख विस्तारास्तव येथें नको. ही बौध्दांची उत्पत्ति. आतां कित्येकांनीं—अशोक वगैरे यांनीं- तो उत्तम पाळला ही गोष्ट निराळी, पण मूळ रचना अशी आहे. तेव्हां हा धर्महि आमच्या चरित्रनायकाच्या वेळीं, एकदां उन्नता पावून, गंभीरस्थितीस येऊन पोहोंचला होता. आणि अशा वेळीं आमचे चरित्रनायक उदयास आलेमुळें त्यांच्यानें दोन तीन बाजूवर जरी हल्ला करणें जाहलें नाहीं तरी त्यानें आपल्या घरांत जें उंटाचें नवीन पिल्लूं शिरून घर घेण्याच्या बेतांत होतें त्याचा मात्र चांगला पाडाव केला हें खास. तेव्हां आतां दुसरीकडे न वळतां आमच्या दमलेल्या वाचकवर्गास आतां आमच्या चरित्रनायकाचीच ओळख करून देण्यास सुरुवात करतों.

या आमच्या चरित्रनायकाचा जन्म मालवदेशांत (माळव्यांत) बुंदी—कोटानजीक असणाऱ्या **बारापूर** नामें संस्थानांत जाहला ते वेळीं त्या नगरांत कुमुदचंद्र राजा आपल्या कुमुद—चंद्रिका राणीसह राज्य करीत होता. त्या नगरांत जैन लोकहि श्रावक धर्मांत निष्णात असे बरेच राहत होते. हे बहुतेक वंशानें व्यापारी असत. त्यांत एक **कुंदश्रेष्ठी** नामें सधन व धार्मिक व्यापारी होता. हेच गृहस्थ आमच्या चरित्रनायकाचे तीर्थरूप. त्यांची **कुंदलता** ह्मणून सहचारिणी होती. ही कोण, हें आतां आमच्या वाचकाला सांगावयाला नकोच. या उभयतांपासून वीरसंवत, ४९७ विक्रम संवत ९ मध्यें आमचे चरित्रनायक जन्मलें मातापित्यांच्या नांवांत असलेलें सादृश्य पाहून सर्वांनीं या अर्भकाचें नांव ' कुंदकुंद ' असें ठेविलें. आपल्याला पुत्र जाहला ह्मणून कुंदशेटीनें तेथें असणाऱ्या श्री शांतीनाथ स्वामीच्या मंदिरांत देवाची पूजा करून हा जन्मलेला पुत्र वंशाच्या यशाची ध्वजा आकाशांत लावो ' ह्मणून त्यानें त्या मंदिरावर ध्वजा चढवून शिखरावर कलशहि चढविले, असो. वरचेवर तो मुलगा रांगूं खेळूं लागला व सर्वांला आनंददायक असा जाहला. दिवसेंदिवस तो कुमार वाढूं लागला. पांच वर्षे केवळ बाल्यावस्थेंतच गेलीं. आणखी तशींच चारवर्षे लोटलीं. नऊ वर्षांचे वयापावेतों खेळाशिवाय दुसरा धंदा माहित नाहीं. याच्या खेळ गड्यांत नेहमीं याचा वरचष्मा असावयाचा. मुलगा वरचेवर थोर होऊं लागला हें पाहून बापाला शिक्षणाबद्दल काळजी पडली त्यावेळचें शिक्षण ह्मणजे आजच्यासारखें नव्हतें. शाळा, विद्यालयें, विश्वविद्यालयें यांचा तेव्हां अभाव असायाचा हें उघड. फार जाहलें तर एकाद्या अध्यापकानें आपल्या घरीं विद्यार्थ्यांस ठेवून घेऊन त्यांस शिक्षण द्यावयाचें. त्यावेळीं आजच्या-

सारखा जीवनकलह प्रखर नव्हता व त्याच्यासाठीं लोक शिकत नसत, तर आज ज्या ज्ञानासाठीं–पाश्चात्य, स्टॅनर्डबाईसारखे चेलेहि अगम्य (पूर्वात्य) गुरूची सेवा करूं लागले आहेत–त्याप्रकारचें ज्ञान, अध्यात्म-ज्ञान, शिकविण्याकडे लोकांचा कल होता. त्यावेळीं भरतवर्ष सुसंपन्न होता. शिकंदर बादशहाचे स्वारीशिवाय त्याला कसलेंहि दुःख माहित नव्हतें. अशा सुभिक्ष वेळीं लोकांना कां पोटभर मिळवून देणाऱ्या ज्ञानाची जरूर होती ? नाहीं ! नाहीं ! त्यांचा सर्व कल तेवेळीं क्षत्रियविद्या व ब्रह्मविद्या–अध्यात्मविद्या-यांकडेसच होता. कुंदशेटी हे स्वतः सधन व्यापारी असल्यामुळें त्यांना एक तर द्रव्याची आशा अशी विशेष नव्हतीच. तशीच, आपल्या मुलाला क्षत्रियविद्येंत पटुत्व यावें हेंहि वाटत नव्हतें. त्याकाळीं मोठें व सर्वमान्य अध्यात्मज्ञानच असल्यामुळें तिकडे त्यांचा कल वळला हें सांगण्यास नकोच. पण गुरूच्या ठिकाणीं योजना कोणाची करावी हा प्रश्न. मुलासहि आपण हुषार व विद्वान व्हावें असें वाटत होतें, आणि ह्मणूनच कीं काय त्यानें स्वतः आपल्या गुरूची---शिक्षकाची--निवड केली. ती अशीः—

एके दिवशीं कुंदकुंदकुमार हा खेळगडी बरोबर घेऊन खेळत खेळत वनांत आला. तेव्हां त्यानें एका नग्न, शांत व क्षमावान् अशा मुनीला पाहिलें. साधारण नियम असा आहे कीं, कोणी आचार्य, मुनि किंवा साधु आल्याची खबर जर त्यांच्या अनुयायांस लागली तर ते जेथें साधु असतील तेथें जावें व त्यांना नमस्कार करून पूजा करावी. या नियमान्वयें त्यावेळीं त्या मुनीच्या सभोंवतीं पुष्कळ पौरजन–श्रावक–येऊन बसले होते व कित्येक त्यांची पूजा करीत होते. हा प्रकार पाहून, त्या कुमाराबरोबर आलेल्या त्याच्या सोबत्यांनीं लागलीच पोबारा केला; पण कुमाराच्या मनाची अवस्था त्यावेळीं कांहीं भिन्न जाहली व तो मनांत ह्मणूं लागला कीं, शाबास, मुनिवर्या ? मनुष्याला जर जगांत तुजसारखें सर्वांकडून पूज्य व्हावयाचें असेल तर त्यानें खरोखर तुझ्या शांत, गंभीर, उदात्त, व सर्वांस हितकारी अशा सद्गुणांचेंच अनुकरण करावें. आज जगांत स्वार्थाच्या पलीकडे नजर न जाऊं देणाऱ्या व्यक्ति पुष्कळ आहेत पण स्वार्थ व परमार्थ साधन करून परहित करणारी तुजसारखी व्यक्ति खरोखर विरळा. ह्मणून तूंच या जगांत धन्य आहेस ? असें ह्मणून तो कुंदकुमार बाकीच्या मुलाबरोबर घरास न जातां तेथें त्याच्यासाठीं वाट पहात राहिलेल्या थोड्या सोबत्यास---मुलास– बरोबर घेऊन तो त्या दिगंबर मुनीजवळ आला व मुनीचें तप ध्यान व दयाभाव यांनीं बनलेलें त्यांचें तें शांत व गंभीर रूप

पाहून व तेथें चाललेला त्यांचा धर्मोपदेश ऐकून त्या कुंदकुंदकुमाराचें चित्त थंडगार झालें. व त्यानें मुनीस नमस्कार केला व बाकांच्याबरोबर तोहि मुनि सांगत असलेला धर्मोपदेश ऐकूं लागला. उपदेश ऐकत असतां त्याच्या मनांतून नाना कल्पनातरंग निघूं लागले तो मनांत ह्मणूं लागला कीं, खरोखर मुनि, जे हा असार संसार आहे, आईबाप भाऊ हा सर्व मायेचा बाजार आहे, या जिवाला मनुष्य, तिर्यंच, नरक आणि देव या गतींत एकटेंच आपणास भ्रमण करावें लागतें, जसे सुखाचा भोक्ता हा जीव एकटाच आहे तद्वत असह्य दुःखाचाहि भोक्ता हाच जीव आहे, नरजन्म दुर्लभ आहे व त्यांत सद्धर्म लाधणें दुर्मिळ आहे, तेव्हां काकतालीय न्यायवत् मिळालेला जन्म वाया न जाऊं देतां ईश्वरचिंतनीं लावणें ह्यासारखें खरें जिवाचें खरें कल्याण नाहीं असें ह्मणतात, तें त्यांचें ह्मणणें अगदीं यथार्थ आहे. आपण जर स्वतः आज या विचारास बळी पडलों तर कदाचित् आपले आईबापांना दुःख होईल पण विचाराअंतीं–आईबाप तरी कोणाचे ? जीवांत जीव आहे तोंवर माझें माझें ह्मणावें व एकदां कां जीव निघून गेला ह्मणजे माझे हें नातें सुटलें. ज्या मृदु शरीराचें उत्तम स्वादिष्ट पदार्थांनीं पोषण करावें, उत्तम वस्त्रांनीं सुशोभित करावें त्या शरीराचा अखेर चितेवर नाश व्हावा काय ! अर्थात् हा संसार ह्मणजे केवळ मायावी--- क्रोध; मान, माया, लोभ यांचा--बाजार आहे. क्रोध, मानाला जिंकल्याशिवाय खरी आत्मोन्नति नाहीं. आतां कांहीं जाहलें तरी होवो, पण आपण कांहीं आतां अशा सज्जन व हितकर मुनींची संगत सोडणार नाहीं असा दृढ निश्चय करून तो मुनींजवळ गेला. हे मुनि कोण होते हें वाचकांना आठवत असेलच. संवत ४० मध्यें पट्टारूढ असलेले जिनचंद्र मुनि हेच. कुंदकुंदकुमार त्यांना नमस्कार करून, त्यांच्याजवळ जाऊन बसला. व त्यानें तेथें ज्ञानामृत प्राशन करण्याची इच्छा दर्शविली. यावेळीं त्याचें वय अवघें ११ वर्षांचें होतें.

या कुंदकुंदकुमारानें, अखेर जिनचंद्रमुनींचें शिष्यत्व स्वीकारून आपण त्याच्या संघाबरोबर ज्ञानार्जन करीत हिंडूं लागला. हा सर्व वृत्तान्त त्याच्या मातापित्याला समजला. आईबापच ते ! त्यांना त्याबद्दल वाईट वाटलें. पण एका दृष्टीनें त्यांना तें बरें दिसलें. त्यांनीं विचार केला कीं, मुलगा हा ज्ञानप्राप्तीसाठीं गेला आहे. अज्ञानासाठीं नाहीं आणि ह्मणूनच त्यांनीं त्यांत समाधान मानून घेतलें.

कुंदकुंदकुमारानें आपल्या गुरूजवळ राहून जैनशास्त्राचा उत्तम अभ्यास

केला व जिनचंद्र आचार्यांच्या सर्व शिष्यांत हा पट्टशिष्य जाहला, आणि हा अधिकार तर त्यांनीं त्याची संसाराविषयीं पूर्ण विरक्ति पाहूनच दिला. कुंदकुंदकुमारानें आपल्या वयाच्या ३३ वे वर्षी गुरु जिनचंद्र यापासून दीक्षा घेतली. जिनचंद्राचार्य हे अवधीज्ञानी मुनि होते. त्यांनीं आपला अंत जवळ आलासें पाहून आपला पट्टशिष्य कुंदकुंद यास पट्टाधिकार दिला व आपण ध्यानस्त झाले.—समाधिस्त जाहले. ज्या वेळीं त्यांना पट्टाचार्य केले ते वेळीं वीरसंमत ५३१ विक्रमसंवत ४९ होता. हा पट्टाभिषेक त्यांच्या गुरूकडून पौष वद्य ८ ला झाला व हे आतां श्रीकुंदकुंदाचार्य पट्टाधिकारी बनले. येथवर सगळे पट्ट उज्जयनींतच होऊन गेले असा पट्टावलींत पूर्ण उल्लेख आहे. यांच्यावेळीं मात्र ते निरनिराळे ठिकाणीं स्थापण्यांत आल्याबद्दल पुढें उल्लेख करूं. हे जरी पट्टाधिकारी होते तरी दिगंबर मुद्राधारी मुनि होते हें मात्र पक्कें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. कुंदकुंदाचार्य यांच्या हाताखालीं बरीच शिष्य मंडळी होती. त्यांत मुख्य शिष्याचें स्थान त्यांनीं उमास्वामींस दिलें होतें. तेच त्यांच्या पश्चात पट्टाधिकारी बनले. असो.

जिनचंद्राचार्य स्वर्गस्थ जाहल्यावर त्यांनीं उत्तम रीतीनें आपला अधिकार बजावण्यास सुरवात केली. यांनीं आपल्या शिष्यांस चोहोंकडे पाठवून जैनधर्माचा प्रसार केला. व चोहोंकडे धर्मोपदेश सतत सुरू ठेविला. गुरूच्या पश्चात ते स्वतः आत्मकल्याणासाठीं तप करूं लागले. वरचेवर आत्मनिरीक्षणानें अनेक कल्पना—शंका— निघूं लागल्या. तेव्हां मात्र त्यांना विशेष काळजी पडली. कारण त्यावेळीं अंग व पूर्व-ज्ञानाचा लोप जाहलेलाच होता. शिवाय अवधीज्ञानीहि कोणी उरले नव्हते. तेव्हां आतां आपणांस उत्पन्न जाहलेल्या शंका कोण निवारील ह्मणून त्यांना मोठी पंचाईत पडली. पण त्यांच्या मनांत एक युक्ति सुचली. ती ही कीं, ×विदेहक्षेत्रांत श्रीमंदरस्वामी शाश्वत केवली आहेत तेव्हां त्यांचेकडे जाऊन स्वतःच्या शंका निरसन करून घ्याव्यात, पण आपण मानवी. त्या क्षेत्रांत आपलें गमन कोठलें ! विद्याधराच्या किंवा विमानसाह्यावांचून तें अगदीं अशक्य. तेव्हां या विचारांतही त्यांचा निरुपाय जाहला व आतां आपल्या गुरूंनीं सांगितलेल्या मुनिक्रियेवांचून दुसरें गत्यंतर नाहींसें जाणून ते तप करूं लागले, पंच महाव्रतें उत्तम रीतीनें पालन करूं लागले.

कोणे एकेवेळेस श्रीकुंदकुंदाचार्य फिरत फिरत एकटेच बारापुरीच्या बहिरुद्यानीं येऊन तप करूं लागले, व दृढ ध्यान लावून पदस्थ, पिंडस्थ,

× टीप. विदेहक्षेत्रासबंधीं भूसालात्मक वर्णन पुढें थोडेसें केलें आहे.

रूपस्थ व रूपातीत या चार ध्यानांचा विचार करूं लागले. ध्यानस्त असतांना मनानेंच त्यांनीं श्रीमंदरस्वामींचें समोशरण रचून त्यांत असलेल्या श्रीमंदरस्वामींना त्रिकरण शुद्धीनें नमस्कार केला. त्याबरोबर चमत्कार असा झाला कीं, विदेह क्षेत्रांत असलेल्या श्रीमंदरस्वामींनीं या आचार्यास, तेथील समोशरणांतील बारा सभेंत गंभीर नादांत दिव्य ध्वनीच्या द्वारानें 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' असा आशिर्वाद दिला. त्यावेळीं त्या सभेंत विदेह क्षेत्राचा चक्रवर्ति पद्मरथ राजा, हा समोशरणांत बसला होता. त्यानें, येथें कोणी नवीन आले नसतांना श्रीमंदरस्वामींनीं कोणास 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' दिला म्हणून त्यांना मोठ्या नम्रतेनें प्रश्न केला. तेव्हां त्यास उत्तर मिळालें कीं, राजा या द्वीपाच्या दक्षिणेस भरत क्षेत्र आहे. त्यांत तूर्त पंचमकाल--भयंकर काल-चालू आहे. त्या क्षेत्रांतील बारापूर नगरीच्या बाह्योपवनांत असलेल्या श्रीकुंदकुंदस्वामींनीं ध्यानस्थ असतांनाच मला नमस्कार केला. शिवाय तेथें पंचमकाल असल्यामुळें अधर्मी, पाखंडी, व्यसनी, हिंसक आदि वाईट मनोवृत्तीचे बरेच लोक आहेत. संयमी, जिनमतानुयायी मुनि फार थोडे आहेत. कुलिंगी बरेच आहेत. त्या क्षेत्रांत सुष्टु असे फार थोडे आहेत. तेथील त्या कुंदकुंद मुनीनें कृतपाप नष्ट व्हावें, व मनांतील शंका नष्ट व्हाव्यांत ह्मणून-आणि तें होणें दुर्घट असें जाणून फक्त दुरूनच स्मरण करून मला नमस्कार केला व ह्मणूनच मी त्यांना इतक्यांतच आशिर्वाद दिला.

ज्यावेळीं कुंदकुंदाचें येथवर वृत्त श्रीमंदरमुनीनें पद्मरथास सांगितलें तेव्हां त्या ठिकाणीं, श्रीकुंदकुंदमुनीचें पूर्वजन्मीचे* दोन बंधु मरून त्या क्षेत्रांत पुण्यबलेंकरून जन्मले होते, ते हजर असून वरील वृत्त ऐकत होते. ते लागलीच तेथून उठले व विमानारूढ होऊन भरतक्षेत्रांत आले व श्रीमंदरस्वामींनीं सांगितल्याप्रमाणें बारापूरच्या बहिरुद्यानीं आले व तेथें कुंदकुंदमुनीस पाहून त्यांनीं त्यांना साष्टांग नमोस्तु केला. ते त्यावेळीं ध्यानस्त होते. शिवाय तो समय रात्रीचा होता ह्मणून मुनीहि बोलले नाहींत. तेव्हां तेथें जवळ पास असलेल्या गृहस्थांस-आह्मी मुनीचे पूर्वजन्मीचे बंधु आहोंत, भेटण्यास आलों होतों व मुनीला विदेह क्षेत्रांत नेणार होतों--असें सांगा ह्मणून सांगून ते पुनः विमानारूढ होऊन विदेहांत गेले.

प्रातःकाळ होतांच त्यांना हें सर्व वृत्त कळलें. तेव्हां तर त्यांनीं श्रीमंदरस्वामीचें दर्शन झाल्याशिवाय भोजन करावयाचें नाहीं असा नियम केला, व पुनः पूर्ववत् ध्यानस्त बसले. पुनः त्यांना विदेहांत समोशरणांत श्री

* टीप. जैन धर्मांत पुनर्जन्म संमत आहे.

मंदरस्वामींनीं तसाच आशिर्वाद दिला. तेव्हां पुनः पद्मरथ राजानें त्याचें कारण विचारतांच श्रीमंदरस्वामी दिव्य ध्वनीनें पुढील वृत्त सांगूं लागले. ते ह्मणाले, कालचें वृत्त मी तुला सांगितल्यावर येथें असलेले दोन बंधु कुंदकुंद मुनीकडे गेले तेव्हां ते ध्यानस्त होते. त्यांनीं जवळील एका मनुष्याला सर्व वृत्त सांगून ते निघून गेले. ही सर्व हकीकत प्रातःकाळीं कुंदकुंद मुनीस समजली. तेव्हां तर त्यांना विशेष आनंद वाटून त्यांनीं माझें दर्शन घेतल्याशिवाय अन्न ग्रहण करावयाचें नाहीं असा दृढनिश्चय करून ध्यान धरिलें व मला नमोस्तु केला ह्मणून मी ह्याहि वेळीं त्यांना आशिर्वाद दिला.

हें वृत्त ऐकून तेथें असलेले कुंदकुंद मुनीचे बंधुद्वय लागलीच पुनः विमानारूढ जाहले व जेथें श्रीकुंदकुंद मुनि तप करीत होते तेथें येऊन त्यांना नमोस्तु केला व विदेहांत चलण्याविषयीं विनंती प्रदर्शित केली. मुनीलाहि फार उल्हास वाटून ते विमानारूढ होऊन निघाले. मुनींनीं जातांना बरोबर पिच्छी आणि कमंडलु हे बरोबर घेतले होते. त्यांपैकीं पिच्छी विमानाच्या शिघ्रगतीमुळें वाटेंत कोठें पडली याचा पत्ता लागला नाहीं. तेव्हां पिच्छीशिवाय जाणें अयोग्य दिसल्यावरून त्यांनीं तेथेंच विमान थांबवून तिचा तपास केला पण ती कोठें मिळाली नाहीं. तेव्हां जवळील मानससरोवरावर ते गेले व तेथें गृध्रपक्षांच्या पडलेल्या कोमल पंखांची पिच्छी करून घेतली व ते पुढें विदेहास चालले. वाटेंत हरिक्षेत्र, नाभिगिरी, मेरु वगैरे पर्वत लागले ते ओलांडून ते विदेहास येऊन अयोध्यापुरी नामें नगरीच्या बाह्योद्यानीं असलेल्या प्रदेशांतील श्रीमंदरस्वामीच्या समोशरणाजवळ उतरले. त्या नगरास पाहून देवांनीं कुंदकुंदमुनीस सांगितलें कीं, याठिकाणीं सतत चतुर्थ काळ चालत असतो. चतुर्थकाळ ह्मणजे सौख्याचा काळ. येथें कोणास दुःखाचा लेशहि माहित नाहीं. हें अचल क्षेत्र आहे. तेथील संक्षिप्त माहिती त्यांना सांगून ते तिघेजण समोशरणाकडे वळले. मुनि ईर्यापथ शोधीत समोशरणाकडे पहात नमस्कार करीत चालले. तेव्हां त्या दोन देवांस मोठी पंचाईत पडली कीं, याठिकाणीं पांचशें धनुष्य काया असलेलीं सर्व माणसें आहेत आणि यांचा तर चार हात देह. तेव्हां यांना बसवावें कोठें? दुसरीकडे ठेवल्यास यांचा कांहीं पत्ता लागावयाचा नाहीं. अखेर विचार करून त्यांनीं कुंदकुंदमुनीस मुख्य पीठावर ह्मणजे श्रीमंदरमुनींचे अगदीं जवळ नेऊन ठेविलें. मग कुंदकुंदमुनींनें श्रीमंदरमुनींस तीन प्रदक्षिणा देऊन नमस्कार केला व त्यांचें स्तवन करून ते तेथेंच ह्मणजे पीठावर बसले.

इतक्यांत तेथें त्या विदेह क्षेत्राचा सार्वभौमराजा पद्मरथ हा आला व

त्यानें श्रीमंदरस्वामींस नमस्कार करून व त्या महापीठावरील लहान मूर्तीकडे पाहून त्या मूर्तीस हळूच दोन बोटांनीं धरून तळहातावर ठेविलें. व श्रीमंदरस्वामींस ही मूर्ति कोण हें सांगण्याविषयीं विनंती केली. तेव्हां शाश्वत तीर्थंकर श्रीमंदरस्वामी यांनीं दिव्य ध्वनीनें उत्तर दिलें कीं, ज्या मुनींविषयीं मी काल सांगितलें व ज्यांना मीं सद्धर्मवृद्धिरस्तु असा आशिर्वाद दिला ते हेच. भरतक्षेत्रांतील या कालांतील धर्माध्यक्ष हेच. यांच्या दोन बंधूंनीं त्यांना येथें आणून ठेविलें आहे.

नंतर स्वतः कुंदकुंद मुनि उठले व त्यांना ज्या ज्या ह्मणून कांहीं शंका होत्या त्या त्यांनीं निरसन करून घेतल्या. श्वेतांबराच्या उत्पती–विषयींहि वर्णन त्यांनीं ऐकिलें. तसेंच कर्नाटकांत असलेले मूडबिदरी, श्रवणबेळगुळची गोंमटेश्वराच्या मूर्तीबद्दल चतुर्थ काळची स्थिती; तसेंच गिरनार पर्वतावरील असणाऱ्या चंद्रगुंफेचें वर्णन त्यांनीं ऐकिलें. शिवाय आणखी ज्या कांहीं ह्मणून शंका होत्या त्या मुनीनें सोडवून घेतल्या. तेथें विदेहक्षेत्रांत कुंदकुंदमुनींचें एकूण ८ आठ दिवस वास्तव्य होतें. सर्व पाहून त्यांनीं स्वतःस धन्य मानून घेतलें.

तेथें एकदां पद्मरथ राजानें कुंदकुंद मुनींस आहार घेण्याविषयीं विनति केली असतां त्यांनीं उत्तर दिलें कीं, आमचें क्षेत्र निराळें आहे तेव्हां परक्षेत्रांत आह्मी कसा आहार घ्यावा? नसें करणें मुनिक्रियेस योग्य नाहीं. हें त्यांचें उत्तर ऐकून राजानें त्यांची स्तुति केली. व खड्गधारेपेक्षांही मुनिक्रिया तीक्ष्ण आहे व ती त्यांनीं आपण पाळली ह्मणून त्यांचा धन्यवाद गायिला. तितक्या आवधींत त्यांनीं कांहीं विद्या पठण केल्या. चार युगांचें व अनुयोगांचें नीट वर्णन ऐकिलें नंतर पूर्ण शंकानिरसन जाहल्यावर व आणखी विशेष ज्ञानाची प्राप्ती जाहल्यावर कुंदकुंदमुनि पूर्ववत् श्रीमंदर स्वामींस नमस्कार करून सर्वांची परवानगी घेऊन त्या दोन देवांसह विमानारूढ झाले निघतांना तेथील मुनींनीं त्यांना एक धर्म–सिद्धांत--पुस्तक दिलें. तें घेऊन ते चालले. वाटेंत ते मेरूवर उतरले तेथें जिनबिंबाचें दर्शन घेऊन विजयार्धावरील जिनबिंबाचे दर्शनास गेले. तेथून कैलासगिरी, सम्मेदशिखर वगैरे क्षेत्रें करीत करीत चालले. तों पुनः वाटेंत बरोबर आणलेला ग्रंथ पडला त्या ग्रंथांत राजनीति, मंत्र, व अनेक विद्येचा भांडार होता. अखेर लवण समुद्रांतून येत असतां हा ग्रंथ पडला तो कांहीं सांपडला नाहीं. असो. लौकरच विमानारूढ असे ते देवद्वय व मुनि मिळून तिघेजण भरतक्षेत्रांत आले व बारापुरच्या बहिरल्यांनीं कुंदकुंदमुनींस सोडिलें तेथें त्या देवांनीं

त्यांचेवर पुष्पवृष्टि केली व पूजा करून ते मार्गस्थ जाहले. विदेहांत जाण्यास जेव्हां कुंदकुंदमुनि निघाले तेव्हां वाटेंत त्यांची पिच्छी गमावली व गृध्र-पक्षाची घेणें भाग पडले ह्मणून त्यांचें नांव गृध्रपिच्छाचार्य पडलें. व जेव्हां विदेहांत गेले तेव्हां त्यांना एलाचार्य ह्मणूं लागले.

कुंदकुंदाचार्य हे विदेहक्षेत्रांत गेले होते असा उल्लेख आहे, विदेहक्षेत्रांत जाऊन त्यांनीं तेथील शाश्वत तीर्थंकर श्रीमंदरस्वामी यांचें दर्शन घेतलें: व त्यांनीं स्वतःस असलेल्या शंका श्रीमंदरस्वामींकडून निरसन करून घेतल्या. विदेहक्षेत्रसंबंधानें वर्णन जैन ग्रंथांत आहे. सध्यां जी पृथ्वी (Globe) दिसत आहे त्यापेक्षां ती अधिक आहे असें जैनशास्त्राचें मत आहे. अर्थात उत्तरे-कडे आणि दक्षिणेकडे बराच प्रदेश आहे. आज ज्या पृथ्वीवर आपण वस्ति केली आहे ती पृथ्वी त्या भागाचे मानानें पाहिलें तर रुपयांत दोन आण्या-सारखी आहे. हल्लीं जो समुद्र आपल्या पृथ्वीला वेष्टीत आहे तो लवण समुद्राचा थोडा भाग खाडीरूपानें आहे. उत्तरध्रुव आणि दक्षिणध्रुव यां-कडे वरील प्रदेश हजारों योजनें लांब आहे. तिकडे जाण्यास आज बुद्धि-मत्तेनें व कल्पनाशक्तीनें अचाट भासणारीं इंग्लंड व अमेरिका यांसारखीं राष्ट्रें प्रयत्न करीत आहेत. व तो प्रयत्न सतत ठेवल्यास व तिकडील हवा-पाण्याची परिस्थिती अनुकूल झाल्यास खात्रीनें त्या बाजूला पुष्कळ प्रदेश सांपडलाच पाहिजे. व तसेंच जैनधर्माचें मत आहे. असो,

विदेहक्षेत्रांतून श्री कुंदकुंदस्वामी आल्यावर त्यांच्या दर्शनास तेथील राजा, त्यांचे मातापिता कुंदशेटी कुंदलता; अनेक श्रावक—श्राविका व हजारो लोक गेले नंतर त्यांनीं विदेह गमनाचें वृत्त सर्वांस सांगून धर्मोप-देश केला. हें वृत्त ऐकून त्यांना संतोष जाहला. नंतर त्या नगराच्या बाह्य-प्रदेशीं राहून जैन धर्माचे व त्यांतील श्रावक व मुनिधर्माच्या लोकांस पुष्कळ बोध केला. त्यायोगें कित्येक श्रीमंत संसार हा असार आहे असें मानून त्यांचेपासून दीक्षा घेत झाले. असे गरीब व श्रीमंत मिळून एकंदर सातशे ७०० लोक मुनिपद ग्रहण करून त्यांचे शिष्य बनले. कित्येक आर्यिका जाहल्या. त्यांनीं सर्व *परिग्रह (वस्त्रादि) यांचा त्याग केला व फक्त अंगा-वर १६ हात साडी, पिच्छी, कमंडलु यांचा स्वीकार केला. कित्येक व्रत-धारी जाहले. याप्रमाणें त्या नगरींत त्यांनीं धर्मप्रभावना उत्तम रीतीनें केली. नित्य अनशनयुक्त तप करून पारणें करूं लागले. त्यायोगें त्यांची चोहों-कडे ख्याती जाहली.

नंतर श्रीकुंदकुंद आपले शिष्य बरोबर घेऊन धर्मोपदेश करण्यासाठीं

फिरत फिरत चालले. त्यांनीं बहुतेक हिंदुस्थानच्या बऱ्याच भागांत विहार (प्रवास) करून धर्मोपदेश केला व कित्येक ठिकाणीं पट्ट (गादी) स्थापन करून त्या त्या प्रांतांत सतत धर्मोपदेश मिळून धर्मजागृति रहावयाची व्यवस्था केली. जैनांत चार संघ आहेत १ **मूलसंघ, २ नंदिसंघ; ३ सिंहसंघ व ४ ऋषिसंघ.** पैकीं कुंदकुंदाचार्यापूर्वी होऊन गेलेल्या ऋषभसेनाचार्यांनें मूलसंघाची स्थापना केली. बाकींचे तीन संघ. कुंदकुंद आचार्यांनीं स्थापन केले आहेत असा उल्लेख आहे. तसेंच १ भारती, २ पुष्कर व ३ चंद्रकांती हे तीन गच्छ, आणखी १ बलात्कार २ देश व ३ कालोग्र हे तीन गण; कुंदकुंदस्वामिनींच स्थापन केले आहेत. त्यांनीं बलात्कार गणाचे चार पट्ट १ दिल्ली २ मलयाद्री (उज्जयनी) ३ डुमस (दक्षिणेंत) ४ वरंग (कर्नाटक) देशगणाचे चार पट्ट-१ दिल्ली. २ द्वारसमुद्र (काठेवाड), व आणखी दोन स्थलें, आणि कालोग्र गणाचे पट्ट चार. १ दिल्ली २ यदलापूर ३केयल व ४लखमीसर याप्रमाणें पट्टाची स्थपना केली. याप्रमाणें माहिती आधुनिक भट्टारकाच्या ग्रंथद्वारें मिळतें. यावरून त्यांनीं पुष्कळ ठिकाणीं प्रवास करून धर्मोपदेश दिल्याचें स्पष्ट दिसतें. यांचा मुख्य पट्ट उज्जयनीस होता असा पट्टावलीचा अभिप्राय आहे. भद्रबाहू (दुसरे) पासून सर्व पट्टाधिकारी उज्जयनींत जाहले, असे पट्टावलीवरून समजतें. कुंदकुंदाचार्य हे बरेच उशिरानें जाहले. पण, हे सर्व भट्टारकांचे व ग्रंथांचे सुद्धां आद्य आहेत यावरून यांचा मोठेपणा स्पष्ट व्यक्त होतो. आज कोल्हापुरीं जो पट्ट आहे तो मूलसंघांतला आहे असाहि त्यांत उल्लेख आहे. एवढ्यावरून त्यांनीं दिल्ली ते कर्नाटकपर्यंत देशाटन केल्याचें व धर्मोपदेश दिल्याचें स्पष्ट दिसतें.

याप्रमाणें प्रवास करून उज्जयनीस आल्यावर श्वेतांबरमताचा विशेष जोर होत आहे असें त्यांना समजलें. कित्येक लोक त्यांना असें सांगूं लागले कीं, हे श्वेतांबर लोक पूर्वीच्या आचार्यांनीं स्थापन केलेले जिनेंद्रमुनींचें नग्न स्वरूप बदलून त्याला वस्त्रें वगैरे नेसवून दागदागिने घालीत आहेत, व खोटें मत स्थापीत आहेत. तेव्हां त्याचा शक्य तो जलदी बंदोबस्त केला पाहिजे. आणि खरेंच भद्रबाहूनंतर श्वेतांबर लोक व मुनि हे राजाश्रित होऊन लागेल तसें वर्तन करीत सुटले होते. कुंदकुंद आचार्यांसारखे जिनसिंह चोहोंकडे गर्जत असतांहि त्यांनीं लोकांच्या मनांत अशी भ्रांति उत्पन्न केली कीं, दिगंबर व श्वेतांबर हे एकच आहेत. एवढेंच नव्हे तर श्वेतांबर हे त्यापूर्वीचे आहेत व दिगंबराची उत्पत्ति श्वेतांबरानंतरची आहे. त्यायोगें लोकांत असंतोष उत्पन्न होऊन त्यांनीं वरील प्रमाणें तक्रार कुंदकुंद आचा-

यांकडे आणून खरें कोणचें याचा प्रथम निर्णय करण्याविषयीं व नंतर असत्याचें खंडण करण्याविषयीं विनंति केली. नंतर श्वेतांबरी लोकांस, श्री नेमिनाथ निर्वाणाचे क्षेत्रांत—**गिरनार**--पर्वतावर वाद करण्यास चलावें असें कळवून त्यांनीं दिगंबरी लोक जमविले व त्या जमलेल्या संघाचें संघपतित्व (संघई) कुंदश्रेष्टीस देऊन ती सर्व दिगंबर मंडळी गिरनारीस गेली व श्वेतांबर लोकहि आपापल्या गुरूस घेऊन तिकडे निघाले.

ज्याप्रमाणें माळव्यांतील व इतर भागांतील दिगंबरी लोकांचा संघ श्री-कुंदकुंदाचार्य यांना घेऊन गिरनारीस गेला तद्वत् गुजराथेंतील महिचंद्र जिनचंद्रादि अनेक साधु बरोबर घेऊन गुजराथेंतील श्वेतांबरी लोकांचा संघ गिरनारीस गेला. उभयतांची भेट गिरनार पर्वताच्या पायथ्याशीं झाली. उभयतांनीं निरनिराळ्या ठिकाणीं तळ दिले. जो तो स्वतःसच मोठा व खरा ह्मणवूं लागला. नंतर एके दिवशीं त्या पर्वताच्या पायथ्याशीं उभयपक्षांच्या सभा बोलाविल्या. त्याठिकाणीं थाटानें वाजतगाजत प्रथम श्वेतांबर जती व लोक आले व नंतर श्रीकुंदकुंद मुनि आपल्या ७०० शे शिष्यांना बरोबर घेऊन दिगंबरी संघासह त्या ठिकाणीं आले. नंतर लौकरच वादविवाद सुरू झाला. श्वेतांबरांचें ह्मणणें ‘ वस्त्राशिवाय जिवास केव्हांहि मुक्तता नाहीं ’ असें होतें व दिगंबरांचें असें ह्मणणें पडलें कीं, ‘ जिवाची उत्पत्तीच प्रथम नग्न अवस्थेंत होते व जेव्हां तो मरण पावतो तेव्हां नग्नावस्थेंतच हें जग सोडून जातो. त्याच्या बरोबर वस्त्र वगैरे तेव्हां कांहीं नसतें ह्मणून मूलावस्थाच—दिगंबरवृत्तीच—या जिवाला कार्यकारी आहे. ’ याप्रमाणें बरेच दिवस वाद चालला. श्वेतांबर, दिगंबरीसंघाचें ह्मणणें कबूल करीनात व दिगंबर श्वेतांबरी संघाचें ह्मणणें ऐकेनात. दिगंबरीसंघांत जशा कुंदकुंदाचार्य यांना अनेक सुविद्या साध्य होत्या; तशाच श्वेतांबरीसंघांतहि जिनचंद्र व महिचंद्र यांना अनेक कुविद्या येत होत्या. एकानें आपल्या विद्येच्या जोरानें कांहीं अवघड प्रश्न घातला तर तो दुसऱ्यानें सोडवावा. येणेंप्रमाणें वाद कांहीं लौकर मिटेना व निर्णयहि लौकर लागेना उभयपक्षाचे लोकहि कंटाळले. तेव्हां एके दिवशीं कुंदकुंदाचार्यांनीं असा निश्चय केला कीं, आज मी जेव्हां खरा निर्णय लावीन तेव्हांच उठून सभेच्या बाहेर येईन. अशी प्रतिज्ञा करून ते सभेंत येऊन दाखल झाल्यावर त्यांचा भर सभेंत उपहास करावा ह्मणून एक लहान मत्स्य श्वेतांबरी लोकांनीं कमंडलूंत घालून तो पुढें झांकून ठेवून कुंदकुंद मुनीस असा प्रश्न केला कीं, यांत काय? असें त्यांना विचारलें. लागलीच त्यांनीं यांत कमलपुष्प

आहे असें उत्तर दिलें तों लागलीच कमळपुष्प सर्वांस दिसूं लागलें. तेव्हां श्वेतांबरी लोकांचें धाबें दणाणलें. आजचा प्रसंग नीट नाहीं असें त्यांनीं ताडलें. वाद सुरू झाला. त्या वादांत श्वेतांबरांनीं वीर, कालिकादेवी इत्यादि जैनमतविरहित देवांचें आव्हान केलें, पण श्रीकुंदकुंद मुनींनें मूलमंत्राचें स्मरण करून त्यांचें तेथें आगमनच बंद केलें. व त्यांच्याशीं वाद केला व त्यांना सांगितलें कीं, दिगंबरी धर्म प्रथम कां श्वेतांबरी प्रथम. याचा कांहीं प्रबल पुरावा दाखवा. नाहींतर सिद्ध करून दाखवा. तेव्हां मात्र श्वेतांबरी लोकांची कांहीं लटपट चालेना व ते गततेज होऊन स्तब्ध राहिले. मग कुंदकुंद आचार्य हे दोन्ही संघांस बरोबर घेऊन गिरनार डोंगरावर गेले व तेथें असणारे श्रीमन्नेमिनाथ निर्वाणस्थान यांचें दर्शन करून व विदेहक्षेत्रवासी शाश्वत तीर्थंकर श्रीमंदर स्वामी यांचें स्मरण केलें व पंचपदाचें स्मरण करून असें ह्मणाले कीं, दिगंबरी धर्माची स्थापना प्रथम, कां श्वेतांबरी धर्माची स्थापना प्रथम, याचा निर्णय व्हावयाचा असेल तर येथें कांहींतरी तसा चमत्कार व्हावा. लागलीच कांहीं वेळांत तेथें " **दिगंबरी धर्माची स्थापना प्रथम** " अशी कांहीं वेळ गंभीर नादाची आकाशवाणी झाली. तेव्हां लागलीच श्वेतांबरी लोक मदगलित होऊन तेथून निघून गेले. मग कुंदकुंद मुनींस दिगंबरी संघानें मोठ्या थाटानें आपल्या संघांत नेले. त्या दोनही संघास तेव्हां आनंद झाला, पण पक्षाच्या अभिमानामुळें श्वेतांबरी लोकांनीं तो दर्शविला नाहीं. त्यांच्यापैकीं कित्येकांनीं दिगंबरीपक्ष स्वीकारला पण कित्येकांनीं केवळ आढ्यतेनें तो नाकारला. व गुजराथेंत जाऊन तो वाढवून प्रबल केला. असो. याप्रमाणें **श्वेतांबरी पक्षाचा मोड** झाला हें पाहून दिगंबरी संघांनीं तेथें एक जिनमंदिर बांधवून त्याची कुंदकुंद आचार्यांच्या हातानें प्रतिष्ठा करविली. नंतर तो संघ आपल्या गुरूसह-कुंदकुंद मुनींसह परत बारापुरीस गेला. तेथें कुंदकुंदाचार्यांनीं एका पट्टाची स्थापना करून त्यावर एका विद्वान शिष्याची योजना केली. व आपण आपला काळ तत्वाचे व अनुप्रेक्ष्याचें चिंतवनांत घालूं लागले.

त्यांच्या सर्व शिष्यांत उमास्वामी--ज्यांनीं तत्वार्थ सूत्र हा ग्रंथ रचिला--हे मुख्य होते. यांनीं विद्वत्तेचे जोरावर आपल्या वयाच्या केवळ १९ व्या वर्षी श्री कुंदकुंद आचार्यांबरोबर वाद केला पण त्यांत त्यांचा पराजय जाहल्यावर त्यांनीं कुंदकुंद--आचार्यांचें शिष्यत्व पत्करलें. यांनीं त्यांचे जवळ २५ वे वर्षी दीक्षा घेऊन अभ्यास केला व हेच उमास्वामी, गुरूच्या कुंदकुंदा--चार्यांच्या पश्चात् पट्टाधिकारी झाले.

कुंदकुंदाचार्यांनीं बरेंच, अध्यात्म विषयाचे ग्रंथ लिहिले पैकीं आज अष्टपाहुड, पंचास्तिकाय, समयसार, इत्यादि ग्रंथ उपलब्ध आहेत. ते केवळ अनेकांतस्याद्वाद मताचे आहेत.

याप्रमाणें चोहोंकडे धर्मप्रसार करून आपला शिष्य उमास्वामी यास पट्टावर स्थापून आपण अरण्यांत जाऊन घोर तप करूं लागले व वीरसंवत ५८७ विक्रम संवत १०१ व इ. स. ६३ मध्यें श्रीमान् कुंदकुंद मुनि ध्यानस्त असतांनाच स्वगस्थ जाहले.

याप्रमाणें इ. सनापूर्वी सुमारें पांचशें वर्षांचा जैनांचा फारच संक्षिप्त असा इतिहास संपला.

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

॥ द्विजवदनचपेटः ॥

नमोऽस्तु वीतरागाय नमोऽनेकान्तवादिने ॥
नमो लोकोपकाराय नाभेयाय नमो नमः ॥

ननु ब्राह्मणा भवन्तस्ते च भूमिदेवता इत्युच्यन्ते लोकैः । ब्राह्मणो वाडवो विप्रो भूमिदेवो द्विजोत्तम इति वचनात् ॥ तत्कुतोऽयं ब्राह्मणो नाम? किं जात्या? आहोस्विज्जीवेन? उतस्वित्कुलेन? योन्या वा? शौचाचारेण तपसा वा? संस्कारेण वा?

न तावज्जात्या ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तस्या विचार्यमाणाया अयोगात् न ताव-

---

जे जीव ब्राह्मण (वेदमार्गानुयायी ब्राह्मण) होतात; त्यांना लोक "भूमिदेव ह्म० पृथ्वीवरील देव" असें ह्मणतात. कोशांत ब्राह्मणांचीं जीं नांवें दिलीं आहेत तीं "ब्राह्मण, विप्र, भूमिदेव, द्विजोत्तम" वगैरे आहेत. त्यामुळें ब्राह्मणाला भूमिदेव ह्मणण्याचा संप्रदाय पडलेला आहे. आतां ह्या ठिकाणीं ब्राह्मण कशानें झाला? ह्मणजे जातीनें ब्राह्मण झाला? किंवा जीवरूपानेंच ब्राह्मण झाला? अथवा कुलानें ब्राह्मण झाला? अगर योनीनें झाला? अथवा शुद्ध आचारानें झाला? अगर तपानें झाला? किंवा संस्कारानें ब्राह्मण झाला? ह्या गोष्टींचा विचार करणें अवश्य आहे. त्यांत प्रथम हा जीव जातीमुळें ब्राह्मण झाला आहे काय? ह्याचा विचार करूं. आमचें ह्मणणें असें कीं, जातीनें ब्राह्मण होत नाहीं. कारण, जैनेतर वादीलोक जाति ही व्यक्तीपेक्षां निराळी, एक आणि नित्य आहे—असें

व्यक्तिभ्यो भिन्ना एका नित्या सकलविचारचतुरचेतसां चकास्ति ॥ केवलं सदृशपरिणामात्मिकैव सकलव्यक्तिनिष्ठा पटिष्ठप्रतिष्ठाधिष्ठितैर्गरिष्ठैरङ्गीक्रियते ॥ सा च व्यक्तिपरिणामात्मिकैव कथञ्चिदभिन्नव्यक्तिभ्योऽवभासते मनुष्यत्वलक्षणा ॥ तया चेद्ब्राह्मणास्तर्हि सर्वेषामप्यस्ति चाण्डलादीनाम्। तेषामपि ब्राह्मणत्वप्रसङ्गः। न तु ब्राह्मणा एव ब्राह्मणाः ॥

ह्मणतात; परंतु विचार केला असतां हें ह्मणणें योग्य दिसत नाहीं. वास्तविक पाहिलें असतां जाति ह्मणजे सर्व व्यक्तीवर रहाणारा एक सारखा परिणाम आहे, असें सर्व पंडितांनीं मानिलें आहे. त्यामुळें जाति हा एक व्यक्तीचाच परिणाम आहे असें सिद्ध होतें. आणि तो (जातिरूपी परिणाम) कथंचित् व्यक्तीहून निराळा नाहीं असाच आहे असेंही ह्मणावें लागतें. ह्याला उदाहरण वृक्षत्व ही एक जाति आहे. हें वृक्षत्व वृक्ष ह्या व्यक्तीहून निराळें असें भासत नसल्यानें तें कथंचित् व्यक्तिरूपच आहे. तसेंच वृक्षत्व हा वृक्षांचाच एक सर्ववृक्षांच्या ठिकाणीं असणारा असा सारखा परिणाम (ज्या परिणामामुळें अनेक व्यक्तींना एकच नांव देतां येतें असा परिणाम) आहे. तात्पर्य जाति ही व्यक्तीपेक्षां निराळी आहे असें ह्मणणें चुकीचें आहे. हें जातीच्या स्वरूपाविषयीं विवेचन केलें. आतां जातीनें ब्राम्हण होतो किंवा काय ह्याचा विचार करूं.

जातीनें ब्राह्मण होतो असें ह्मटल्यास तें ह्मणणें देखील चुकीचें आहे असेंच ह्मणावें लागतें. कारण मनुष्यत्व ही देखील एक जातीच असल्यानें तिच्या योगानें ब्राम्हण होतो, असें ह्मटल्यास चांडालालाही ब्राम्हणच म्हणावें लागेल. ज्याप्रमाणें ब्राम्हणाच्या ठिकाणीं मनुष्यत्वजाति आहे त्याप्रमाणें ती चांडालाच्या ठिकाणींसुद्धां आहे. म्हणून ब्राम्हणालाच तेवढें ब्राम्हण म्हणावें आणि चांडालाला ब्राम्हण म्हणूं नये असें मानतां येत नाहीं. तेव्हां जातीमुळें ब्राम्हण होतो हें म्हणणें चुकीचें

अथ भवतु नाम यथाकथञ्चिज्जातिः। सा च किं एकव्यक्तिनिष्ठा वा अनेकव्यक्तिनिष्ठा वा? न तावदेकव्यक्तिनिष्ठा। अनेकव्यक्तिनिष्ठं सामान्यमेकव्यक्तिनिष्ठो विशेष इति वचनात्॥ सा च यदि सर्वव्यक्तिव्यापिका तदा सर्वेषामपि ब्राह्मणजातित्वप्रसङ्गः॥ अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया कतिपयमनुष्यव्यक्तिव्यापिका तर्ह्यायातमपरसामान्यत्वमस्याः। गोपिण्डेषु गोत्ववत्॥

ठरतें. आतां जे ब्राम्हण आहेत तेच ब्राम्हणत्व ह्या जातीमुळें ब्राम्हण होतात असें जर कोणी म्हणतील; तर त्यांना आमचें असें विचारणें आहे कीं, कांहीं हरकत नाहीं; ती तुमची ब्राम्हणत्व जाति एकाच प्राण्यावर राहणारी आहे किंवा अनेक व्यक्तीवर (सर्व व्यक्तीवर) राहणारी आहे? जर एका व्यक्तीवर राहणारी आहे असें म्हणाल तर "अनेक व्यक्तींवर रहाणाऱ्या धर्माला जाती म्हणावें; आणि एका व्यक्तीवर रहाणाऱ्या धर्माला विशेष म्हणावें" ह्या तुमच्या शास्त्राला तुमचेंच म्हणणें विरुध्द पडतें. म्हणून एका व्यक्तीवर रहाणारी आहे असें म्हणतां येत नाहीं. आतां अनेकव्यक्तीवर रहाणारी आहे असें म्हणण्यांत तुमचा हेतु जर ती ब्राह्मणत्व जाति सर्व मनुष्यांवर रहाणारी आहे असा असेल; तर सर्वच मनुष्यें ब्राह्मण होतील. मग चांडालाला देखील ब्राह्मण ह्मणावें लागेल. ह्या दूषणाचा परिहार करण्याकरितां जर तुह्मी – ती ब्राह्मणत्वजाति सर्वमनुष्यांवर रहाणारी नसून कित्येक मनुष्यांवर रहाणारी आहे – असें जर ह्मणाल; तर ती व्यापक होणार नाहीं. ज्याप्रमाणें गोत्व हा गायीवर रहाणारा एक धर्म आहे त्याप्रमाणें ब्राह्मणत्व हा कित्येक मनुष्यांवर रहाणारा एक धर्म आहे इतकेंच ह्मणावें लागेल. आणि त्यामुळें "ब्राह्मणत्व ही जाती आहे" असें ह्मणतां येणार नाहीं. कारण, कित्येक मनुष्यें काळीं आहेत ह्मणून काळेपणा (कृष्णत्व) ही जाति मानतां येत नाहीं. तसेंच

सा च नित्याऽविनाशिनी च ब्राह्मणानामभिप्रेता ततस्तस्याः पतनविनाशौ न विद्येते ॥ श्रूयते च ब्राह्मणत्वजातेः पतनविनाशौ मानवधर्मे--

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ॥
दिनत्रयेण शूद्रः स्याद्ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥ १ ॥
वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ॥

कित्येक मनुष्यें मूर्ख आहेत म्ह० मूर्खत्व ही जाति आहे असें ह्मणतां येईल काय? त्याप्रमाणेंच मनुष्यें जरी ब्राह्मण असलीं तरी तेवढ्यावरून ब्राह्मणत्व ही जाति आहे असें ह्मणतां येत नाहीं.

आतां "ब्राह्मणत्व ही जाति असल्यामुळें नित्य ह्मणजे अविनाशी आहे" असें ब्राम्हणांचें ह्मणणें आहे, त्याबद्दल थोडा विचार करूं. ह्या ठिकाणीं जर ब्राह्मणत्व जाति सिद्ध झाली असती तर तिच्या नित्यत्वाबद्दल विचार करणें अवश्य होतें, असें जरी खरें आहे; तथापि जर कोणी ब्राह्मणत्व नित्य असल्यामुळें ती जाति आहे असें ह्मणतील तर त्यांचें ह्मणणें बरोबर नाहीं. हें दाखविण्याकरितां आह्मी त्याच्या नित्यत्वाचा ह्या ठिकाणीं विचार करतों. जो पदार्थ नित्य आहे त्याचें त्याच्या स्थानापासून पतन आणि नाश हे दोनीही होत नाहींत, हें सुप्रसिध्द आहे. ब्राह्मणत्वाचें मात्र तसें नाहीं. त्याचें पतन आणि नाश हीं मनुस्मृतींत सांगितलीं आहेत. ते असे—

मांस, लाक्षा आणि लवण (हा एक खनिज पदार्थ आहे.) ह्याच्या योगानें— ह्मणजे हे भक्षण केल्याच्या योगानें— ब्राह्मण तत्काल पतित होतो. आणि तीन दिवस ब्राह्मणानें दूध विकलें असतां तो शूद्र होतो. शूद्रस्त्रीच्या अधरोष्ठाचें चुंबन करणारा, व तिच्याशीं एकशय्येवर शयन केल्यामुळें तिचे श्वासोश्वास ज्याच्या श्वासोश्वासांत मिसळत आहेत, आणि तिच्या ठिकाणीं जो प्रजा उत्पन्न करता झाला आहे असा ब्राह्मण कोणत्याही

तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ २ ॥

ऋतुकालमतिक्रम्य योऽधिगच्छति मैथुनम् ॥
स वै तु ब्रह्महा नाम हतं ब्रह्म तदात्मकम् ॥ ३ ॥

ऋतुकालेऽप्यतिक्रान्ते यस्तु सेवेत मैथुनम् ॥
ब्रह्महत्याफलं तस्य सूतकं च दिने दिने ॥ ४ ॥

किंचच कैवर्तकरजकचर्मकारशौण्डिकादीनां गृहे भुक्तवतां ब्राह्मणत्वजातेः पतनं भवति : ततो न ब्राह्मणत्वजातिः न नित्या व्यापिका च । पतनविनाशोपलभ्यमानत्वात्तस्याः ॥ ततो न जातिवशाद्ब्राह्मणत्वं प्रमाणभियाद्ब्राह्मणानाम् ॥ किंच नास्ति ब्राह्मण‧जातिः यद्वशाद्ब्राह्मणा भवन्ति ॥ तथाहि नासौ तत्र सती तद्भावावेदकप्रमाणाभावात् ॥

प्रायश्चित्तानें शुध्द होत नाहीं. आपल्या स्त्रीचा ऋतुकाल [विटाळशी झाल्यापासून सोळा दिवस] संपल्यावर जो ब्राह्मण तिच्याशीं समागम करतो तो ब्रह्महत्या करणारा आहे, आणि त्याचें ब्राह्मणत्व नष्ट झालें असें समजावें. स्त्रीचा ऋतुकाल गेल्यानंतर जो तिच्याशीं समागम करतो त्याला ब्रह्महत्येचें पातक लागतें. आणि तो ज्या दिवशीं समागम करतो त्या दिवशीं सुतकी होतो. याप्रमाणें मनुस्मृतींत ब्राह्मणत्वाचें पतन आणि नाश होतो असें सांगितलें आहे. तसेंच, कोळी, परीट, चांभार, कलाल, वगैरेंच्या घरीं ब्राह्मणानें भोजन केलें असतां त्याचें ब्राम्हणत्व पतन पावतें, असेंही सांगितलें आहे. ह्यावरून विचार केला असतां ब्राम्हणत्व हें नित्य नाहीं हें सिध्द होतें. कारण, त्याचें पतन स्मृतींत स्पष्टपणें सांगितलें आहे. म्हणून ब्राम्हणत्व नित्य नाहीं आणि त्यामुळें त्याला जातीही म्हणतां येत नाहीं.

दुसरें असें कीं, जीमुळें कित्येक लोक आपल्याला स्वतःला ब्राम्हण समजत आहेत ती ब्राम्हणत्वजाति मुळींच नाहीं असें आम्ही म्हणतों. कारण, ती आहे म्हणण्याला कांहीं प्रमाण नाहीं. प्रत्यक्षप्रमाणानें [इंद्रियांनीं] तिचें ज्ञान तर मुळींच होत

न तावत्प्रत्यक्षं तदावेदकं तस्या अमूर्तत्वात् । अमूर्ता चासौ नित्यत्वाद्व्यापकत्वाद्गगना-दिवत् ।। नाप्यनुमानात्तत्सिद्धिः । गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनु-मानमात्मा साधयति न च जात्या सह सम्बन्धः कस्यचित्सिद्धः ॥ प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तस्यापि ग्रहणाभावात् ।। ततो न जात्या कश्चिद्ब्राह्मणो भवितुमर्हति ॥

नाहीं. कारण, जाति अमूर्त आणि व्यापक असते, म्हणून ज्याप्रमाणें अमूर्त आणि व्यापक असलेला पदार्थ जो आकाश त्याचें इंद्रियांनीं ज्ञान होत नसतें त्याप्रमाणें जातीचें देखील इंद्रि-यानें ज्ञान होत नाहीं. तात्पर्य — प्रत्यक्षप्रमाणानें ब्राम्हणत्व जातीची सिध्दि होत नाहीं. आतां अनुमानानें सिद्धि होते म्हणावें तर तेंही म्हणणें संभवत नाहीं. कारण, ज्या दोन वस्तूंचा संबंध आहे असें पूर्वीं खात्रीनें समजलें असेल, त्या दोन वस्तूंपैकीं एकाचें प्रत्यक्ष झालें म्हणजे अप्रत्यक्ष असलेल्या दुसऱ्या वस्तूंचें अनुमान करतां येतें. उदाहरण असें पहा कीं, एखादा मनुष्य नेहमीं पागोटें घालीत असतो असें आपल्याला जर पक्कें माहीत असेल तर, त्याच्या घरांत आपल्याला त्याचें पागोटें दिसलें कीं आपण हा गृहस्थ घरांत आहे असें अनुमान साधा-रणपणें करतों. त्याप्रमाणें जातीचें अनुमान करण्यास जातीचा कोणाशीं नेहमी संबंध आहे हें आपल्यास प्रथम कळलें पाहिजे. तो संबंध कोठेंच आपल्याला प्रत्यक्ष दिसत नसल्यानें आणि त्याच्याविषयीं अनुमानही करतां येत नसल्यानें अमक्या एक वस्तूशीं जातीचा संबंध आहे असें आपल्यास ठरवितां येत नाहीं. ह्याप्रमाणें जातीचा संबंध कोणाशीं आहे हें ठरवितां येत नसल्यामुळें जाति म्हणून एक पदार्थ आहे असें अनुमान करतां येत नाहीं. आणि त्यामुळें जातीनें कोणी ब्राम्हण होतो असेंही म्हणतां येत नाहीं. ही गोष्ट सिध्द होते.

नापि जीवेन तस्य नित्यत्वात् नारकतिर्यग्देवगतिष्वपि ब्राह्मणत्वप्रसङ्गात् । न हि ब्राह्मणो मृत्वा ब्राह्मण एव स्यात् ॥ मखशतेनेन्द्रो भवतीत्यागमोऽस्ति ब्रह्महत्यादिपातकाच्च नारको भवति तिर्यगपि च ॥ तदुक्तं--देवेन्द्रः पशुरासीत् । तमायन्त: शतेन लोकं जयति ॥ अस्मिन् शतेन लोको न भविष्यति ॥ पशवोऽपि देवा उत्पद्यन्त इति ॥ उक्तं मनुना---

---

आतां जीवानें कोणी ब्राह्मण आहे कीं काय ? ह्याचा विचार करूं. जीवानें ब्राह्मण आहे ह्या म्हणण्याचें तात्पर्य- जीव हाच ब्राम्हण आहे- असें आहे; परंतु जीवाला ब्राह्मण म्हणणें फारच चुकीचें आहे. कारण, जीव हाच ब्राम्हण आहे असें म्हटलें असतां जीव नित्य असल्यानें तो नेहमींच ब्राह्मण आहे असें म्हणावें लागेल. मग तो जीव नारकी, तिर्यक् किंवा देव जरी झाला तथापि त्याला ब्राह्मणच म्हणावें लागेल. ब्राह्मण मृत झाल्यावर पुनः तो ब्राह्मणच होतो अशा शास्त्राचा नियम नाहीं. कारण, शंभर यज्ञ केल्यानें इंद्र होतो. ब्रह्महत्या वगैरे पातकें केल्यानें नारकी किंवा तिर्यक् होतो. ब्राह्मणांच्या आगमांत असें सांगितलें आहे कीं, देवांचा इंद्र पशु झाला; शंभर यज्ञांच्या योगानें स्वर्गलोकाला जिंकतो, इत्यादि. ह्या ठिकाणीं इंद्र पशु झाला असें सांगितलें आहे. त्यावरून इंद्र असलेला जीव देखील पशु होतो असें सिद्ध होतें. तसेंच शंभर यज्ञांच्या योगानें स्वर्गलोकाला जिंकतो असें सांगितलें असल्यानें कोणीही शंभर यज्ञ करणारा जीव इंद्र होतो असेंही सिद्ध होतें. तेव्हां जर ब्राह्मण असलेला जीव मेल्यानंतरही ब्राह्मणच व्हावयाचा असतां तर शंभर यज्ञांच्या योगानें स्वर्गलोकाला जिंकतो हें सांगणें व्यर्थ झालें असतें. म्हणून जीवाला ब्राह्मण म्हणतां येत नाहीं. दुसरें असें कीं, ज्याप्रमाणें इंद्र पशु झाला त्याप्रमाणें पशु देखील देव होईल. मनुस्मृतींत असें सांगितलें आहे कीं- सांगोपांग

अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गोपाङ्गान् सलक्षणान् ॥
शूद्रात्प्रतिग्रहं कृत्वा खरो भवति ब्राह्मणः ॥ १ ॥
खरो द्वादश जन्मानि षष्टिजन्मानि सूकरः ॥
श्वा च सप्ततिजन्मानि इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥ २ ॥
पशवोऽपि यथा देवा देवाश्च पशवस्तथा ॥
ब्राह्मणाः स्युस्तथा श्वानः श्वानोऽपि ब्राह्मणाः पुनः ॥ ३ ॥

इत्येवं सुखदुःखाभ्यां शंबाहुल्या (?) जीवस्य विविधवर्तनात्कथं जीवेन ब्राह्मणा भवन्तीति भाषितं शोभेत ॥

नापि कुलेन ब्राह्मणो भवति । यदि भवति तदा प्रधानमुनीनां कुलाभावात्कथं

अशा चार वेदांचें अध्ययन करून जो ब्राह्मण शूद्रानें केलेलें दान स्वीकारतो, तो प्रथम गाढवाच्या जन्माला जातो. तो गाढवाचा जन्म त्याला बारा वेळ प्राप्त होतो. नंतर साठ जन्म तो डुकर होतो. नंतर सत्तर जन्मपर्यंत तो कुत्र्याच्या जन्माला जातो, असें मनूनें सांगितलें आहे. ज्याप्रमाणें पशु देव होतात त्याप्रमाणें देवही पशु होतात. तसेंच ब्राह्मण देखील आपल्या कर्मविपाकामुळें कुत्र्याच्या जन्माला प्राप्त होतात. आणि कुत्राही ब्राह्मणाच्या जन्माला प्राप्त होतो. याप्रमाणें मनुस्मृतींत सांगितलें असल्यामुळें एका जीवाला अनेक निरनिराळे जन्म होतात ही गोष्ट सिद्ध होते. ह्मणून जीवच ब्राम्हण आहे हें ह्मणणें शोभत नाहीं.

आतां कुलामुळें ब्राम्हण होतो कीं काय? याचा विचार करूं. कुलामुळें—(त्या कुलांत उत्पन्न झाल्यामुळें) च जर ब्राह्मण होत असेल, तर ज्या कुलांत जो उत्पन्न झाला आहे, तो त्या कुलांतीलच झाला पाहिजे; नाहीं तर दिसत नाहीं. कारण कुळानें ब्राह्मण होतात असें जर ह्मटलें तर पूर्वी जे मोठमोठे ऋषि झाले आहेत ते ब्राह्मणकुलांत उत्पन्न झालेले नसल्यामुळें त्यांना

नाम ब्राह्मण्यं स्यात् ॥ तदप्युक्तमस्ति—

कठिनात्कठिनो जातः शरगुल्माच्च गौतमः ॥
द्रोणाचार्यस्तु कलशात्तित्तिरस्तित्तिरीसुतः ॥ १ ॥

रेणुका जनयेद्राममृष्यशृङ्गं वने मृगी ॥
कैवर्ती जनयेद्व्यासं कपिलं चैव शूद्रिका ॥ २ ॥

विश्वामित्रं च चाण्डाली वसिष्ठं च तथोर्वशी ॥
अगस्त्योऽगस्त्यपुष्पाच्च कौशिकः कुशसंस्तरात् ॥ ३ ॥

एषां केषाञ्चिदपि न ब्राह्मणी माता कथं नाम ते ब्राह्मणाः ॥ अथ ते देवर्षयो यथाकथञ्चिदुत्पन्ना अपि न चर्चनीयाः । तदेतत्स्वगृहमान्यम ॥ न ह्यभ्युपगममात्रेण कि-

---

ब्राह्मण म्हणतां येणार नाहीं. त्यांच्या उत्पत्तीबद्दल असें सांगितलें आहे कीं. कठिन अशा शिलातलापासून कठिन नांवाचा ऋषि उत्पन्न झाला. दर्भांच्या जुंपड्यापासून गौतम ऋषि उत्पन्न झाला. द्रोणापासून द्रोणाचार्य जन्माला आला. तित्तिर पक्ष्यापासून तित्तिर नांवाचा ऋषि उत्पन्न झाला. रेणुका नांवाच्या क्षत्रियकन्येपासून परशुराम जन्म पावला. अरण्यांत हरणीपासून ऋष्यशृंग मुनि जन्मला. एका धीवराची मुलगी व्यासाला प्रसवती झाली, शूद्रीपासून कपिल जन्माला आला. विश्वामित्र हा चांडालीचा पुत्र होता. उर्वशी नांवाच्या अप्सरेच्या ठिकाणीं वसिष्ठ ऋषि जन्म घेता झाला. अगस्त्यऋषीची हातग्याच्या फुलांपासून उत्पत्ति झाली. आणि कौशिक ऋषि दर्भांच्या संस्तरापासून (अंथरुणापासून) उत्पन्न झाला. ह्या ऋषींपैकीं कित्येकांच्या माता ब्राह्मणी नव्हत्या व कित्येकांचे पिते ब्राह्मण नव्हते, असें असून ते ब्राह्मण कसे झाले? आतां "हे वरील सर्व देवर्षि असल्यामुळें ते कसे जरी उत्पन्न झाले तथापि त्यांचा विचार करावयाचा नाहीं" असें जर कोणी म्हणेल, तर त्यानें तें आपल्या घरीं बसून म्हणावें. आपण एखादी गोष्ट गृहीत

श्चित्प्रमाणमप्रपश्चतामश्चाति ॥ तत्कुलप्रसूतानां च कथं नाम ब्राह्मणत्वम् ॥ श्रुतेश्चाप्रामाण्यप्रसङ्गात् । उक्तं च--

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ॥
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १ ॥ इति विज्ञानेश्वरीयम् ॥
शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात् ॥
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृत्वा श्वा च प्रजायते ॥ २ ॥
ब्राह्मणान्नं प्रधानं स्यात क्षत्रियाणां पयस्स्मृतम् ॥
वैश्यान्नमन्नमेव स्याच्छूद्रान्नं रुधिरं स्मृतम् ॥ ३ ॥

अथ ये ब्राह्मणा न तेभ्यो जाताः किं तर्हि ब्रह्मणो मुखात । उक्तं च–

करून चाललों तर ती दुसऱ्यानें प्रमाण मानलीच पाहिजे असें ह्मणतां येणार नाहीं. तेव्हां ह्या निरनिराळ्या कुलांत उत्पन्न झालेल्यांना व पुढें त्यांच्यापासून उत्पन्न झालेल्या संततीला ब्राह्मण कसें ह्मणावें! हा एक मोठाच विचार आहे.

दुसरें असें कीं, ह्यांना जर कोणी ब्राह्मण समजूं लागेल तर तो श्रुति स्मृति प्रमाण मानीत नाहीं असें ह्मणणें भाग आहे. कारण, असें सांगितलें आहे कीं, शूद्राचें अन्न भक्षण केल्यानें, शूद्राशीं संसर्ग केल्यानें आणि शूद्राशीं नेहमीं बोलल्यानें ह्या जन्मांत तो ब्राह्मण शूद्र होतो. आणि मेल्यानंतर पुढल्या जन्मीं कुत्र्याच्या जन्माला जातो. ह्मणून ब्राह्मणाला ब्राह्मणाचें अन्न मुख्य आहे. क्षत्रियाचें अन्न दुधासारखें आहे. वैश्याचें अन्न अन्नासारखेंच आहे. आणि शूद्राचें अन्न रक्तासारखें आहे असें समजावें. तात्पर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य ह्या तीन जातींवांचून इतर जातींचें अन्न भक्षण केल्यानें ब्राम्हणाचें ब्राम्हणत्व जात असल्यानें वर जे ऋषी सांगितले आहेत त्यांच्या माता निरनिराळ्या कुलांतील असल्यानें व त्यांनीं त्यांचें अन्न भक्षण केलेलें असल्यानें त्या ऋषींना ब्राम्हण म्हणतां येत नाहीं; असें ह्या प्रमाणावरून सिद्ध होतें. असें असूनही

मुखतो ब्राह्मणा जाता बाहुभ्यां क्षत्रियस्तथा ॥
ऊरुभ्यां वैश्यजातिश्च पद्भ्यां तच्छूद्रजातयः ॥ ४ ॥

तर्हि योन्या ब्राह्मणो न भवतीत्यायातं ब्रह्मप्रभवत्वात्तेषां । ततः कथमेतदुक्तं शोभेत? यदि योनिजा ब्राह्मणा भवन्ति--

---

जर त्या ऋषींना ब्राह्मणच समजत असतील तर ते श्रुतिस्मृतींना प्रमाण मानीत नाहींत असें स्पष्टपणें ह्मणणें भाग आहे. तेव्हां कुलानें ब्राह्मण होत नाहीं ही गोष्ट सिद्ध झाली. आणखी असें आहे कीं, जे लोक आपल्याला ब्राह्मण ह्मणून समजत आहेत त्यांच्याबद्दल वास्तविक विचार केला असतां; ते ब्राह्मणाच्या कुलांत उत्पन्न झाल्यामुळें ब्राह्मण झाले आहेत असें नसून; ते विराट्स्वरूपी ब्रह्माच्या मुखापासून उत्पन्न झाले असल्यामुळें ब्राह्मण झाले आहेत. ह्याबद्दल स्मृतींत असें सांगितलें आहे कीं, विराट्स्वरूपी ब्रह्माच्या मुखापासून ब्राह्मण झाले, बाहूपासून क्षत्रिय झाले, मांड्यापासून वैश्य झाले. ह्यावरून कुलानें ब्राह्मण होतात हें ह्मणणें किती चुकीचें आहे तें स्पष्ट समजण्यासारखें आहे.

वर जें विवेचन केलें आहे त्यावरून कुलामुळें ब्राह्मण होत नाहीं हें जसें सिद्ध झालें आहे त्याप्रमाणें योनीमुळें ब्राह्मण होत नाहीं ही गोष्ट देखील त्यावरूनच सिद्ध झाली आहे ह्मणण्यास हरकत नाहीं. कारण ज्याप्रमाणें कुल त्याप्रमाणेंच योनी आहे. त्यांत भेद इतकाच कीं, कुल हें माता आणि पिता ह्या दोहोंच्या बाजूनें पहावयाचें असतें. आणि योनी फक्त मातेकडून जाणावयाची असते. आतां मागील विवेचनावरून मातेच्या संबंधाचेंही निराकरण झालें असतांही जर कोणी-ब्राह्मणस्त्रीपासून उत्पन्न झालेल्या मनुष्याला आह्मी ब्राह्मण ह्मणतों- असें ह्मणेल, तर त्याचें तें ह्मणणें सर्वथाचुकीचें आहे.

ब्राह्मणा ये मुखाज्जाताः पूज्या न प्रभवन्ति ते ॥
शूद्रा एवाधुना जाता योनिजा हि कथं द्विजाः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मप्रभवत्वेऽपि ब्राह्मणीतो जाता ब्राह्मणा भवन्ति तर्हि सा ब्रह्मप्रभवा वा अन्यतो जाता वा? यदि ब्रह्मप्रभवा तर्हि कथं भगिन्या सह ब्राह्मणा मैथुनमाचरन्तीति ॥ अन्यतो जाता वा। ततश्चान्यत्रोत्पन्ना कथमब्राह्मणी ब्राह्मणं जनयेत् ॥ तस्माद्योन्या

कारण, असें सांगितलें आहे कीं, ब्रह्माच्या (विराट् स्वरूपाच्या) मुखापासून जे ब्राह्मण उत्पन्न झाले आहेत ते आतां पूज्य समजूं नयेत. कारण ते आतां शूद्र झालेले आहेत. ब्रम्हाच्या साक्षात् मुखापासून जन्मलेल्या ब्राह्मणांची जर ही स्थिति आहे; तर त्या योनींत उत्पन्न झालेल्यांना ब्राम्हण कसें म्हणतां येईल. ह्याप्रमाणें योनिजब्राह्मणांची निंदा केली असल्यानें योनिजब्राह्मण शास्त्राला संमत नाहींत असें सिद्ध होतें. आतां "ब्राह्मण हे ब्रह्माच्या मुखापासून झालेले आहेत ही गोष्ट जगदुत्पत्तीच्या प्रारंभींची आहे. ह्या वेळीं त्याचा कांहीं उपयोग नाहीं. ह्या काळांत ब्राह्मणस्त्रीपासून जे उत्पन्न झाले आहेत तेच ब्राह्मण होत" असें जर कोणी ह्मणतील; तर त्यांना आमचा असा प्रश्न आहे कीं, ती ब्राह्मणस्त्री ब्रह्मापासून उत्पन्न झाली किंवा दुसऱ्या कोणापासून उत्पन्न झाली? जर ती ब्रम्हापासूनच उत्पन्न झाली असें म्हणाल; तर तिचा पति जो ब्राम्हण तोही ब्रम्हापासून उत्पन्न झाला असल्यानें त्या दोघांचें भाऊ बहिणींचें नातें ठरतें. मग त्या ब्राम्हणानें भगिनीशीं विवाह करून तिचा संभोग करणें हें कसें जुळतें? मुळींच जुळत नाहीं. आतां ती ब्राम्हणस्त्री ब्रम्हापासून उत्पन्न न होतां जर दुसऱ्या कोणापासून उत्पन्न झाली आहे असें म्हणावें, तर मग ती ब्राम्हणी (ब्राम्हणाची कन्या) नव्हे; अन्यजातीची झाली. अशा अन्यजातीच्या स्त्रीपासून ब्राह्मण उत्पन्न होणें

ब्राह्मणा न भवन्ति ॥

शौचाचारेणापि ब्राह्मणा न भवन्ति । कथं श्रुतिवचनप्रामाण्यात् । उक्तं च—

आरम्भे वर्तमानस्य ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥
कुतः शौचं भवेत्तस्य मैथुनाभिरतस्य च ॥ १ ॥

अपरं च—– ये ये शौचाचारवन्तस्ते ते सर्वेऽपि नटभटकैवर्तकशौण्डिकमातङ्गप्रभृतयः पुरुषाः कथं न ब्राह्मणा भवन्ति ॥ तस्मान्न शौचाचारेण ब्राह्मणो भवितुमर्हति ॥

नापि तपसा । यदि तपसा भवेद्विप्रस्तदा भवतु सिद्धसाधनत्वात् ॥ तदुक्तम्—–

तपसा यदि भवेद्विप्रः सिद्धसाधनमिष्यते ॥

शक्य नाहीं. ह्मणून योनीनें ह्मणजे मातृसंबंधानें कोणाला ब्राह्मण ह्मणतां येत नाहीं.

आतां शुद्धाचारानें ब्राह्मण होतो कीं काय? ह्याचा विचार करूं. शुद्धाचार असल्यानेंही ब्राह्मण होत नाहीं. कारण, श्रुत्यादिकांमध्यें असें सांगितलें आहे कीं, "बा धर्मराजा! कृष्यादिकर्म करणारा आणि मैथुनाविषयीं नेहमीं आसक्त असणारा असा जो ब्राह्मण त्याचा शुध्द आचार कसा बरें असावा? असणें शक्य नाहीं." ह्यावरून आचार शुध्द असणेंच मुळीं अशक्य आहे. आतां वादाकरितां कदाचित् शुध्दाचार असणें शक्य आहे असें जर मानलें, तर ज्यांचा ज्यांचा शुध्द आचार असेल त्या सर्वांनाच ब्राह्मण ह्मणावें लागेल. त्यांत एखादा नट, योध्दा, धीवर, कलाल अथवा मांग ह्यांपैकीं कोणी असला तथापि तो देखील ब्राह्मणच मानावा लागेल. परंतु ह्या नटादिकांत शुध्दाचारसंपन्न असे जरी कित्येक असले तथापि त्यांना कोणी ब्राह्मण समजत नाहींत. ह्मणून शुध्दाचारानें ब्राह्मण होणें शक्य नाहीं. ह्मणजे ज्याचा शुध्द आचार आहे तो ब्राह्मण होय असें ह्मणणें योग्य नाहीं.

आतां तपानें ब्राह्मण होतो किंवा काय? ह्या प्रश्नाचा विचार करूं. "जो तपस्वी असेल तो ब्राह्मण होय" असें जर

सर्वमेतत्तपोमूलं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १ ॥

तथा सति जात्या ब्राह्मणो भवतीति नोक्तं शोभेत ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामेव तपो दातव्यम् ॥

ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये तपः पुण्याय जायते ॥

कोणी ह्मणत असेल, तर त्या ह्मणण्यांत कांहीं विरुध्द नाहीं. फक्त सिध्दसाधन हा दोष मात्र येतो. कारण, तपानें (कर्मानें) ब्राह्मणपणा येतो ही गोष्ट आम्हालाही मान्य असल्यानें ती सिध्द आहे ; तिचें पुनः साधन करण्याची जरूर नाहीं. असें असतां " तपानें ब्राम्हण होतो " असें प्रतिवादीनें (वैदिकब्राम्हणांनीं) सांगणें म्हणजे आमच्या (वादीच्या) मतानें सिध्द असलेल्या गोष्टीचें साधन केल्यासारखें होतें. हा दोष आहे. कारण ह्यांत दुसऱ्याला माहीत असलेली गोष्टच सांगितल्यासारखी होते. ह्याबद्दल शास्त्रांत असें सांगितलें आहे कीं, तपानें जर ब्राम्हण होत असेल तर तें आम्हालाही मान्य असल्यानें सिध्दसाधन हा दोष येतो. आम्हाला (जैनाला) तरी मान्य असण्याचें प्रयोजन असें आहे कीं, तप हें कर्म असल्यानें तें ह्या सर्व जगाला कारणीभूत आहे. कारण त्याचें उल्लंघन कोणासच करतां येत नाहीं. तेव्हां तप हेंच जर ब्राम्हणपणा आणणारें असेल तर वर सांगितलेला सिध्दसाधन हा दोष येतो. दुसरें असें कीं, तपानें ब्राम्हण्य येतें असें ब्राम्हणांनीं मानलें असतां " जातीनें ब्राम्हण होतो " हें त्यांचें म्हणणें शोभत नाहीं. वरें, तपानेंच ब्राम्हणपणा येतो असेंच जर ब्राम्हणांना मान्य आहे, तर त्यांच्या शास्त्रांत– ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य ह्या तिघांनांच तप द्यावें. ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य ह्या तिघांना तप दिलें असतां तपोदानापासून आपल्याला पुण्य लागतें. आणि ह्या तीन

अन्यत्र तत्तपो दत्तं पापायेति वचः सताम् ॥ १ ॥

नैतदेवं । सन्तानापेक्षया द्रव्यशुद्धिमात्रस्याङ्गीकरणात ॥ तदुक्तम्——व्यभिचारश्चास्य वचनस्य दृश्यते ॥

राजपुत्रकुलाज्जातो दुःशीलो नरकं गतः ॥
देवा अपि नमस्यन्ते दिवाकीर्ति सुशीलिनम् ॥ १ ॥

जातीवांचून अन्यजातीला तप दिलें असतां त्यापासून पाप उत्पन्न होतें; असें सज्जनांचें सांगणें आहे—असें सांगण्याचें कारण काय? ह्यावरून तपानें ब्राह्मण होतो ही गोष्ट ब्राह्मणांना मान्य नाहीं असें निर्विवाद ठरतें. आतां "तपानें ब्राह्मण होतो" असें ह्मणणें जर ब्राह्मणांनाही मान्य आहे असें आपण घेऊन चाललों तर "ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य ह्या तिघांनाच तप द्यावें" हें त्यांचें ह्मणणें अगदीं मूर्खपणाचें आहे; असें ह्मणावें लागतें. कारण, वास्तविक पाहिलें असतां "तप ज्याला द्यावयाचें तो मनुष्य अमुक जातींतील असला पाहिजे" असें ह्मणण्यापेक्षां "तो अमुक योग्यतेचा असला पाहिजे" हें असें ह्मणणें जास्त सयुक्तिक आहे. कारण, तपाला जाति कारण नसून तप करणाऱ्याच्या अंतःकरणाची शुद्धता ही मुख्य कारण आहे. ह्मणून तप करणारा कोणत्याही जातींतील असला तथापि त्याच्या अंतःकरणाची शुद्धता असली ह्मणजे तो तप देण्याला योग्य होतो. ह्मणून ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य ह्या तिघांनाच तप द्यावें हें ह्मणणें चुकीचें आहे. दुसरें असें कीं, राजपुत्राच्या कुलांत (क्षत्रियकुलांत) उत्पन्न झालेला दुःशील मनुष्य नरकाला प्राप्त होता झाला. आणि सुशील अशा नापिकाला देखील देव वंदन करतात; अशीं उदाहरणें पुराणांत पुष्कळ सांपडतात. ह्मणून तप असक्यालाच द्यावें हें ब्राह्मणांचें ह्मणणें अगदीं चुकीचें आहे. जो सुशील असेल त्यालाच तप दिलें पाहिजे; मग तो

तस्माद्यदि तपसा ब्राह्मणकुलादन्यत्रोत्पन्ना भवन्ति भवन्तु नाम ॥ पुनः कृष्यादिककर्मकारिणो धनपरिग्रहलोलुपा दर्शनज्ञानचारित्रतपसा बहिर्भूता मांसाशिनः खाद्यव्यभिचारशून्या हिंसादिपञ्चमहापातककारिणो देहवस्त्रादिप्रक्षालनपरा रजका इव अथ नाम ब्राह्मणा भवन्ति ॥ ततो न किञ्चिदेतदपि विचारचतुरचेतसां चेतसि चकास्ति ॥ ये लोकमूढास्तेभ्योऽप्यतिपापिनस्ते तान् गुरून् कृत्वा सह दुर्गतिमासाद्यानन्तसंसारिणो भवन्तीति वाचे वीतरागाणाम् ॥

कोणत्याही जातीचा असला तथापि हरकत नाहीं; असें सिद्ध होतें. तेव्हां तपानेंच जर ब्राह्मण होत आहे तर ब्राह्मणकुलावांचून अन्यकुलांतील मनुष्य देखील तपामुळें ब्राह्मण होतो असें असेल तर आमचें कांहीं ह्मणणें नाहीं. परंतु कृषि वगैरे हिंसोत्पादक कर्में करणारे, दुसऱ्यानें दिलेलें द्रव्य घेण्याविषयीं लुब्ध असलेले, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र हें तप न करणारे, यज्ञांत मांस भक्षण करणारे, काय खावें काय न खावें ह्याबद्दल ज्यांच्यांत मुळींच विचार नाहीं असे, हिंसा वगैरे पांच महापातकें करणारे असे असून परटाप्रमाणें देह आणि वस्त्रें ह्यांचीच स्वच्छता ठेवण्यास उद्युक्त असलेले असे जे लोक आहेत त्यांना ब्राह्मण ह्मणणें मात्र योग्य नाहीं ह्मणून तपानें ब्राह्मण होतो हें ब्राह्मणांचें विधान विचार केला असतां मुळींच टिकाऊ नाहीं. ह्या जातिब्राह्मणाबद्दल सर्वज्ञ वीतराग मुनींचा असा उपदेश आहे कीं—शास्त्रांत लोकमूढ जे सांगितले आहेत त्यांच्यापेक्षां हे जातिब्राह्मण अत्यंत पातकी आहेत. ह्याकरितां त्यांना गुरु मानणारे असे जे लोक ह्या जगांत आहेत ते त्यांच्याशीं सहवर्तमान आपण दुर्गतीला प्राप्त होऊन ह्या संसारचक्रांत फिरत आहेत. तात्पर्य तपानें ब्राह्मण होतो हा उच्च विचार ब्राह्मणांना मान्य नाहीं. ह्मणून तपानें ब्राह्मण्य येतें असें त्यांना ह्मणतां येत नाहीं.

नापि संस्कारेण ब्राह्मणो भवति ॥ क्षत्रियाणां वैश्यानां च सीमन्तोपनयनजातकर्मादिसंस्कारविशेषाः क्रियन्त एव। परं न च ते ब्राह्मणाः ॥ वसिष्ठादीनां ब्राह्मणकुलादन्यत्रोत्पन्नानां जातकर्मादिसंस्काररहितानामेव महाब्राह्मणत्वमिति व्रतादिसंस्कारादपि ब्राह्मणा न भवन्ति ॥ तदुक्तम्--

एकवर्णमिदं सर्वं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ॥
क्रियाकर्मविभागेन चातुर्वर्ण्यं विवक्षितम् ॥ १ ॥

आतां संस्कारानें ब्राह्मण होतो कीं काय? ह्याचा विचार करूं. संस्कार ह्मणजे धार्मिक क्रिया. त्या जातकर्म वगैरे नांवांनीं ब्राह्मणांमध्यें प्रसिद्ध आहेत. संस्कारांपैकीं कांहीं गर्भालाच करावयाचे असतात, आणि कांहीं संस्कार मूल जन्माला आल्यानंतर त्याला करावयाचे असतात. ह्या संस्कारांनीं ब्राह्मण होतो ह्मणजे हे संस्कार ज्याचे झाले आहेत तो ब्राह्मण होय; असें जर ह्मणावें तर तसें ह्मणतां येत नाहीं. कारण हे संस्कार ब्राह्मणांचे जसे करतात त्याप्रमाणेंच ते क्षत्रिय आणि वैश्य ह्यांचे देखील करतात. परंतु ज्या जातकर्मादि संस्कारांच्या योगानें जातिब्राह्मणांचीं मुलें ब्राह्मण होतात, त्याच संस्कारांच्या योगानें क्षत्रिय आणि वैश्य ह्यांचीं मुलें मात्र ब्राह्मण होत नाहींत. ह्मणून संस्कारानें ब्राह्मण होतात ह्या ह्मणण्यांत कांहीं तथ्य नाहीं. दुसरें असें कीं, वसिष्ठ वगैरे ऋषि ब्राह्मणकुलाहून अन्यत्र जन्माला आले असल्यानें त्यांचे हे जातकर्मादि संस्कार झालेले नसून देखील त्यांची महाब्राह्मणांत गणना केलेली आहे. ह्मणून संस्कारानें ब्राह्मण होतात हें ह्मणणें चुकीचें आहे. आतां "व्रतादिकांच्या योगानें जो संस्कार होतो त्यामुळें ब्राह्मण होतात" असें जर कोणी ह्मणेल तर तें मुळींच जुळत नाहीं. कारण असें सांगितलें आहे कीं, "वा धर्मराजा! हें सर्व जग प्रथम एकवर्ण होतें. पुढें त्यांच्या त्यांच्या कर्मांचे विभाग करून चार वर्ण (ब्राह्मण,

शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥
ब्राह्मणोऽपि क्रियाभ्रष्टः शूद्रात्प्रत्यन्तरो भवेत् ॥ २ ॥

पञ्चेन्द्रियबलं घोरं यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान् ॥
तस्मै दानं प्रदातव्यमथ नेदं युधिष्टिर ॥ ३ ॥

न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः ॥
व्रतस्थमपि चाण्डालं तमेव ब्राह्मणं विदुः ॥ ४ ॥

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु दारुणम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

कृषिवाणिज्यगोरक्षाराजसेवाचिकित्सितम् ॥
ये विप्राः प्रतिपद्यन्ते न ते कौन्तेय ब्राह्मणाः ॥ ६ ॥

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) केले. ह्मणून शूद्र देखील जर सदाचार-संपन्न आणि सद्गुणी असेल तर तो ब्राह्मण होतो. आणि शूद्राच्या पोराप्रमाणें स्वकर्मभ्रष्ट झालेला असा ब्राह्मण देखील नीच होतो. बाबा! पंचेंद्रियांचा भयंकर जोर जर एखादा शूद्र चालूं देणार नाहीं, तर त्यालासुद्धां दान करावें. जर तसें नसेल तर देऊं नये. राजा! जाति ह्मणून कांहीं एक पदार्थ जगांत मुळींच दृष्टीं पडत नाहीं. सद्गुण हेच मनुष्याचें कल्याण करणारे आहे. ह्मणून व्रत पाळणाऱ्या चांडालालाही ब्राह्मण समजतात. मनुष्य जेव्हां शरीर वाणी आणि मन ह्यांच्या योगानें सर्वप्राण्यांसंबंधानें कोणतेंच पातक करीनासा होतो, त्या वेळीं तो ब्राह्मण होतो. शेतकी, व्यापार उदीम, पशुपालन, राजाची सेवा आणि वैद्य-क्रिया ह्यांपैकीं एखादी गोष्ट देखील जे करतात; ते ब्राह्मण नव्हेत असें समजावें " ह्यावरून नुसत्या व्रतादिकांनीं ब्राह्मण होत नाहीं, असें सिद्ध होतें. असें जर न ह्मटलें तर धर्मशास्त्र अप्रमाण ठरेल. ह्मणून ब्राह्मणांनीं निरुपाय होऊन संस्कारानें किंवा व्रतादिकांनीं ब्राह्मण होत नाहीं असेंच ह्मटलें पाहिजे.

इति संस्कारेणापि ब्राह्मणा न भवन्ति । अन्यथा सर्वमेतद्धर्मशास्त्रप्रणीतमप्रमाणं स्यात् । इति विचार्यमाणं केनापि प्रकारेण ब्राह्मण्यं न प्रमाणतां याति ॥ तस्मादनुक्तत्वसामान्ये (?) (तस्मान्मानुषत्वसामान्ये) यः कश्चिद्द्रव्यशुद्धौ सत्यां दशलाक्षणिकधर्माचारविशुद्धो दयासहितो रत्नत्रयचिन्होपेतः परमात्मज्ञानध्यानपवित्रितान्तःकरणः सर्वज्ञप्रणीतद्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धविशारदो बह्वारम्भपरिग्रहविनिर्मुक्तो देवपूजादिषट्कर्मरतः सदा

ह्याप्रमाणें विचार केला असतां जाति, जीव, कुल, योनी, शुद्धाचार, तप आणि संस्कार ह्यांपैकीं कशाच्या योगानें ब्राह्मण होतो, हें ब्राह्मणांनीं सांगतां येण्यासारखें नाहीं. कारण त्याबद्दल प्रत्येक हेतूवर दूषणें येतात. तीं वर दाखविलीं आहेत.

ह्या वरील सर्व विवेचनावरून ब्राह्मण कशानें ठरवावा हें सांगतां येण्यासारखें नाहीं ही गोष्ट निर्विवाद सिद्ध झाली. ह्यावरून " तर मग जगांत ब्राह्मण म्हणून कांहींच नाहीं " अशी शंका वाचकांस सहज उत्पन्न होणारी आहे. त्याकरितां आम्ही त्यांना असें सांगतों कीं, जगांत ब्राह्मण नाहीं असें नाहीं. ब्राह्मण पुष्कळ आहेत. परंतु वैदिकब्राह्मणांनीं जो एक ब्राह्मणवर्ग ठरविलेला आहे; त्या वर्गाला मात्र ब्राह्मण म्हणतां येत नाहीं. कारण त्या वर्गांत ब्राह्मणाचीं लक्षणें कोणांतच दिसत नाहींत. म्हणून ब्राह्मण कोण? हें आम्ही सांगतों. ह्या मनुष्यसमुदायांत ज्याचें अंतःकरण मूळापासून शुद्ध असल्यानें जो दशलाक्षणिक धर्माच्या आचरणानें पवित्र झाला आहे, ज्याच्या मनांत दया पूर्णपणें वास करीत आहे, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ह्या रत्नत्रयाचें चिन्ह जें यज्ञोपवीत तें जो धारण करीत आहे, परमात्म्याचें ज्ञान आणि ध्यान ह्यांच्या योगानें ज्याचें अंतःकरण पवित्र झालें आहे, सर्वज्ञमुनींनीं सांगितलेल्या दशांग श्रुतस्कंधांत जो अत्यंत प्रवीण झाला आहे, ज्यानें कृष्यादिकर्म आणि परिग्रह ह्यांचा त्याग केलेला आहे; जो देवपूजा, गुरूची सेवा वगैरे षट्कर्में

शान्तात्मा ब्राह्मणो भवति नान्यः कश्चिदिति ॥ इति द्विजवदनचपेटः समाप्तः ॥

॥ नमोऽस्त्वशरीरजीवघनाकारनिरञ्जनसिद्धाराध्याय ॥

करण्यांत निरंतर गढून गेलेला आहे, आणि ज्याचा आत्मा सर्वदा शांत आहे, असा जो असेल तो ब्राह्मण होय. दुसरा कोणीही ब्राह्मण नव्हे; असें समजावें.

समाप्त.



॥ मङ्गलाष्टकम् ॥

श्रीमन्नम्रसुरासुरेन्द्रमकुटप्रद्योतरत्नप्रभा- ।
भास्वत्पादनखेन्दवः प्रवचनाम्भोधीन्दवः स्थायिनः ॥
ये सर्वे जिनसिद्धसूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः ।
स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्चगुरवः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ १ ॥

अर्थ— लक्ष्मीवान् असे नम्र झालेले-देव आणि दैत्य यांचे जे-इंद्र, त्यांच्या किरीटांतील झळकणाऱ्या रत्नांच्या प्रभेनें ज्यांच्या पायांचे नखरूपी चंद्र अधिक तेजस्वी दिसतात आणि जे शास्त्ररूपी समुद्रास भरती आणणारे जणू चंद्रच कीं काय असे, आणि योगीजन ज्यांची स्तुति करितात असे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय आणि साधु हे पंच परमेष्ठी तुझें कल्याण करोत!

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तममलं रत्नत्रयं पावनं ।
मुक्तिश्रीनगराधिनाथजिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः ॥
धर्मः सूक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयाः श्र्यालयाः ।
प्रोक्तास्ते त्रिविधाश्चतुर्विधममी कुर्वन्तु ते मङ्गलम् २

अर्थ— निर्दोष आणि पवित्र ह्मणजे उपकारक असें सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय, मुक्तिरूपी लक्ष्मीच्या नगराचा अधिपति अशा जिनानें सांगितलेला मोक्षदायक असा धर्म, जिनवाणीरूपी सुधा (अमृत), जगांतील सर्व जिनप्रतिमा. आणि पाताल मध्यलोक आणि ऊर्ध्वलोक ह्या ठिकाणचीं चैत्यालयें हीं सर्व तुझें कल्याण करोत!

नाभेयादिजिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः ।
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश ॥
ये विष्णुप्रतिविष्णुलाङ्गलधराः सप्तोत्तरा विंशति- ।
स्त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥

अर्थ -- त्रैलोक्यांत प्रसिध्द झालेले ऋषभनाथ वगैरे जे चोवीस तीर्थङ्कर, ऐश्वर्यसंपन्न असे षट्खंडाधिपति भरत वगैरे बारा चक्रवर्ती, आणि जे नऊ नारायण, नऊ प्रतिनारायण व नऊ बलदेव असे ते तीन्ही कालांत प्रसिध्द असणारे त्रेसष्ट महापुरुष तुझें कल्याण करोत!

देव्योऽष्टौ च जयादिका द्विगुणिता विद्यादिका देवताः ।
श्रीतीर्थङ्करमातृकाश्च जनका यक्षाश्च यक्ष्यस्तथा ॥
द्वात्रिंशत्त्रिदशाधिपास्तिथिसुरा दिक्कन्यकाश्चाष्टधा ।
दिक्पाला दश चेत्यमी सुरगणाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ४

अर्थ— जया वगैरे आठ देवता ; विद्या वगैरे सोळा देवता ; तीर्थंकरांच्या माता, पिते, यक्ष आणि यक्षी ; बत्तीस इंद्र ;

प्रतिपदा वगैरे तिथींचे देव, आठ दिक्कन्या, दहा दिक्पालक आणि समस्त देवगण हे सर्व तुझें कल्याण करोत!

ये सर्वौषधऋद्धयः सुतपसो ऋद्धिं गताः पञ्च ये।
ये चाष्टाङ्गमहानिमित्तकुशलाः येऽष्टौविधाश्चारणाः॥
पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धिऋद्धीश्वराः।
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥५॥

अर्थ— जे सर्वौषधिऋद्धीचे धारक, तसेच जे पांच प्रकारचे उत्तमतपोऋद्धीचे धारक, जे अन्तरिक्ष भौम वगैरे अष्टांग निमित्त जाणण्यांत कुशल, आठ प्रकारचे चारण ऋद्धीचे, व पांच प्रकारचे ज्ञानाचे धारक, मनोबल वचनबल कायबल या तीन बलांनीं युक्त आणि बुद्धिऋद्धीचे धारक आणि ह्मणूनच सर्वांस पूज्य असे सात प्रकारचे गणधर तुझें कल्याण करोत!

कैलासे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे।
चम्पायां वसुपूज्यसज्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम्॥
शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो।
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥६॥

अर्थ— कैलास पर्वतावर ऋषभनाथ तीर्थंकर मुक्तीस गेले, वीर जिनेश्वर पावापुरच्या सरोवरांत मुक्तीस गेले, वासुपूज्य जिनेश्वर चम्पानगरीच्या उद्यानांत मुक्तीस गेले, ऊर्ज्जयंत गिरीवर नेमिनाथ भगवान् मुक्त झाले, आणि बाकीचे वीस तीर्थंकर सम्मेदपर्वतावर मुक्त झाले. त्यामुळें ज्यांचें वैभव प्रसिद्धीस आलें आहे अशा या पांच निर्वाणभूमि तुझें कल्याण करोत!

ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा।
जम्बूशाल्मलिचैत्यशाखिषु तथा वक्षाररूप्याद्रिषु॥
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे।

शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ ७॥

अर्थ— ज्योतिष्कदेव व्यंतरदेव भवनवासी देव यांच्या राहाण्याच्या ठिकाणीं; त्याचप्रमाणें मेरुपर्वत, सप्तकुलपर्वत, जंबूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, चैत्यवृक्ष, वक्षारपर्वत, रूप्यपर्वत, इष्वाकारपर्वत, कुण्डलपर्वत, नंदीश्वर द्वीप आणि मानुषोत्तरपर्वत या ठिकाणीं जीं जिनमंदिरें आहेत; तीं तुझें कल्याण करोत!

यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो ।
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक् ॥
यः कैवल्यपुरप्रवेशमहिमासम्भाविनः स्वर्गिभिः ।
कल्याणानि च तानि पञ्च सततं कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ८

अर्थ— भगवान जिनेश्वर मातेच्या गर्भांत अवतार करितात त्यावेळीं होणारा उत्सव, जन्माभिषेकाचा उत्सव, दीक्षाकल्याणाच्या वेळीं होणारा उत्सव, केवलज्ञानाचा उत्सव आणि जिनेश्वर निर्वाणाप्रत पोंचतात त्यावेळीं सर्व देवांनीं मिळून केलेला उत्सव, हीं पांच कल्याणें तुला निरंतर मंगल करोत!

आकाशं मूर्त्यभावादघकुलदहनादग्निरुर्वी क्षमाप्त्या । नैःसंग्याद्वायुरापः प्रगुणसमतया स्वात्मनिष्ठैः सुयज्वा ॥ सोमः सौम्यत्वयोगाद्रविरिति च विदुस्तेजसां सन्निधाना- । द्विश्वात्मा विश्वचक्षुर्वितरतु भवतां मङ्गलं श्रीजिनेशः ॥ ९ ॥

अर्थ— ज्याला मूर्ति नाहीं, ह्मणून आकाशस्वरूप झालेला; ज्यानें पातकांच्या राशी जाळून टाकिल्या, ह्मणून अग्निस्वरूप झालेला; सहनशीलतेमुळें, पृथ्वीरूप झालेला; यत्किञ्चितूही परिग्रह नसल्यामुळें वायुस्वरूप झालेला; बलवती समतेमुळें (जोरकस अशा समभावामुळें) जलस्वरूप झालेला; आत्मध्यानांत रत

झालेल्यांकडून उत्तमप्रकारें पूजिला गेलेला; शांतस्वभावामुळें, चंद्रस्वरूप झालेला; तेजस्वितेमुळें, सूर्यस्वरूप झालेला याप्रमाणें विश्वस्वरूप ह्मणजे समस्त जग ज्याचें स्वरूप झालें आहे अर्थात् सर्व जगांत व्यापिलेला आणि जगास पहाणारा असा श्रीजिनेश तुमचें कल्याण करो!

यः कर्ता जगतां यमेकपुरुषं भव्याः समाश्रीयते ।
येनादेशि हिताहितं मुनिजना यस्मै नमस्कुर्वते ॥
यस्माद्वेदपरम्परा समुदिता श्रीर्यस्य नित्यास्पदा ।
यस्मिन्नेव जगत् स्थितं स जिनपो निःश्रेयसायास्तु वः १०

अर्थ— जो या संपूर्ण भूत्रयाचा कर्ता आहे, ज्या एकाच (मुख्य) पुरुषाचा भव्यजीव आश्रय करितात, ज्यानें "हित कोणतें अहित कोणतें" हें सांगितलें, आणि ह्मणूनच मुनिजन ज्याला नमस्कार करितात, ज्याच्यापासून शास्त्र उत्पन्न झालें आहे, ज्याची लक्ष्मी अक्षय आहे, आणि सगळें जग ज्याच्याच ठिकाणीं वास करीत आहे असा तो श्रीजिनेंद्र तुमच्या कल्याणास कारण होवो.

इत्थं श्रीजिनमङ्गलाष्टकमिदं सौभाग्यसम्पत्प्रदं ।
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः ॥
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता ।
लक्ष्मीराश्रयते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि ११ ॥

अर्थ— याप्रमाणें हें श्रीजिनाचें मंगलाष्टक सौभाग्य आणि संपत्ति देणारें आहे. जे कोणी भव्यजीव मंगलसमयीं, तीर्थकरांच्या उत्सवाच्या प्रसंगीं आणि नित्य प्रभाकातळीं श्रवण करितात किंवा पठण करितात; त्या सुजनांस धर्म अर्थ कामरूप लक्ष्मी प्राप्त होते आणि शेवटीं शाश्वत अशी निर्वाण लक्ष्मीहि प्राप्त होते.

समाप्त.